संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ६

श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतिविरचिता

न्यायदीपिका

अनुवादक एवं सम्पादक

पं० डॉ० दरबारीलाल कोठिया

(न्यायाचार्य)

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

न्यायदीपिका

कृतिकार	:	श्रीमदभिनव धर्मभूषणयति
अनुवादक एवं		
सम्पादक	:	पं० डॉ० दरबारीलाल कोठिया, (न्यायाचार्य)
संस्करण	:	२८ जून, २०१७
		(आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति	:	२५४३) ११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर-एफ , इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा

भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य

का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं

श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्व में भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् एवं जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी से प्रकाशित हुआ था, परन्तु मूल ग्रन्थ तथा हिन्दी अनुवाद दो खण्डों में था। बहुत परिश्रम के साथ मूल ग्रन्थ, टिप्पण एवं हिन्दी अनुवाद को एक पृष्ठ में ही सैट किया गया है, जिससे पाठक ग्रन्थ को आसानी से समझ सकें। ग्रन्थ में बृहत्काय प्रस्तावना भी यथावत् रखी गयी है। पूर्व प्रकाशक, सम्पादक, अनुवादक सभी के प्रति हृदय के अंतस्थल से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अभिनव धर्मभूषण यति कृत न्यायदीपिका न्याय शास्त्र का महनीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पं० डा० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य ने किया है। यह ग्रन्थ भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद से पूर्व में प्रकाशित है। ग्रन्थ की उपयोगिता को देखते हुए तथा पाठकों को सहज उपलब्ध कराने के लिए इसका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है। एतदर्थ पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

सम्पादकीय

सम्पादन का विचार और प्रवृत्ति

सन् १९३७ की बात है। मैं उस समय वीरविद्यालय पपौरा, टीकमगढ़ (म० प्र०) में अध्यापनकार्य में प्रवृत्त हुआ था। वहाँ मुझे न्यायदीपिका को अपनी दृष्टि से पढ़ाने का प्रथम अवसर मिला। जो छात्र उसे पढ़ चुके थे उन्होंने भी पुनः पढ़ी। यद्यपि मैं न्यायदीपिका की सरलता, विशदता आदि विशेषताओं से पहले से ही प्रभावित एवं आकृष्ट था। इसी से मैंने एक बार उसके एक प्रधान विषय 'असाधारणधर्मवचन' लक्षण पर 'लक्षण का लक्षण' शीर्षक के साथ 'जैनदर्शन' में लेख लिखा था। पर पपौरा में उसका सूक्ष्मता से पठन-पाठन का विशेष अवसर मिलने से मेरी इच्छा उसे शुद्ध और छात्रोपयोगी बनाने की ओर भी बढ़ी। पढ़ाते समय ऐसी सुन्दर कृति में अशुद्धियाँ बहुत खटकती थीं। मैंने उस समय उन्हें यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न किया। साथ में अपने विद्यार्थियों के लिए न्यायदीपिका की एक 'प्रश्नोत्तरावली' भी तैयार की।

जब मैं सन् १९४० के जुलाई में वहाँ से ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुरा में आया और वहाँ दो वर्ष रहा, उस समय भी मेरी न्यायदीपिका-विषयक प्रवृत्ति कुछ चलती रही। यहाँ मुझे आश्रम के सरस्वती भवन में एक लिखित प्रति भी मिल गई जो मेरी प्रवृत्ति में सहायक हुई। मैंने सोचा कि न्यायदीपिका का संशोधन तो अपेक्षित है ही, साथ में तर्कसंग्रह पर न्यायबोधिनी या तर्कदीपिका जैसी व्याख्या संस्कृत का टिप्पण और हिन्दी अनुवाद भी कई दृष्टियों से अपेक्षित है। इस विचार के अनुसार उसका संस्कृत-टिप्पण और अनुवाद लिखना आरम्भ किया और कुछ लिखा भी गया। किन्तु संशोधन में सहायक अनेक प्रतियों का होना आदि साधनाभाव से वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका और अरसे तक बन्द पड़ा रहा।

इधर जब मैं सन् १९४३ के अप्रैल में वीरसेवा मन्दिर में आया तो

दूसरे साहित्यिक कार्यों में प्रवृत्त रहने से एक वर्ष तक तो उसमें कुछ भी योग नहीं दे पाया। इसके बाद उसे पुनः प्रारम्भ किया और संस्था के कार्य से बचे समय में उसे बढ़ाता गया। मान्यवर मुख्तार साहब ने इसे मालूम करके प्रसन्नता प्रकट करते हुए उसे वीर सेवा मन्दिर ग्रन्थमाला से प्रकाशित कराने का विचार प्रदर्शित किया। मैंने उन्हें अपनी सहमति दे दी और तब से (लगभग ८-९ माह से) अधिकांशतः इसी में अपना पूरा योग दिया। कई रात्रियों के तो एक-एक दो-दो भी बज गये। इस तरह जिस महत्त्वपूर्ण एवं सुन्दर कृति के प्रति मेरा आरम्भ से सहज अनुराग और आकर्षण रहा है उसे उसके अनुरूप में प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।

संशोधन की कठिनाइयाँ

साहित्यिक एवं ग्रन्थ सम्पादक जानते हैं कि मुद्रित और अमुद्रित दोनों ही तरह की प्रतियों में कैसी और कितनी अशुद्धियाँ रहती हैं और उनके संशोधन में उन्हें कितना श्रम और शक्ति लगानी पड़ती है। कितने ही ऐसे स्थल आते हैं जहाँ पाठ त्रुटित रहते हैं और जिनके मिलाने में दिमाग थककर हैरान हो जाता है। इसी बात का कुछ अनुभव मुझे भी प्रस्तुत न्यायदीपिका के सम्पादन में हुआ है। यद्यपि न्यायदीपिका के अनेक संस्करण हो चुके और एक लम्बे अरसे से उसका पठन-पाठन है पर उसमें जो त्रुटित पाठ और अशुद्धियाँ चली आ रही हैं, उनका सुधार नहीं हो सका। यहाँ मैं सिर्फ कुछ त्रुटित पाठों को बता देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को मेरा कथन असत्य प्रतीत नहीं होगा–

मुद्रित प्रतियों के छूटे हुए पाठ

पृष्ठ ५४ पंक्ति २ ''सर्वतो वैशद्यात्पारमार्थिकं प्रत्यक्षं'' (का. प्र.)

पृष्ठ ८५ पंक्ति ९ ''अग्न्यभावे च धूमानुलम्भे'' (सभी प्रतियों में)

पृष्ठ ८७ पंक्ति २ ''सर्वोपसंहारवतीमपि'' (सभी प्रतियों में)

पृष्ठ ९५ पंक्ति १ ''अनभिप्रेतस्य साध्यत्वेऽतिप्रसङ्गात्'' (सभी प्रतियों में)

पृष्ठ १४८ पंक्ति २ ''अदृष्टान्तवचनं तु'' (सभी प्रतियों में)

अमुद्रित प्रतियों के छूटे हुए पाठ

आरा प्र. प. १४ ''अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वं। तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम्।''

प. प्रति प. ६ ''सहकृताञ्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानं। मनःपर्ययज्ञानावरणवीर्यान्तराय-क्षयोपशमः॥''

स्थूल एवं सूक्ष्म अशुद्धियाँ तो बहुत हैं जो दूसरे संस्करणों को प्रस्तुत संस्करण के साथ मिलाकर पढ़ने से ज्ञात हो सकती हैं। हमने इन अशुद्धियों को दूर करने तथा छूटे हुए पाठों को दूसरी ज्यादा शुद्ध प्रतियों के आधार से संयोजित करने का यथासाध्य पूरा यत्न किया है। फिर भी सम्भव है कि दृष्टिदोष या प्रमादजन्य कुछ अशुद्धियाँ अभी भी रही हों।

संशोधन में उपयुक्त प्रतियों का परिचय प्रस्तुत

संस्करण में हमने जिन मुद्रित और अमुद्रित प्रतियों का उपयोग किया है उनका यहाँ क्रमशः परिचय दिया जाता है –

प्रथम संस्करण—आज से कोई ४६ वर्ष पूर्व १८९९ में कलापा भरमापा निटवे ने मुद्रित कराया था। यह संस्करण अब प्रायः अलभ्य है। इसकी एक प्रति मुख्तार साहब के पुस्तक भण्डार में सुरक्षित है। दूसरे मुद्रितों की अपेक्षा यह शुद्ध है।

द्वितीय संस्करण—वीर निर्वाण सम्वत् २४३९ में पण्डित खूबचन्दजी शास्त्री द्वारा सम्पादित और उनकी हिन्दी टीका सहित जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय द्वारा बम्बई में प्रकट हुआ है। इसके मूल और टीका दोनों में स्खलन है।

तृतीय संस्करण—वीर निर्वाण सम्वत् २४४१, ईस्वी सन् १९५५ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था काशी की सनातनी जैन ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशित हुआ है। इसमें भी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं।

चतुर्थ संस्करण—वीर निर्वाण सम्वत् २४६४, ईस्वी सन् १९३८

में श्री कंकुबाई पाठ्य-पुस्तकमाला कारंजा की ओर से मुद्रित हुआ। इसमें अशुद्धियाँ कुछ ज्यादा पाई जाती हैं।

यही चार संस्करण अब तक मुद्रित हुए हैं। इनकी मुद्रितार्थ मु संज्ञा रखी है। शेष अमुद्रित-हस्तलिखित प्रतियों का परिचय इस प्रकार है-

द-यह देहली के नये मन्दिर की प्रति है। इसमें २३ पत्र हैं और प्रत्येक पत्र में प्रायः २६-२६ पंक्ति हैं। उपयुक्त प्रतियों में सबसे अधिक प्राचीन और शुद्ध प्रति यही है। यह विक्रम सम्वत् १७४६ के आश्विनमास के कृष्ण पक्ष की नवमी तिथि में पण्डित जीतसागर के द्वारा लिखी गई है। इस प्रति में वह अन्तिम श्लोक भी है जो आरा प्रति के अलावा दूसरी प्रतियों में नहीं पाया जाता है। ग्रन्थ की श्लोक संख्या सूचक ग्रन्थ संख्या १००० यह शब्द भी लिखे हैं। इस प्रति की हमने देहली अर्थसूचक 'द' संज्ञा रखी है। यह प्रति हमें बाबू पन्नालालजी अग्रवाल की कृपा से प्राप्त हुई।

आ-यह आरा के जैन सिद्धान्त भवन की प्रति है जो वहाँ नम्बर २२/२ पर दर्ज है। इसमें २७॥ पत्र हैं। प्रति में लेखनादि का काल नहीं है। 'मद्‌गुरो' इत्यादि।

अन्तिम श्लोक भी इस प्रति में मौजूद है। पृष्ठ १ और पृष्ठ २ पर कुछ टिप्पण के वाक्य भी दिये हुए हैं। यह प्रति मित्रवर पण्डित नेमीचन्द्रजी शास्त्री ज्योतिषाचार्य द्वारा प्राप्त हुई। इसकी आरा अर्थसूचक 'आ' संज्ञा रखी है।

म-यह मथुरा के ऋषभब्रह्मचर्याश्रम चौरासी की प्रति है। इसमें १३॥ पत्र हैं। विक्रम सम्वत् १९५२ में जयपुर निवासी मुन्नालाल अग्रवाल के द्वारा लिखी गई है। इसमें प्रारम्भ के दो-तीन पत्रों पर कुछ टिप्पण भी हैं। आगे नहीं हैं। यह प्रति मेरे मित्र पण्डित राजधरलालजी व्याकरणाचार्य द्वारा प्राप्त हुई। इस प्रति का नाम मथुराबोधक 'म' रखा है।

प-यह पण्डित परमानन्दजी की प्रति है, जो १६॥ पत्रों में समाप्त

है। विक्रम सम्वत् १९५७ में सीताराम शास्त्री की लिखी हुई है। इसकी 'प' संज्ञा रखी है।

ये चारों प्रतियाँ प्राय: पुष्ट कागज पर हैं और अच्छी दशा में हैं।

प्रस्तुत संस्करण की आवश्यकता और विशेषताएँ

पहले संस्करण अधिकांश स्खलित और अशुद्ध थे तथा न्यायदीपिका की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। बंगाल संस्कृत एसोसिएशन कलकत्ता की जैन न्याय प्रथमा परीक्षा में वह बहुत समय से निहित है। इधर माणिकचन्द परीक्षालय और महासभा के परीक्षालय में भी विशारदपरीक्षा में सन्निविष्ट है। ऐसी हालत में न्यायदीपिका जैसी सुन्दर रचना के अनुरूप उसका शुद्ध एवं सर्वोपयोगी संस्करण निकालने की अतीव आवश्यकता थी। उसी की पूर्ति का यह प्रस्तुत प्रयत्न है। मैं नहीं कह सकता कि कहाँ तक इसमें सफल हुआ हूँ फिर भी मुझे इतना विश्वास है कि इससे अनेकों को लाभ पहुँचेगा और जैन पाठशालाओं के अध्यापकों के लिए बड़ी सहायक होगी, क्योंकि इसमें कई विशेषताएँ हैं।

पहली विशेषता तो यह है कि मूलग्रन्थ को शुद्ध किया गया है। प्राप्त सभी प्रतियों के आधार से अशुद्धियों को दूर करके सबसे अधिक शुद्ध पाठ को मूल में रखा है और दूसरी प्रतियों के पाठान्तरों को नीचे द्वितीय फुटनोट में जहाँ आवश्यक मालूम हुआ, दे दिया है जिससे पाठकों को शुद्धि-अशुद्धि ज्ञात हो सके। देहली की प्रति को हमने सबसे ज्यादा प्रमाणभूत और शुद्ध समझा है, इसलिए उसे आदर्श मानकर मुख्यतया उसके ही पाठों को प्रथम स्थान दिया है। इसलिए मूलग्रन्थ को अधिक से अधिक शुद्ध बनाने का यथेष्ट प्रयत्न किया गया है। अवतरण-वाक्यों के स्थान को भी ढूँढ़कर ( ) ऐसा ब्रैकेट दे दिया है अथवा खाली छोड़ दिया है।

दूसरी विशेषता यह है कि न्यायदीपिका के कठिन स्थलों का खुलासा करने वाले "विवरणात्मक एवं संकलनात्मक प्रकाशाख्य" संस्कृत-टिप्पण के साथ में योजना की गई है जो विद्वानों और छात्रों के

लिए खास उपयोगी सिद्ध होगा।

तीसरी विशेषता अनुवाद की है। अनुवाद को मूलानुगामी और सुन्दर बनाने की पूरी चेष्टा की है। इससे न्यायदीपिका के विषय को हिन्दीभाषा-भाषी भी समझ सकेंगे और उससे यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे।

चौथी विशेषता परिशिष्टों की है जो तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए और सर्व के लिए उपयोगी है। सब कुल परिशिष्ट ८ हैं जिनमें न्यायदीपिकागत अवतरण-वाक्यों, ग्रन्थों और ग्रन्थकारों आदि का संकलन किया गया है।

पाँचवीं विशेषता प्रस्तावना की है जो इस संस्करण की महत्त्वपूर्ण और सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। इसमें ग्रन्थ के २२ विषयों का तुलनात्मक एवं विकास क्रम से विवेचन करने तथा फुटनोटों में ग्रन्थान्तरों के प्रमाणों को देने के साथ ग्रन्थ में उल्लिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों तथा अभिनव धर्मभूषण का ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक परिचय विस्तृत रूप से कराया गया है; जो सभी के लिए विशेष उपयोगी है। प्राक्कथन आदि की भी इसमें सुन्दर योजना हो गई है। इस तरह यह संस्करण कई विशेषताओं से पूर्ण हुआ है।

आभार

अन्त में मुझे अपने विशिष्ट कर्त्तव्य का पालन करना और शेष है। वह है आभार-प्रकाशन का। मुझे इसमें जिन महानुभावों से कुछ भी सहायता मिली है, मैं कृतज्ञतापूर्वक उन सबका नामोल्लेख सहित आभार प्रकट करता हूँ–

गुरुवर्य्य श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने मेरे पत्रादि का उत्तर देकर पाठान्तर लेने आदि के विषय में अपना मूल्यवान् परामर्श दिया। गुरुवर्य्य और सहाध्यायी माननीय पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने प्रश्नों का उत्तर देकर मुझे अनुगृहीत किया। गुरुवर्य्य श्रद्धेय पण्डित सुखलालजी प्रज्ञानयन का मैं पहले से ही अनुगृहीत था और अब उनकी सम्पादन दिशा तथा विचारणा से मैंने बहुत लाभ लिया। माननीय

पण्डित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ने संस्कृत-टिप्पण को सुनकर आवश्यक सुझाव देने तथा मेरी प्रार्थना एवं लगातार प्रेरणा से प्राक्कथन लिख देने की कृपा की और जिन अनेकान्तादि विषयों पर मैं प्रकाश डालने से रह गया था उन पर आपने संक्षेप में प्रकाश डालकर मुझे सहायता पहुँचाई है। मान्यवर मुख्तार साहब की धीर प्रेरणा और सत्परामर्श तो मुझे मिलते ही रहे। प्रियमित्र पण्डित अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्य ने भी मुझे सुझाव दिये। सहयोगी मित्र पण्डित परमानन्दजी शास्त्री ने अभिनवों और धर्मभूषणों का संकलन करके मुझे दिया। बा. पन्नालालजी अग्रवाल ने हिन्दी की विषय-सूची बनाने में सहायता की। बा. मोतीलालजी और लाला जुगलकिशोरजी ने 'मिडियावल जैनिज्म' के अंग्रेजी लेख का हिन्दीभाव समझाया। उपान्त में अपनी पत्नी सौ. चमेलीदेवी का भी नामोल्लेख कर देना उचित समझता हूँ जिसने आरम्भ में ही परिशिष्टादि तैयार करके मुझे सहायता की। मैं इन सभी सहायकों तथा पूर्वोल्लिखित प्रतिदाताओं का आभार मानता हूँ। यदि इनकी मूल्यवान् सहायताएँ न मिली होती तो प्रस्तुत संस्करणों में जो विशेषताएँ आई हैं वे शायद ना आ पातीं। भविष्य में भी उनसे इसी प्रकार की सहायता देते रहने की आशा करता हूँ।

अन्त में जिन अपने सहायकों का नाम भूल रहा हूँ उनका और जिन ग्रन्थकारों, सम्पादकों, लेखकों आदि के ग्रन्थों आदि से सहायता ली गई है, उनका भी आभार प्रकाशित करता हूँ। इति शुभम्।

ता. ०६.०४.१९४५ — सम्पादक

वीरसेवा मन्दिर, सरसावा — **दरबारीलाल जैन, कोठिया**

न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, जैनदर्शनशास्त्री

प्राक्कथन

व्याकरण के अनुसार दर्शन शब्द ''दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्'' अथवा ''दृश्यते निर्णीयत इदं वस्तुतत्त्वमिति दर्शनम्'' इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर दृश् धातु से निष्पन्न होता है। पहली व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द तर्क-वितर्क, मन्थन या परीक्षास्वरूप उस विचारधारा का नाम है जो तत्त्वों के निर्णय में प्रयोजक हुआ करती है। दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर दर्शन शब्द का अर्थ उल्लिखित विचारधारा के द्वारा निर्णीत तत्त्वों की स्वीकारता होती है। इस प्रकार दर्शन शब्द दार्शनिक जगत् में इन दोनों प्रकार के अर्थों में व्यवहृत हुआ है अर्थात् भिन्न-भिन्न मतों की जो तत्त्वसम्बन्धी मान्यतायें हैं, उनकी और जिन तार्किक मुद्दों के आधार पर उन मान्यताओं का समर्थन होता है उन तार्किक मुद्दों को दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

सबसे पहले दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है भारतीय दर्शन और अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन। जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्ष में हुआ है वे भारतीय और जिनका प्रादुर्भाव भारतवर्ष के बाहर पाश्चात्य देशों में हुआ है, वे अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन माने गये हैं। भारतीय दर्शन भी दो भागों में विभक्त हो जाते हैं-वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक परम्परा के अन्दर जिनका प्रादुर्भाव हुआ है तथा जो वेद परम्परा के पोषक दर्शन हैं वे वैदिक दर्शन माने जाते हैं और वैदिक परम्परा से भिन्न जिनकी स्वतन्त्र परम्परा है तथा जो वैदिक परम्परा के विरोधी दर्शन हैं उनका समावेश अवैदिक दर्शनों में होता है। इस सामान्य नियम के आधार पर वैदिक दर्शनों में मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन आते हैं और जैन, बौद्ध तथा चार्वाकदर्शन, अवैदिक दर्शन ठहरते हैं।

वैदिक और अवैदिक दर्शनों को दार्शनिक मध्यकालीन युग में क्रम से आस्तिक और नास्तिक नामों से भी पुकारा जाने लगा था, परन्तु मालूम

पड़ता है कि इनका यह नामकरण सांप्रदायिक व्यामोह के कारण वेद परम्परा के समर्थन और विरोध के आधार पर प्रशंसा और निन्दा के रूप में किया गया है। कारण, यदि प्राणियों के जन्मान्तर रूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्ति के न मानने रूप अर्थ में नास्तिक शब्द का प्रयोग किया जाये तो जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक दर्शनों की कोटि से निकल कर आस्तिक दर्शनों की कोटि में आ जायेंगे क्योंकि ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्ति की मान्यता को स्वीकार करते हैं और यदि जगत् का कर्ता अनादिनिधन ईश्वर को न मानने रूप अर्थ में नास्तिक शब्द का प्रयोग किया जाये तो सांख्य और मीमांसक दर्शनों की भी आस्तिक दर्शनों की कोटि से निकाल कर नास्तिक दर्शनों की कोटि में पटक देना पड़ेगा; क्योंकि ये दोनों दर्शन अनादिनिधन ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने से इन्कार करते हैं। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्यादि वाक्य भी हमें यह बतलाते हैं कि वेद परम्परा को न मानने वाली या उसका विरोध करने वालों के बारे में ही नास्तिक शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायों में अपनी परम्परा के मानने वालों को आस्तिक और अपने से भिन्न दूसरे सम्प्रदाय की परम्परा के मानने वालों को नास्तिक कहा गया है। जैन सम्प्रदाय में जैन परम्परा के मानने वालों को सम्यग्दृष्टि और जैनेतर परम्परा के मानने वालों को मिथ्यादृष्टि कहने का रिवाज प्रचलित है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनों का जो आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के रूप में विभाग किया जाता है वह निरर्थक एवं अनुचित है।

उल्लिखित सभी भारतीय दर्शनों में से एक दो दर्शनों को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों का साहित्य काफी विशालता को लिए हुए पाया जाता है। जैन दर्शन साहित्य भी काफी विशाल और महान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों दर्शनकारों ने समानरूप से जैनदर्शन के साहित्य की समृद्धि में काफी हाथ बढ़ाया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में परस्पर जो मतभेद पाया जाता है वह दार्शनिक नहीं, आगमिक है।

इसलिए इन दोनों के दर्शन साहित्य की समृद्धि के धारावाहिक प्रयास में कोई अन्तर नहीं आया है।

दर्शनशास्त्र का मुख्य उद्देश्य वस्तु-स्वरूप व्यवस्थापन ही माना गया है। जैनदर्शन में वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) निर्णीत किया गया है। इसलिए जैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त अनेकान्तवाद (अनेकान्त की मान्यता) है। अनेकान्त का अर्थ है–परस्पर विरोधी दो तत्त्वों का एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनों में वस्तु को सिर्फ सत् या असत्, सिर्फ सामान्य या विशेष, सिर्फ नित्य या अनित्य, सिर्फ एक या अनेक और सिर्फ भिन्न या अभिन्न स्वीकार किया गया है वहाँ जैन दर्शन में वस्तु को सत्-असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शन की यह सत-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्नरूप वस्तुविषयक मान्यता परस्पर विरोधी दो तत्त्वों का एकत्र समन्वय को सूचित करती है।

वस्तु की इस अनेक धर्मात्मकता के निर्णय में साधक प्रमाण होता है। इसलिए दूसरे दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी प्रमाण-मान्यता को स्थान दिया गया है। लेकिन दूसरे दर्शनों में जहाँ कारकसाकल्यादि को प्रमाण माना गया है वहाँ जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान (अपने और अपूर्व अर्थ के निर्णायक ज्ञान) को ही प्रमाण माना गया है क्योंकि ज्ञप्ति-क्रिया के प्रति जो करण हो उसी का जैनदर्शन में प्रमाण नाम से उल्लेख किया गया है। ज्ञप्ति क्रिया के प्रति करण उक्त प्रकार का ज्ञान ही हो सकता है, कारकसाकल्यादि नहीं। कारण कि क्रिया के प्रति अत्यन्त अर्थात् अव्यवहितरूप से साधक कारण को ही व्याकरण शास्त्र में करण संज्ञा दी गयी है[१] और अव्यवहितरूप में ज्ञप्तिक्रिया का साधक उक्त प्रकार का ज्ञान ही है। कारकसाकल्यादि ज्ञप्तिक्रिया के साधक होते हुए भी उसके अव्यवहितरूप से साधक नहीं है इसलिए उन्हें प्रमाण कहना अनुचित है।

---

१. 'साधकतम् करणम्।'- जैनेन्द्रव्याकरण १/२/११३

प्रमाण-मान्यता को स्थान देने वाले दर्शनों में कोई दर्शन सिर्फ प्रत्यक्ष प्रमाण को, कोई प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को, कोई प्रत्यक्ष अनुमान, आगम और उपमान चार प्रमाणों को, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति पाँच प्रमाणों को और कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को मानते हैं। कोई दर्शन एक सम्भव नाम के प्रमाण को भी अपनी प्रमाण मान्यता में स्थान देते हैं। परन्तु जैनदर्शन में प्रमाण की इन भिन्न-भिन्न संख्याओं को यथायोग्य निरर्थक, पुनरुक्त और अपूर्ण बतलाते हुए मूल में प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद प्रमाण के स्वीकार किये गये हैं। प्रत्यक्ष के अतीन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ये दो भेद मानकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का समावेश किया गया है तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों और मन का साहाय्य होने के कारण स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चक्षुइन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कर्णेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष ये छह भेद स्वीकार किये गये हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को जैनदर्शन में देशप्रत्यक्ष संज्ञा दी गई है। कारण कि इन दोनों ज्ञानों का विषय सीमित माना गया है और केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष नाम दिया गया है क्योंकि इसका विषय असीमित माना गया है अर्थात् जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने त्रिकालवर्ती विवर्तों सहित इसकी विषय कोटि में एक साथ समा जाते हैं। सर्वज्ञ में केवलज्ञान नामक इसी सकलप्रत्यक्ष का सद्भाव स्वीकार किया गया है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को परमार्थ-प्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

इसका सबब यह है कि सभी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान यद्यपि आत्मोत्थ हैं क्योंकि ज्ञान को आत्मा का स्वभाव वा गुण माना गया है। परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियों की सहायता के बिना ही स्वतन्त्ररूप से आत्मा में उद्भूत हुआ करते हैं इसलिए इन्हें परमार्थ संज्ञा दी गई है और

इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष आत्मोत्थ होते हुए भी उत्पत्ति में इन्द्रियाधीन हैं इसलिए वास्तव में इन्हें प्रत्यक्ष कहना अनुचित ही है। अत: लोकव्यवहार की दृष्टि से ही इनको प्रत्यक्ष कहा जाता है। वास्तव में तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों को भी परोक्ष ही कहना उचित है फिर जब कि ये प्रत्यक्ष पराधीन है तो इन्हें परोक्ष प्रमाणों में ही अन्तर्भूत क्यों नहीं किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का इन्द्रियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान हो उस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया गया है और जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का इन्द्रियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान न हो परम्परया सम्बन्ध कायम होता हो उस ज्ञान को परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत किया गया है। उक्त छहों इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों (सांव्यवहारिक प्रत्यक्षों) में प्रत्येक की अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार अवस्थाएँ स्वीकार की गयी है। अवग्रह, ज्ञान की उस दुर्बल अवस्था का नाम है जो अनन्तर काल में निमित्त मिलने पर विरुद्ध नानाकोटि विषयक संशय का रूप धारण कर लेती है और जिसमें एक अवग्रह ज्ञान की विषयभूत कोटि भी शामिल रहती है। संशय के बाद अवग्रह ज्ञान की विषयभूत कोटि विषयक अनिर्णीत भावनारूप ज्ञान का नाम ईहा माना गया है और ईहा के बाद अवग्रह ज्ञान की विषयभूत कोटि विषयक निर्णीत ज्ञान का नाम अवाय है। यही ज्ञान यदि कालान्तर में होनेवाली स्मृति का कारण बन जाता है तो इसे धारणा नाम दे दिया जाता है। जैसे कहीं जाते हुए हमारा दूर स्थित पुरुष को सामने पाकर उसके बारे में ''यह पुरुष है'' इस प्रकार का ज्ञान अवग्रह है। इस ज्ञान की दुर्बलता इसी से जानी जा सकती है कि यही ज्ञान अनन्तर काल में निमित्त मिल जाने पर ''वह पुरुष है या ठूठ'' इस प्रकार के संशय का रूप धारण कर लिया करता है। यह संशय अपने अनन्तर काल में निमित्त विशेष के आधार पर ''मालूम पड़ता है कि यह पुरुष ही है'' अथवा ''उसे पुरुष ही होना चाहिए'' इत्यादि प्रकार से ईहा ज्ञान का रूप धारण कर लिया करता है और यह ईहा ज्ञान ही अपने अनन्तर समय में निमित्त विशेष के बल पर ''वह पुरुष ही

है।'' इस प्रकार के अवायज्ञानरूप परिणत हो जाया करता है। यही ज्ञान नष्ट होने से पहले कालान्तर में होने वाली ''अमुक समय स्थान पर मैंने पुरुष को देखा था इस प्रकार की स्मृति में कारणभूत जो अपना संस्कार मस्तिष्क पर छोड़ जाता है, उसी का नाम धारणा ज्ञान जैनदर्शन में माना गया है। इस प्रकार एक ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न निमित्तों के आधार पर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार रूपों को धारण कर लिया करता है और ये चार रूप प्रत्येक इन्द्रिय और मन से होने वाले प्रत्यक्षज्ञान में सम्भव हुआ करते हैं। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्पष्टीकरण इसी ढंग से किया गया है।

जैनदर्शन में परोक्षप्रमाण के पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमें से धारणामूलक स्वतन्त्र ज्ञान विशेष का नाम स्मृति है। स्मृति और प्रत्यक्षमूलक वर्तमान और भूत पदार्थों के एकत्व अथवा सादृश्य को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। प्रत्यभिज्ञानमूलक दो पदार्थों के अविनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्ति का ग्राहक तर्क होता है और तर्कमूलक साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान माना गया है। इसी तरह आगमज्ञान भी अनुमानमूलक ही होता है अर्थात् ''अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है।'' ऐसा निर्णय हो जाने के बाद ही श्रोता किसी शब्द को सुनकर उसके अर्थ का ज्ञान कर सकता है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है और परोक्ष प्रमाण सांव्यवहारिक प्रत्यक्षजन्य है। बस, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण में इतना ही अन्तर है।

जैनदर्शन में शब्दजन्य अर्थज्ञान को आगम प्रमाण मानने के साथ-साथ उस शब्द को भी आगम प्रमाण में संग्रहीत किया गया है और इस प्रकार जैनदर्शन में आगम प्रमाण के दो भेद मान लिए गये हैं। एक स्वार्थप्रमाण और दूसरा परार्थप्रमाण। पूर्वोक्त सभी प्रमाण ज्ञानरूप होने के कारण स्वार्थप्रमाणरूप ही हैं। परन्तु एक आगम प्रमाण ही ऐसा है जिसे

स्वार्थप्रमाण और परार्थप्रमाण उभयरूप स्वीकार किया गया है। शब्दजन्य अर्थज्ञान ज्ञान रूप होने के कारण स्वार्थप्रमाणरूप है। लेकिन शब्द में चूँकि ज्ञानरूपता का अभाव है इसलिए वह परार्थप्रमाणरूप माना गया है।

यह परार्थप्रमाणरूप शब्द वाक्य और महावाक्य के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से दो या दो से अधिक पदों के समूह को वाक्य कहते हैं और दो या दो से अधिक वाक्य के समूह को महावाक्य कहते हैं, दो या दो से अधिक महावाक्यों के समूह को भी महावाक्य के ही अन्तर्गत समझना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि परार्थप्रमाण एक सखण्ड वस्तु है और वाक्य तथा महावाक्यरूप परार्थप्रमाण के जो खण्ड हैं उन्हें जैनदर्शन में नयसंज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार जैनदर्शन में वस्तुस्वरूप के व्यवस्थापन में प्रमाण की तरह नयों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नयों का लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए–''वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ का पूर्णरूपेण प्रतिपादक वाक्य और महावाक्य प्रमाण कहा जाता है और वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ के अंश का प्रतिपादक पद, वाक्य और महावाक्य को नयसंज्ञा दी गयी है।''

इस प्रकार ये दोनों परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय वचनरूप हैं और चूँकि वस्तुनिष्ठ सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि परस्पर विरोधी दो तत्त्व अथवा तद्विशिष्ट वस्तु ही इनका वाच्य है इसलिए इसके आधार पर जैन दर्शन का सप्तभंगीवाद कायम होता है अर्थात् उक्त सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेष, नित्यत्व और अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व इत्यादि युगलधर्मों और एतद्धर्मविशिष्ट वस्तु के प्रतिपादन में उक्त परार्थप्रमाण और उसके अंशभूत नय सात रूप धारण कर लिया करते हैं।

प्रमाणवचन के सातरूप निम्न प्रकार हैं–सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन करना प्रमाण वचन का पहला रूप है। असत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन करना प्रमाणवचन का दूसरा

रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन करना प्रमाणवचन का तीसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुखेन युगपत् (एक साथ) वस्तु का प्रतिपादन करना असम्भव है इसलिए अवक्तव्य नाम का चौथा रूप प्रमाण वचन का निष्पन्न होता है। उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ सत्त्वमुखेन वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है। इस तरह से प्रमाण वचन का पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ असत्त्वमुखेन भी वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है इस तरह से प्रमाण वचन का छठा रूप बन जाता है और उभयधर्ममुखेन युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ उभयधर्ममुखेन क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है इस तरह से प्रमाण वचन का सातवाँ रूप बन जाता है। जैनदर्शन में इसको प्रमाण सप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचन के सात रूप निम्न प्रकार हैं—वस्तु के सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना नयवचन का पहला रूप है। असत्व धर्म का प्रतिपादन करना नयवचन का दूसरा रूप है। उभय धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचन का तीसरा रूप है और चूँकि उभयधर्मों का युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है इसलिए इस तरह से अवक्तव्य नामक चौथा रूप नयवचन का निष्पन्न होता है। नयवचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों को प्रमाणवचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों के समान समझ लेना चाहिए। जैनदर्शन में नयवचन के इन सात रूपों को नयसप्तभंगी नाम दिया गया है।

इन दोनों प्रकार की सप्तभंगियों में इतना ध्यान रखने की जरूरत है कि जब सत्त्व-धर्ममुखेन वस्तु का अथवा वस्तु के सत्त्व धर्म का प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तु की असत्व धर्म विशिष्टता को अथवा वस्तु के असत्त्वधर्म को अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्वधर्ममुखेन वस्तु का अथवा वस्तु के असत्त्वधर्म का प्रतिपादन करते

समय वस्तु की सत्त्वधर्मविशिष्टता अथवा वस्तु के सत्त्वधर्म के बारे में समझना चाहिए। इस प्रकार उभयधर्मों की विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता)के स्पष्टीकरण के लिए स्याद्वाद अर्थात् स्यात् की मान्यता को भी जैनदर्शन में स्थान दिया गया है। स्याद्वाद का अर्थ है–किसी भी धर्म के द्वारा वस्तु का अथवा वस्तु के किसी भी धर्म का प्रतिपादन करते वक्त उसके अनुकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्य को लक्ष्य में रखना और इस तरह से वस्तु को विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तु में विरुद्ध धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकार के स्याद्वाद को नहीं अपनाया जायेगा तो वस्तु की विरुद्धधर्म विशिष्टता का अथवा वस्तु में विरोधी धर्म का अभाव मानना अनिवार्य हो जायेगा और इस तरह से अनेकान्तवाद का भी जीवन समाप्त हो जायेगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगीवाद और स्याद्वाद ये जैनदर्शन के अनूठे सिद्धान्त हैं। इनमें से एक प्रमाणवाद को छोड़कर बाकी के चार सिद्धान्तों को तो जैनदर्शन की अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारों सिद्धान्त जैनदर्शन की अपूर्वता एवं महत्ता के अतीव परिचायक हैं। प्रमाणवाद को यद्यपि दूसरे दर्शनों में स्थान प्राप्त है। परंतु जिस व्यवस्थित ढंग और पूर्णता के साथ जैनदर्शन में प्रमाण का विवेचन पाया जाता है वह दूसरे दर्शनों में नहीं मिल सकता है। मेरे इस कथन की स्वाभाविकता को जैनदर्शन के प्रमाण विवेचन के साथ दूसरे दर्शनों के प्रमाण विवेचन का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वान् सहज ही में समझ सकते हैं।

एक बात जो जैनदर्शन की यहाँ पर कहने के लिए रह गई है वह है सर्वज्ञतावाद की अर्थात् जैनदर्शन में सर्वज्ञतावाद को भी स्थान दिया गया है और इसका सबब यह है कि आगमप्रमाण का भेद जो परार्थप्रमाण अर्थात् वचन है उसकी प्रमाणता बिना सर्वज्ञता के संभव नहीं है। कारण कि प्रत्येक दर्शन में आप्त का वचन ही प्रमाण माना गया है तथा आप्त अवंचक पुरुष ही हो सकता है और पूर्ण अवंचकता की प्राप्ति के लिए

व्यक्ति में सर्वज्ञता का सद्भाव अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

जैनदर्शन में इन अनेकान्त, प्रमाण, नय, सप्तभंगी, स्यात् और सर्वज्ञता की मान्यताओं को गंभीर और विस्तृत विवेचन के द्वारा एक निष्कर्ष पर पहुँचा दिया गया है। न्यायदीपिका में श्रीमदभिनव धर्मभूषणयति ने इन्हीं विषयों का सरल और संक्षिप्त ढंग से विवेचन किया है और श्री पं. दरबारीलाल कोठिया ने इसे टिप्पणी और हिन्दी अनुवाद से सुसंस्कृत बनाकर सर्व साधारण के लिए उपादेय बना दिया है। प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि प्रकरणों द्वारा इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है। आपने न्यायदीपिका के कठिन स्थलों का भी परिश्रम के साथ स्पष्टीकरण किया है। हम आशा करते हैं कि श्री पं. दरबारीलाल कोठिया की इस कृति का विद्वत्समाज में समादर होगा।

इत्यलम्।

३१.०३.१९४५

वंशीधर जैन
(व्याकरणाचार्य, न्यायतीर्थ,
न्यायशास्त्री, साहित्यशास्त्री)

प्रस्तावना

न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना या भूमिका लिखने का उद्देश्य यह होता है कि उस ग्रन्थ और ग्रन्थकार एवं प्रासङ्गिक अन्यान्य विषयों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला जाये, जिससे दूसरे अनेक सम्भ्रान्त पाठकों को उस विषय की यथेष्ट जानकारी सहज में प्राप्त हो सके।

आज हम जिस ग्रन्थ रत्न की प्रस्तावना प्रस्तुत कर रहे हैं वह 'न्यायदीपिका' है। यद्यपि न्यायदीपिका के कई संस्करण निकल चुके हैं और प्रायः सभी जैन शिक्षा-संस्थाओं में उसका अरसे से पठन-पाठन के रूप में विशेष समादर है। किन्तु अभी तक हम ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामादि सामान्य परिचय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते हैं-उनका ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक अविकल परिचय अब तक सुप्राप्त नहीं है। अतः न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण का यथासम्भव सप्रमाण पूरा परिचय कराना ही प्रस्तुत प्रस्तावना का मुख्य लक्ष्य है। पहले न्यायदीपिका के विषय में विचार किया जाता है।

न्यायदीपिका

(क) जैन न्यायसाहित्य में न्यायदीपिका का स्थान और महत्त्व-

श्री अभिनव धर्मभूषण यति की प्रस्तुत 'न्यायदीपिका' संक्षिप्त एवं अत्यन्त सुविशद और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसे जैनन्याय की प्रथम कोटि की भी रचना कही जाये तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि जैनन्याय के प्रथम कोटि विद्यार्थियों के लिए संस्कृत भाषा में निबद्ध सुबोध और सम्बद्ध न्याय तत्त्व का सरलता से विशद विवेचन करने वाली प्रायः यह अकेली रचना है, जो पाठक के हृदय पर अपना सहज प्रभाव अंकित करती है। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में हुए और 'जैनतर्कभाषा' आदि प्रौढ़ रचनाओं के रचयिता श्वेताम्बरीय विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जैसे बहुश्रुत भी इसके प्रभाव से प्रभावित हुए हैं।

उन्होंने अपनी दार्शनिक रचना 'जैनतर्कभाषा' में न्यायदीपिका के अनेक स्थलों को ज्यों का त्यों आनुपूर्वी के साथ अपना लिया है।[१] वस्तुतः न्यायदीपिका में जिस खूबी के साथ संक्षेप में प्रमाण और नय का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है और इसलिए यह संक्षिप्त कृति भी न्यायस्वरूप जिज्ञासुओं के लिए बड़े महत्त्व और आकर्षण की प्रिय वस्तु बन गई है।

अतः न्यायदीपिका के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह जैनन्याय के प्रथम श्रेणी में रखे जाने वाले ग्रन्थों में स्थान पाने के सर्वथा योग्य है।

(ख) नामकरण—

उपलब्ध ऐतिह्य सामग्री और चिन्तन पर से मालूम होता है कि दर्शनशास्त्र के रचना युग में दार्शनिक ग्रन्थ, चाहे वे जैनेतर हो या जैन हो, प्रायः 'न्याय' शब्द के साथ रचे जाते थे। जैसे न्यायदर्शन में न्यायसूत्र, न्यायवार्तिक, न्यायमंजरी, न्यायकलिका, न्यायसार, न्यायकुसुमाञ्जलि और न्यायलीलावती आदि, बौद्धदर्शन में न्याय-प्रवेश, न्याय-मुख, न्याय-बिन्दु आदि और जैनदर्शन में न्यायावतार, न्यायविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि पाये जाते हैं। पार्थसारथि की शास्त्रदीपिका जैसे दीपिकान्त ग्रन्थों के भी रचे जाने की उस समय पद्धति रही है। सम्भवतः अभिनव धर्मभूषण ने इन ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर ही अपनी प्रस्तुत कृति का नाम 'न्यायदीपिका' रक्खा जान पड़ता है। और यह अन्वर्थ भी है, क्योंकि इसमें प्रमाणनयात्मक न्याय का प्रकाशन किया गया है। अतः न्यायदीपिका का नामकरण भी अपना वैशिष्ट्य स्थापित करता है और वह उसके अनुरूप है।

(ग) भाषा—

यद्यपि न्याय ग्रन्थों की भाषा अधिकांशतः दुरूह और गम्भीर होती है, जटिलता के कारण उनमें साधारण बुद्धियों का प्रवेश सम्भव नहीं होता। पर न्यायदीपिकाकार की यह कृति न दुरूह है और न गम्भीर एवं

---

१. देखो, जैनतर्कभाषा, पृ. १३, १४-१६, १७

न जटिल है। प्रत्युत इसकी भाषा अत्यन्त प्रसन्न, सरल और बिना किसी कठिनाई के अर्थबोध कराने वाली है। यह बात भी नहीं कि ग्रन्थकार वैसी रचना कर नहीं सकते थे, किन्तु उनका विशुद्ध लक्ष्य अकलंकादि रचित उन गम्भीर और दुरवगाह न्यायविनिश्चय आदि न्याय-ग्रन्थों में मन्दजनों को भी प्रवेश कराने का था। इस बात को स्वयं धर्मभूषणजी ने ही बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दों में-मंगलाचरण पद्य तथा प्रकरणारम्भ के प्रस्तावना वाक्यों में कहा है।[1] भाषा के सौष्ठव से समूचे ग्रन्थ की रचना भी प्रशस्त एवं हृद्य हो गई है।

(घ) रचना-शैली—

भारतीय न्याय-ग्रन्थों की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उनकी रचना हमें तीन प्रकार की उपलब्ध होती है—१. सूत्रात्मक, २. व्याख्यात्मक और ३. प्रकरणात्मक। जो ग्रन्थ संक्षेप में गूढ़ अल्पाक्षर और सिद्धान्ततः मूल के प्रतिपादक हैं, वे सूत्रात्मक हैं। जैसे-वैशेषिकदर्शनसूत्र, न्यायसूत्र, परीक्षामुखसूत्र आदि और जो किसी गद्य-पद्य या दोनों रूप मूल का व्याख्यान (विवरण, टीका, वृत्ति) रूप हैं वे व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे-प्रशस्तपादभाष्य, न्यायभाष्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि। तथा जो किसी मूल के व्याख्या-ग्रन्थ न होकर अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषय का स्वतंत्रभाव से वर्णन करते हैं और प्रसंगानुसार दूसरे विषयों का भी कथन करते हैं, वे प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रमाणसमुच्चय, न्यायबिन्दु, प्रमाणसंग्रह, आप्तपरीक्षा आदि। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और विश्वनाथ पञ्चानन की कारिकावली आदि कारिकात्मक ग्रन्थ भी दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय, सिद्धसेन के न्यायावतार और अकलंकदेव के लघीयस्त्रय आदि की तरह प्रायः प्रकरण ग्रन्थ ही हैं, क्योंकि वे भी अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषय का स्वतंत्रभाव से वर्णन करते हैं और प्रसंगोपात्त दूसरे विषयों का भी कथन करते हैं। अभिनव धर्मभूषण की प्रस्तुत 'न्यायदीपिका' प्रकरणात्मक रचना है। इसमें ग्रन्थकर्ता ने अपने अंगीकृत वर्णनीय विषय प्रमाण और

---

१. देखो, न्यायदीपिका, पृ. १, ४, ५

नय का स्वतन्त्रता से वर्णन किया है, वह किसी गद्य या पद्यरूप मूल की व्याख्या नहीं है। ग्रन्थकार ने इसे स्वयं भी प्रकरणात्मक ग्रन्थ माना है।[१] इस प्रकार के ग्रन्थ रचने की प्रेरणा उन्हें विद्यानन्दि की 'प्रमाण-परीक्षा', वादिराज के 'प्रमाण-निर्णय' आदि प्रकरण-ग्रन्थों से मिली जान पड़ती है।

ग्रन्थ के प्रमाण-लक्षण-प्रकाश, प्रत्यक्ष-प्रकाश और परोक्ष-प्रकाश ये तीन प्रकाश करके उनमें विषय-विभाजन उसी प्रकार का किया गया है जिस प्रकार प्रमाण-निर्णय के तीन निर्णयों (प्रमाण-लक्षण-निर्णय, प्रत्यक्ष-निर्णय और परोक्ष-निर्णय) में है। प्रमाणनिर्णय से प्रस्तुत ग्रन्थ में इतनी विशेषता है कि आगम के विवेचन का इसमें अलग प्रकाश नहीं रक्खा गया है जब कि प्रमाणनिर्णय में आगम निर्णय भी है। इसका कारण यह है कि वादिराजाचार्य ने परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद किये हैं तथा अनुमान के भी गौण और मुख्य अनुमान ये दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को गौण अनुमान प्रतिपादित किया है और इन तीनों के वर्णन को तो परोक्ष-निर्णय तथा परोक्ष के ही दूसरे भेद आगम के वर्णन को आगमनिर्णय नाम दिया है।[२] आचार्य धर्मभूषण ने आगम जब परोक्ष है तब उसे परोक्षप्रकाश में ही सम्मिलित कर लिया है-उसके वर्णन को उन्होंने स्वतन्त्र प्रकाश का रूप नहीं दिया। तीनों प्रकाशों में स्थूलरूप से विषय-वर्णन इस प्रकार है-

पहले प्रमाणसामान्यलक्षण-प्रकाश में, प्रथमतः उद्देशादि तीन के द्वारा ग्रन्थ-प्रवृत्ति का निर्देश, उन तीनों के लक्षण, प्रमाणसामान्य का लक्षण, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय लक्षण, इन्द्रियादिकों को प्रमाण न हो सकने का वर्णन, स्वतः परतः प्रामाण्य का निरूपण और बौद्ध, भाट्ट, प्राभाकर तथा नैयायिकों के प्रमाण सामान्य लक्षणों की आलोचना करके जैनमत सम्मत सविकल्पक अगृहीतग्राही 'सम्यग्ज्ञानत्व' को ही प्रमाण-

१. 'प्रकरणमिदमारभ्यते'-न्यायदीपिका, पृ. ५

२. देखो प्रमाणनिर्णय पृ. ३३

सामान्य का निर्दोष लक्षण स्थिर किया गया है।

दूसरे प्रत्यक्ष-प्रकाश में स्वकीय प्रत्यक्ष का लक्षण, बौद्ध और नैयायिकों के निर्विकल्पक तथा सन्निकर्ष प्रत्यक्ष लक्षणों की समालोचना, अर्थ और आलोक में ज्ञान के प्रति कारणता का निराश, विषय की प्रतिनियामिका योग्यता का उपादान, तदुत्पत्ति और तदाकारता का निराकरण, प्रत्यक्ष के भेद-प्रभेदों का निरूपण, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का समर्थन और सर्वज्ञसिद्धि आदि का विवेचन किया गया है।

तीसरे परोक्ष-प्रकाश में, परोक्ष का लक्षण, उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच भेदों का विशद वर्णन, प्रत्यभिज्ञान के एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि का प्रमाणान्तर रूप से उपपादन करके उनका प्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भाव होने का सयुक्तिक समर्थन, साध्य का लक्षण, साधन का 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण, त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य का निराकरण, अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेदों का कथन, हेतु-भेदों का उदाहरण, हेत्वाभासों का वर्णन, उदाहरण, उदाहरणाभास, उपनय, उपनयाभास, निगमन, निगमनाभास आदि अनुमान के परिवार का अच्छा कथन किया गया है। अन्त में आगम और नय का वर्णन करते हुए अनेकान्त तथा सप्तभंगीवाद का भी संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। इस तरह यह न्यायदीपिका में वर्णित विषयों का स्थूल एवं बाह्य परिचय है। अब उसके आभ्यंतर प्रमेय-भाग पर भी थोड़ा सा तुलनात्मक विवेचन कर देना हम उपयुक्त समझते हैं। ताकि न्यायदीपिका के पाठकों के लिए उसमें चर्चित ज्ञातव्य विषयों का एकत्र यथासम्भव परिचय मिल सके।

(घ) विषय-परिचय—

१. मंगलाचरण—

मंगलाचरण के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य अंश तो हिन्दी अनुवाद के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। यहाँ उनके शेष भाग पर कुछ विचार किया जाता हैं।

यद्यपि भारतीय वाङ्मय में प्रायः सभी दर्शनकारों ने मंगलाचरण को अपनाया है और अपने अपने दृष्टिकोण से उसका प्रयोजन एवं हेतु बताते हुए समर्थन किया है। पर जैनदर्शन में जितना विस्तृत, विशद और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है उतना प्रायः अन्यत्र नहीं मिलता। तिलोयपण्णत्ति में[१] यतिवृषभाचार्य ने और श्री 'धवला'[२] में श्री वीरसेनस्वामी ने मंगल का बहुत ही सांगोपांग और व्यापक वर्णन किया है। उन्होंने धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोग के द्वारा मंगल का निरूपण करने का निर्देश करके उक्त छहों के द्वारा उसका व्याख्यान किया है। 'मगि' धातु से 'अलच्' प्रत्यय करने पर मंगल शब्द निष्पन्न होता है। निक्षेप की अपेक्षा कथन करते हुए लिखा है कि तद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगल के दो भेद हैं– कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल। उनमें पुण्यप्रकृति–तीर्थंकर नामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल है; क्योंकि वह लोककल्याणरूप माङ्गल्य का कारण है। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगल के दो भेद हैं–लौकिक और लोकोत्तर। उनमें लौकिक लोक प्रसिद्ध मंगल तीन प्रकार का है–सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनमें सिद्धार्थ[३] अर्थात् पीले सरसों, जल से भरा हुआ पूर्ण कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं और बालकन्या तथा श्रेष्ठ जाति का घोड़ा आदि सचित्त मंगल है। अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र मंगल है। लोकोत्तर–अलौकिक मंगल के भी तीन भेद हैं –सचित्त, अचित्त और मिश्र। अरहन्त आदि का अनादि अनन्त स्वरूप जीव द्रव्य सचित्त लोकोत्तर मंगल है। कृत्रिम, अकृत्रिम चैत्यालय आदि अचित्त लोकोत्तर मंगल है। उक्त दोनों सचित्त और अचित्त मंगलों को मिश्र मंगल कहा है। आगे मंगल

---

१. तिलोयपण्णत्ति, गाथा १–८ से १–३१

२. धवला १–१–१

३. सिद्धत्थ–पुण्ण–कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो॥ धवला १–१–१ पृ २७

के प्रतिबोधक पर्यायनामों[1] को बतलाकर मंगल की निरुक्ति[2] बताई गई है। जो पापरूप मल को गलावे–विनाश करे और पुण्य–सुख को लावे प्राप्त करावे उसे मंगल कहते हैं। आगे चलकर मंगल का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है[3] कि शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त में जिनेन्द्र का गुणस्तवन रूप मंगल का कथन करने से समस्त विघ्न उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्योदय से समस्त अन्धकार। इनके साथ ही तीनों स्थानों में मंगल करने का पृथक्–पृथक् फल भी निर्दिष्ट किया है और लिखा है[4] कि शास्त्र के आदि में मंगल करने से शिष्य सरलता से शास्त्र के पारगामी बनते हैं। मध्य में मंगल करने से निर्विघ्न विद्या प्राप्ति होती है और अन्त में मंगल करने से विद्या–फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैनपरम्परा के दिगम्बर साहित्य में[5] शास्त्र में मंगल करने का सुस्पष्ट उपदेश मिलता है। श्वेताम्बर आगम साहित्य में भी मंगल का विधान पाया जाता है। दशवैकालिकनिर्युक्ति (गाथा २) में त्रिविध मंगल करने का

---

१. देखो धवला १–१–१, पृ ३१, तिलोयपण्णत्ति गाथा १–८।

२. ''मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयति इति मंगलम्'' ....अथवा, मंगं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्।'' धवला १–१–१, पृ. ३२–३३।

''गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणियं॥'' तिलोयपण्णत्ति १–९

''अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।
एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो॥ तिलोयपण्णत्ति १–१५

३. 'सत्थादि–मज्झ अवसाणएसु जिणतोत्तमंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं॥ तिलोयपण्णत्ति १–३१

४. 'पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।
मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जा फलं चरिमे॥ तिलोयपण्णत्ति १–२९ धवला १–१–१, पृ. ४०

५. यद्यपि 'कषायपाहुड' और 'चूर्णिसूत्र' के प्रारम्भ में मंगल नहीं किया है तथापि वहाँ मंगल न करने का कारण यह है कि उन्हें स्वयं मंगल रूप मान लिया गया है।

निर्देश है। विशेषावाश्यकभाष्य (गाथा १२-१४) में मंगल के प्रयोजनों में विघ्न विनाश और महाविद्या की प्राप्ति को बतलाते हुए आदि मंगल का निर्विघ्न रूप में शास्त्र का पारंगत होना, मध्यमंगल का निर्विघ्नतया शास्त्र-समाप्ति की कामना और अन्त्यमंगल का शिष्य-प्रशिष्यों में शास्त्र-परम्परा का चालू रहना प्रयोजन बतलाया गया है। बृहत्कल्प-भाष्य (गाथा २०) में मंगल के विघ्न विनाश के साथ शिष्य में शास्त्र के प्रति श्रद्धा का होना आदि अनेक प्रयोजन गिनाये गये हैं। हिन्दी अनुवाद के प्रारम्भ में यह कहा ही जा चुका है कि हरिभद्र और विद्यानन्दि आदि तार्किकों ने अपने तर्क-ग्रन्थों में भी मंगल करने का समर्थन और उसके विविध प्रयोजन बतलाये हैं।

उपर्युक्त यह मंगल मानसिक, वाचिक और कायिक के भेद से तीन प्रकार का है। वाचिक मंगल भी निबद्ध और अनिबद्धरूप से दो तरह का है।[१] जो ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकार के द्वारा श्लोकादिक की रचनारूप से इष्ट-देवता-नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है वह वाचिक निबद्ध मंगल है और जो श्लोकादिक की रचना के बिना ही जिनेन्द्र-गुण-स्तवन किया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है।

प्रकृत न्यायदीपिका में अभिनव धर्मभूषण ने भी अपनी पूर्व परम्परा का अनुसरण किया है और मंगलाचरण को निबद्ध किया है।

२. शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति—

शास्त्र की त्रिविध (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षारूप) प्रवृत्ति का कथन सबसे पहले वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' में दृष्टिगोचर होता है।[२] प्रशस्तपादभाष्य की टीका 'कन्दली' में श्रीधर ने उस त्रिविध प्रवृत्ति में उद्देश और लक्षण रूप द्विविध प्रवृत्ति को माना है और परीक्षा को अनियत

---

१. देखो, धवला १-१-१, पृ. ४१ और आप्तपरीक्षा पृ. ३

२. न्यायभाष्य पृ. १७ न्यायदीपिका परिशिष्ट पृ. २३९

कहकर निकाल दिया है।[१] इसका कारण यह है कि श्रीधर ने जिस प्रशस्तपाद भाष्य पर अपनी कन्दली टीका लिखी है वह भाष्य और उस भाष्य का आधारभूत वैशेषिकदर्शन सूत्र पदार्थों के उद्देश और लक्षण रूप है, उनमें परीक्षा नहीं है। पर वात्स्यायन ने जिस न्यायसूत्र पर अपना न्यायभाष्य लिखा है उसके सभी सूत्र उद्देश, लक्षण और परीक्षात्मक हैं। इसलिए वात्स्यायन ने त्रिविध प्रवृत्ति और श्रीधर ने द्विविध प्रवृत्ति को स्थान दिया है। शास्त्र-प्रवृत्ति के चौथे भेदरूप से विभाग को भी मानने का एक पक्ष रहा है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर[२] और जयन्तभट्ट ने[३] किया है और उसे उद्देश में ही शामिल कर लेने का विधान किया है। आ॰ प्रभाचन्द्र[४] और हेमचन्द्र[५] भी यही कहते हैं। इस तरह वात्स्यायन के द्वारा प्रदर्शित त्रिविध प्रवृत्ति का ही पक्ष स्थिर रहता है। न्यायदीपिका में प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र के द्वारा अनुसृत यही त्रिविध प्रवृत्ति का पक्ष अपनाया गया है।

३. लक्षण का लक्षण—

दार्शनिक परम्परा में सर्वप्रथम स्पष्ट तौर पर वात्स्यायन ने लक्षण का लक्षण निर्दिष्ट किया है और कहा है कि जो वस्तु का स्वरूप-व्यवच्छेदक धर्म है वह लक्षण है।[६] न्यायवार्तिक के कर्ता उद्योतकर का भी

---

१. पदार्थव्युत्पादनप्रवृत्तस्य शास्त्रस्य उभयथा प्रवृत्ति-उद्देशो लक्षणञ्च। परीक्षायास्तु न नियमः-कन्दली, पृ. २६

२. ''उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति। तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः, न, उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्।'' न्यायवार्तिक पृ. २७, २८

३. ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव... उद्देशरूपानपायात्तु उद्देश एव असौ। सामान्यसंज्ञया कीर्त्तनमुद्देशः, प्रकारभेदसंज्ञया कीर्त्तनं विभाग इति-न्यायमंजरी पृ.१२

४. देखो, न्यायकुमुद, पृ. २१

५. प्रमाणमीमांसा, पृ. २

६. उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्-न्यायभाष्य, पृ. १७

यही मत है।[१] न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट सिर्फ 'व्यवच्छेदक' के स्थान में व्यवस्थापक' शब्द को रखकर वात्स्यायन का ही अनुसरण करते हैं।[२] कन्दलीकार श्रीधर भी वात्स्यायन के 'तत्त्व' शब्द के स्थान में 'स्वपरजातीय' और 'व्यवच्छेदक' की जगह 'व्यावर्त्तक' शब्द का प्रयोग करके करीब-करीब उन्हीं के लक्षण के लक्षण को मान्य रखते हैं।[३]

तर्कदीपिकाकार उक्त कथनों से फलित हुए असाधारण धर्म को लक्षण का लक्षण मानते हैं[४] अकलंकदेव स्वतन्त्र ही लक्षण का लक्षण प्रणयन करते हैं और वे उसमें 'धर्म' या 'असाधारण धर्म' शब्द का निवेश नहीं करते। पर व्यावृत्तिपरक लक्षण मानना उन्हें इष्ट है।[५] इससे लक्षण के लक्षण की मान्यतायें दो फलित होती है। एक तो लक्षण के लक्षण में असाधारण धर्म का प्रवेश स्वीकार करने वाली और दूसरी स्वीकार न करने वाली। पहली मान्यता मुख्यतया न्याय वैशेषिकों की है और जिसे जैन-परम्परा में भी क्वचित्[६] स्वीकार किया गया है। दूसरी मान्यता अकलंक-प्रतिष्ठित है और उसे आचार्य विद्यानन्दि[७] तथा न्यायदीपिकाकार आदि ने अपनाई है। न्यायदीपिकाकार ने तो सप्रमाण इसे ही पुष्ट किया है और पहली मान्यता की आलोचना करके उसमें दूषण भी दिखाये हैं।

---

१. लक्षणस्येतरव्यवच्छेदहेतुत्वात्। लक्षणं खलु लक्ष्यं समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिनत्ति-न्यायवार्तिक, पृ. २८, पर्यायशब्दाः कथं लक्षणम् ? व्यवच्छेदहेतुत्वात्। सर्वं हिलक्षणमितरव्यवच्छेदकमेतैश्च पर्यायशब्दैर्नान्यः पदार्थोऽभिधीयत इत्यसाधारणत्वाल्लक्षणम्-न्यायवार्तिक पृ. ७९, इतरेतरविशेषकं लक्षणमुच्यते-न्यायवार्तिक पृ. १०८

२. उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्-न्यायमंजरी, पृ. ११

३. उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्-कन्दली. पृ. २६

४. ''एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्। यथा गोः सास्नादिमत्वम्। स एवासाधारणधर्म इत्युच्यते''-तर्कदीपिका, पृ. १४

५. परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्-तत्त्वार्थवार्तिक पृ. ८२

६. देखो, परिशिष्ट पृ. २४०

७ देखो, परिशिष्ट पृ. २४०

ग्रन्थकार का कहना है कि यद्यपि किसी वस्तु का असाधारण-विशेष धर्म उस वस्तु का इतर पदार्थों से व्यावर्त्तक होता है, परन्तु उसे लक्षण कोटि में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्डादि जो कि असाधारणधर्म नहीं हैं फिर भी पुरुष के व्यावर्त्तक होते हैं और 'शावलेयत्व' आदि गवादिकों के असाधारणधर्म तो हैं, पर व्यावर्त्तक नहीं हैं। इसलिए इतना मात्र ही लक्षण करना ठीक है कि जो व्यावर्त्तक है-मिली हुई वस्तुओं में से किसी एक को जुदा कराता है वह लक्षण है। चाहे वह साधारण धर्म हो या चाहे असाधारण धर्म हो या धर्म भी न हो। यदि वह लक्ष्य की लक्ष्यांतरों से व्यावृत्ति कराता है तो लक्षण है और यदि नहीं कराता है तो वह लक्षण नहीं है इस तरह अकलंक-प्रतिष्ठित लक्षण के लक्षण को ही न्यायदीपिका में अनुप्राणित किया गया है।

४. प्रमाण का सामान्यलक्षण

दार्शनिक परम्परा में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। उन्होंने निर्दोष ज्ञान को विद्या-प्रमाण कहा है।[1] न्यायदर्शन के प्रवर्तक गौतम के न्यायसूत्र में तो प्रमाणसामान्य का लक्षण उपलब्ध नहीं होता। पर उनके टीकाकार वात्स्यायन ने अवश्य 'प्रमाण' शब्द से फलित होने वाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण) को प्रमाणसामान्य का लक्षण सूचित किया है।[2]

उद्योतकर[3], जयन्तभट्ट[4] आदि नैयायिकों ने वात्स्यायन के द्वारा सूचित किए इस उपलब्धि साधन रूप प्रमाकरण को ही प्रमाण का

---

१. 'अदुष्टं विद्या' वैशेषिकसूत्र ९-२-१२

२. ''उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोधव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।'' न्यायभाष्य, पृ. १८

३. ''उपलब्धिहेतुः प्रमाणं.......यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं।''-न्यायवार्तिक पृ. ५

४. ''प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते।
न्यायमंजरी पृ. २५

सामान्य लक्षण स्वीकृत किया है। यद्यपि न्यायकुसुमाञ्जलिकार[१] उदयन ने यथार्थानुभव को प्रमाण कहा है तथापि वह उन्हें प्रमाकरण रूप ही इष्ट है। इतना जरूर जान पड़ता है कि उन पर अनुभूति को प्रमाण मानने वाले प्रभाकर और उनके अनुयायी विद्वानों का प्रभाव है। क्योंकि उदयन के पहले न्याय वैशेषिक परम्परा में प्रमाण सामान्य लक्षण में अनुभव पद का प्रवेश प्रायः उपलब्ध नहीं होता। उनके बाद में तो अनेक नैयायिकों[२] ने अनुभव को ही प्रमाण सामान्य का लक्षण बतलाया है।

मीमांसक परम्परा में मुख्यतया दो सम्प्रदाय पाये जाते हैं–१. भाट्ट और २. प्रभाकर। कुमारिल भट्ट के अनुगामी भाट्ट और प्रभाकर गुरु के मत का अनुसरण करने वाले प्राभाकर कहे जाते हैं। कुमारिल ने प्रमाण के सामान्य लक्षण में पाँच विशेषण दिये हैं–१. अपूर्वार्थविषयत्व, २ निश्चितत्त्व, ३. बाधवर्जितत्व, ४. अदुष्टकारणारब्धत्व और ५. लोकसम्मतत्व। कुमारिल का वह लक्षण इस प्रकार है –

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

पिछले सभी भाट्टमीमांसकों ने इसी कुमारिल कर्तृक लक्षण को माना है और उसका समर्थन किया है। दूसरे दार्शनिकों की आलोचना का विषय भी यही लक्षण हुआ है। प्रभाकर ने[३] अनुभूति को प्रमाण सामान्य का लक्षण कहा है।

सांख्यदर्शन में श्रोत्रादि–इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) को प्रमाण का सामान्य लक्षण बतलाया गया है।

बौद्धदर्शन में[४] अज्ञातार्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य

---

१. ''यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते। '–न्यायकु० ४–१

२. ''बुद्धिस्तु द्विविधा मता अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा।'' –सिद्धान्तमु. का. ५१

''तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवोयथार्थः।'' सैवप्रमा।' तर्कसं. पृ. ६८, ६९

३. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।' बृहती. १–१–५

४. 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।–प्रमाण समुच्चय टी.पृ. ११

लक्षण बतलाया है। दिग्नाग ने विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल कह कर उन्हें ही प्रमाण माना है।[१] क्योंकि बौद्धदर्शन में प्रमाण और फल भी भिन्न नहीं हैं और जो अज्ञातार्थप्रकाश रूप ही है। धर्मकीर्ति ने [२] अविसंवादि' पद और लगाकर दिग्नाग के ही लक्षण को प्रायः परिष्कृत क्रिया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित ने[३]सारूप्य और योग्यता को प्रमाण वर्णित किया है, जो एक प्रकार से दिग्नाग और धर्मकीर्ति के प्रमाणसामान्य लक्षण का ही पर्यवसितार्थ है। इस तरह बौद्धों के यहाँ स्वसंवेदी अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा गया है।

जैन परम्परा में सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्र[४] और आचार्य सिद्धसेन[५] ने प्रमाण का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है और उसमें स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधविवर्जित ये तीन विशेषण दिये हैं। भारतीय दार्शनिकों में समन्तभद्र ही प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने स्पष्टतया प्रमाण के सामान्य लक्षण में 'स्वपरावभासक' पद रखा है यद्यपि विज्ञानवादी बौद्धों ने भी ज्ञान को स्वरूपस्य स्वतो गतेः कहकर स्वसंवेदी प्रकट किया हैं परन्तु तार्किक रूप देकर विशेषरूप से प्रमाण के लक्षण में 'स्व' पद का निवेश समन्तभद्र का ही स्वोपज्ञ जान पड़ता है, क्योंकि उनके पहले वैसा प्रमाणलक्षण देखने में नहीं आता। समन्तभद्र ने प्रमाणसामान्य का लक्षण **'युगपत्सर्वभासितत्त्वज्ञान'** भी किया है जो उपर्युक्त लक्षण में ही पर्यवसित है दर्शनशास्त्रों के अध्ययन से ऐसा मालूम होता है 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रमिति (परिच्छित्तिविशेष) हो वह प्रमाण है इस अर्थ

---

१. ''स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।''–प्रमाणसमुच्चय १–१०
२. ''प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्.......'' प्रमाणवार्तिक २–१
३. ''विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा।–तत्त्वसं० का १३४४
४. ''स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्''–स्वयम्भू० का० ६३।
५. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।''–न्यायवार्तिक का. १

में प्राय: सभी दर्शनकारों ने प्रमाण को स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमिति का करण कौन है ? इसे सबने अलग–अलग बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकों का कहना है कि अर्थज्ञप्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होती है इसलिए सन्निकर्ष प्रमिति का करण है। मीमांसक सामान्यतया इन्द्रिय को, सांख्य इन्द्रियवृत्ति को और बौद्ध सारूप्य एवं योग्यता को प्रमितिकरण बतलाते हैं। समन्तभद्र ने 'स्वपरावभासक' ज्ञान को प्रमिति का अव्यवहितकरण प्रतिपादन किया है। समन्तभद्र के उत्तरवर्ती पूज्यपाद ने भी 'स्वपरावभासक' ज्ञान को ही प्रमितिकरण (प्रमाण) होने का समर्थन किया है और सन्निकर्ष, इन्द्रिय तथा मात्र ज्ञान को प्रमिति करण (प्रमाण) मानने में दोषोद्भावन भी किया है।[१] वास्तव में प्रमिति–प्रमाणफल जब अज्ञाननिवृत्ति है तब उसका करण अज्ञान विरोधी स्व और पर का अवभास करने वाला ज्ञान ही होना चाहिए। समन्तभद्र के द्वारा प्रतिष्ठित इस प्रमाणलक्षण 'स्वपरावभासक' को आर्थिक रूप से अपनाते हुए भी शाब्दिक रूप से अकलंकदेव ने अपना आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण लक्षण निर्मित किया है।[२] तात्पर्य यह कि समन्तभद्र के 'स्व' पद की जगह 'आत्मा' और 'पर' पद के स्थान में 'अर्थ' पद एवं 'अवभासक' पद की जगह 'व्यवसायात्मक' पद को निविष्ट किया है। तथा 'अर्थ' के विशेषणरूप से कहीं 'अनधिगत'[३] कहीं अनिश्चित[४] और कहीं अनिर्णीत[५] पद को दिया है। कहीं ज्ञान के विशेषण रूप से 'अविसंवादि'[६] पद को भी रखा है। ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्ति से आये हुए मालूम होते हैं, क्योंकि उनके

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि १–१०

२. ''व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।'' लघीय. का. ६०

३. ''प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।'' –अष्ट श. का. ३६

४. ''लिंगलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं अनिश्चितनिश्चयात्।'' अष्ट श. १०१

५. ''प्रकृतस्यापि न वै प्रामाण्यं प्रतिषेध्यं–अनिर्णीतनिर्णायकत्वात्'' अष्ट श. १०१

६. ''प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्'' अष्टश. का. ३६

प्रमाणलक्षणों में वे पहले से ही निहित हैं। अकलंकदेव के उत्तरवर्ती माणिक्यनंदि ने अकलंकदेव के 'अनधिगत' पद के स्थान में कुमारिलोक्त 'अपूर्वार्थ' और 'आत्मा' पद के स्थान में समन्तभद्रोक्त 'स्व' पद का निवेश करके 'स्वापूर्वार्थ' जैसा एक पद बना लिया है और 'व्यवसायात्मक' पद को ज्यों का त्यों अपनाकर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं' यह प्रमाणसामान्य का लक्षण प्रकट किया है।[1] विद्यानन्दि ने यद्यपि संक्षेप में 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है[2] और पीछे उसे 'स्वार्थव्यवसायात्मक' सिद्ध किया है[3], अकलंक तथा माणिक्यनन्दि की तरह स्पष्ट तौर पर 'अनधिगत' या 'अपूर्व' विशेषण उन्होंने नहीं दिया, तथापि सम्यग्ज्ञान को अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थ विषयक मानना उन्हें अनिष्ट नहीं है उन्होंने जो अपूर्वार्थ का खण्डन किया है[4] वह कुमारिल के सर्वथा 'अपूर्वार्थ' का खण्डन है। कथंचित् अपूर्वार्थ तो उन्हें अभिप्रेत है।[5] अकलंकदेव की तरह स्मृत्यादि प्रमाणों में अपूर्वार्थता का उन्होंने स्पष्टतया समर्थन किया है। सामान्यतया प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद को न रखने का तात्पर्य यह है कि

१. ''स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्''–परीक्षामुख १–१
२. ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्''–प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५१
३. ''किं पुनः सम्यग्ज्ञानम् ? अभिधीयते–स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्....''–प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५३
४. तत्स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं मानमितीयता लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्वि–शेषणम्।''–तत्त्वार्थश्लो० पृ. १७४
५. ''सकलदेशकालव्याप्तसाध्यसाधनसम्बद्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात्।'' नचैतद् गृहीतग्रहणादप्रमाणमिति शंकनीयम्, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात्। न हि तद्विषयभूतमेक द्रव्यः स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यं येन तत्र प्रवर्त्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मन्येत तद्‌गृहीतातीतवर्तमानविवर्त्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञातस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वं लैंगिका–देरप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्। तस्यापि सर्वथैवा–पूर्वार्थत्वासिद्धेः।''–प्रमाण परीक्षा, पृ.७०।''स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तं.... नचासावप्रमाणमेव संवादकत्वात् कथञ्चिद–पूर्वार्थग्राहित्वात्....'' –प्रमाणपरीक्षा, पृ. ६७ ''गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै। तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः।''–तत्त्वार्थश्लोक, पृ. १९५

प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि प्रत्यक्ष से अगृहीत धर्मांशों में प्रवृत्त होने से अपूर्वार्थग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। यदि विद्यानन्दि को स्मृत्यादिक अपूर्वार्थविषयक इष्ट न होते तो उनकी प्रमाणता में प्रयोजक अपूर्वार्थता को वे कदापि न बतलाते। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दि भी प्रमाण को अपूर्वार्थग्राही मानते हैं। इस तरह समन्तभद्र और अकलंकदेव का प्रमाणसामान्यलक्षण ही उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए आधार हुआ है। आचार्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका में विद्यानन्दि के द्वारा स्वीकृत 'सम्यग्ज्ञानत्व' रूप प्रमाण के सामान्यलक्षण को ही अपनाया है और उसे अपनी पूर्वपरम्परानुसार सविकल्पक अगृहीतग्राही एवं स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति प्रभाकर, भाट्ट और नैयायिकों के प्रमाण-सामान्य लक्षणों की आलोचना की है।

५. धारावाहिक ज्ञान—

दार्शनिक ग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की विस्तृत चर्चा पायी जाती है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक उन्हें प्रमाण मानते हैं पर उनकी प्रमाणता का समर्थन वे अलग-अलग ढंग से करते हैं। न्याय-वैशेषिकों का[1] कहना है कि उनसे परिच्छित्ति होती है और लोक में वे प्रमाण भी माने जाते हैं। अतः वे गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण ही है। भाट्टों का[2] मत है कि उनमें सूक्ष्म काल-भेद है। अतएव वे अनधिगत सूक्ष्म काल-भेद को ग्रहण करने से प्रमाण हैं। प्रभाकर मत वाले[3] कहते हैं कि

---

१. ''अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकज्ञानानामधिगतगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे। .....तस्मादर्थ प्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्तकं प्रापकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि। न्यायवार्तिक तात्पर्य, पृ. २१

२. ''धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्।'' तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः। तदधिकयाच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्।''-शास्त्र दी. पृ. १२४-१२६।

३. ''सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत्, अहो सूक्ष्मदर्शी देवानां-प्रियः!''- (शास्त्र दी. पृ.१२५) [अत्र पूर्वपक्षेणोल्लेखः]

कालभेद का भान होना तो शक्य नहीं है क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। परन्तु हाँ, पूर्वज्ञान से उत्तरज्ञानों में कुछ अतिशय (वैशिष्ट्य) देखने में नहीं आता। जिस प्रकार पहले ज्ञान का अनुभव होता है उसी प्रकार उत्तर ज्ञानों का भी अनुभव होता है। इसलिए धारावाहिक ज्ञानों में प्रथम ज्ञान से न तो उत्पत्ति की अपेक्षा कोई विशेषता है और न प्रतीति की अपेक्षा से है। अतः वे भी प्रथम ज्ञान की ही तरह प्रमाण हैं।

बौद्धदर्शन में यद्यपि अनधिगतार्थक ज्ञान को ही प्रमाण माना है और इसलिए अधिगतार्थक धारावाहिक ज्ञानों में स्वतः अप्रामाण्य ख्यापित हो जाता है तथापि धर्मकीर्ति के टीकाकार अर्चट[१] ने पुरुषभेद की अपेक्षा से उनमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वीकार किया है। क्षणभेददृष्टा (योगी) की अपेक्षा से प्रमाणता और क्षणभेद अदृष्टाव्यावहारिक पुरुषों की अपेक्षा से अप्रमाणता वर्णित की है।

जैनपरम्परा के श्वेताम्बर तार्किकों ने धारावाहिक ज्ञानों को प्रायः प्रमाण ही माना है–उन्हें अप्रमाण नहीं कहा है, किन्तु अकलंक और उनके उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर आचार्यों ने अप्रमाण बतलाया है और इसीलिए प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्वार्थ विशेषण दिया है।

''व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरते इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता।'–प्रकरण पं. पृ. ४३।

१. ''यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वेणाभिन्न-योगक्षेमत्वात् उत्तरेषामिन्द्रिय-ज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः। न चैवम् अतोऽनेकान्त । इति प्रमाणसंप्लववादी दर्शयन्नाह पूर्वप्रत्यक्षेण इत्यादि। एतत् परिहरति–तद् यदि प्रतिक्षणं क्षणविवेक दर्शिनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नोपयोगितया पृथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः। अथ सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषानभि-प्रेत्योच्यते तदा सकलमेव नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकात्मि-कामध्यवस्यन्तीति प्रामाण्यमप्युत्तरेषामनिष्टमेवेति कुतो-ऽनेकान्तः?''–हेतुबिन्दु टी. लि. पृ. ३९

विद्यानन्दि का कुछ झुकाव अवश्य उन्हें प्रमाण कहने का प्रतीत होता है।[१] परन्तु जब वे सर्वथा अपूर्वार्थत्व का विरोध करके कथंचित् अपूर्वार्थ स्वीकार कर लेते हैं तब यही मालूम होता है कि उन्हें भी धारावाहिक ज्ञानों में अप्रामाण्य इष्ट है। दूसरे, उन्होंने परिच्छित्तिविशेष के अभाव में जिस प्रकार प्रमाण सम्प्लव स्वीकार नहीं किया है[२] उसी प्रकार प्रमिति विशेष के अभाव में धारावाहिक ज्ञानों को अप्रमाण मानने का भी उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है। अतः धारावाहिक ज्ञानों से यदि प्रमिति विशेष उत्पन्न नहीं होती है तो उन्हें अप्रमाण (प्रमाण नहीं) कहना अयुक्त नहीं है। न्यायदीपिकाकार ने भी प्रथम घटादिज्ञान के अलावा उत्तरवर्ती अवशिष्ट घटादिज्ञानों को अज्ञान-निवृत्तिरूप प्रमिति को उत्पन्न न करने के कारण अप्रमाण ही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है और इस तरह उन्होंने अकलंकमार्ग का ही समर्थन किया है।

६. प्रामाण्यविचार–

ऐसा कोई भी तर्कग्रन्थ न होगा जिसमें प्रमाण के प्रामाण्याप्रामाण्य का विचार प्रस्फुटित न हुआ हो। ऐसा मालूम होता है कि प्रारम्भ में प्रामाण्य का विचार वेदों की प्रमाणता स्थापित करने के लिए हुआ था।[३] जब उसका तर्क के क्षेत्र में प्रवेश हुआ तब प्रत्यक्षादि ज्ञानों की भी

---

१. ''गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥''–तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १७४।

२. ''उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसम्प्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोग-विशेषे देशादिविशेष-समवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्-प्रतिपित्सते''–अष्टसहस्री पृ. ४

३. ''प्रत्यक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतः प्रामाण्यमुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम्, अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्, अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्त्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽ-वश्य-कर्त्तव्यः, तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः।''– न्यायमंजरी, पृ. १५५

प्रमाणता और अप्रमाणता का विचार होने लगा। प्रत्येक दार्शनिकों को अपने तर्कग्रन्थ में प्रामाण्य और अप्रमाण्य तथा उनके स्वतः और परतः होने का कथन करना अनिवार्य-सा हो गया[१] और यही कारण है कि प्रायः छोटे से छोटे तर्कग्रन्थ में भी वह चर्चा आज देखने को मिलती है।

नैयायिक-वैशेषिक[२] दोनों को परतः, सांख्य[३] दोनों को स्वतः, मीमांसक[४] प्रामाण्य को तो स्वतः और अप्रामाण्य को परतः तथा बौद्ध[५] दोनों को किंचित् स्वतः और दोनों को ही किंचित् परतः वर्णित करते हैं। जैन दर्शन[६] में अभ्यास और अनभ्यासदशा में उत्पत्ति तो दोनों की परतः और ज्ञप्ति अभ्यासदशा में स्वतः तथा अनभ्यासदशा में परतः मानी गई है। धर्मभूषण ने भी प्रमाणता की उत्पत्ति परतः ही और निश्चय (ज्ञप्ति) अभ्यस्त विषय में स्वतः एवं अनभ्यस्त विषय में परतः बतलाया है।

७. प्रमाण के भेद—

दार्शनिक रूप से प्रमाण के भेदों को गिनाने वाली सबसे पुरानी परम्परा कौन है ? और किसकी है ? इसका स्पष्ट निर्देश तो उपलब्ध दार्शनिक साहित्य में नहीं मिलता है, किन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि प्रमाण के स्पष्टतया चार भेद गिनाने वाले न्यायसूत्रकार गौतम[७] से भी

---

१. ''सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा।'' मी. श्लो. श्लो. ३३। ''प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञान-गोचरम्। स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम्।''-न्यायमंजरी, पृ. १४६

२. ''द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्''-न्यायमंजरी, पृ.१६०, कन्दली. पृ.२२०

३. ''प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।''- सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २७९

४. ''स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते॥''मीमांसाश्लो. वा. सू. २ श्लो. ४७

५. ''उभयमपि एतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परत इति...''-तत्त्वसं.पं. का ३१२३

६. ''तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च''- परीक्षामुख १-१३,
''प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा॥' - प्रमाणप. पृ. ६३

७. ''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।'' - न्यायसू. १-१-३

पहले प्रमाण के अनेक भेदों की मान्यता रही है; क्योंकि उन्होंने ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव–इन चार का स्पष्टतया उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणता का निरसन किया है तथा शब्द में ऐतिह्य का और अनुमान में शेष तीन का अन्तर्भाव हो जाने का कथन किया है।[१] प्रशस्तपाद[२] ने भी अपने वैशेषिकदर्शनानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान–इन दो ही प्रमाणों का समर्थन करते हुए उल्लिखित प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। प्रसिद्धि के आधार पर इतना और कहा जा सकता है कि आठ प्रमाण की मान्यता सम्भवतः पौराणिकों की है। कुछ भी हो, प्रमाण को अनेक भेद रूप प्रारम्भ से ही माना जा रहा है और प्रत्येक दर्शनकार ने कम से कम प्रमाण मानने का प्रयत्न किया है तथा शेष प्रमाणों को उसी अपनी स्वीकृत प्रमाणसंख्या में ही अन्तर्भाव करने का समर्थन किया है। यही कारण है कि सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रमाणवादी दार्शनिक जगत् में आविर्भूत हुए हैं। एक ऐसा भी मत रहा जो सात प्रमाण मानता था। छह प्रमाण मानने वाले जैमिनी अथवा भाट्ट, पाँच प्रमाण मानने वाले प्राभाकर, चार प्रमाण कहने वाले नैयायिक, तीन प्रमाण मानने वाले सांख्य, दो प्रमाण स्वीकृत करने वाले वैशेषिक और बौद्ध तथा एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक तो आज भी दर्शनशास्त्र की चर्चा के विषय बने हुए हैं।

जैन दर्शन के सामने भी यह प्रश्न था कि वह कितने प्रमाण मानता है ? यद्यपि मत्यादि पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान या प्रमाण मानने की परम्परा अति सुप्राचीनकाल से ही आगमों में निबद्ध और मौखिक रूप से सुरक्षित चली आ रही थी, पर जैनेतरों के लिए वह अलौकिक जैसी प्रतीत होती थी–उसका दर्शनान्तरीय प्रमाण–निरूपण से मेल नहीं खाता था। इस प्रश्न

---

१. ''न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्।'' – न्यायसूत्र २–२–१, शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः॥'' – न्यायसूत्र२–२–२

२. देखो, प्रशस्तपादभाष्य पृ. १०६–१११

का उत्तर सर्वप्रथम[1] दार्शनिक रूप से सम्भवतः प्रथम शताब्दी में हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति[2] ने दिया है। उन्होंने कहा कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और वह मूल में दो ही भेदरूप है–१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। आचार्य उमास्वाति का यह मौलिक प्रमाणद्वयविभाग इतना सुविचारपूर्वक और कौशल्यपूर्ण हुआ है कि प्रमाणों का आनन्त्य भी इन्हीं दो में समा जाता है। इनसे अतिरिक्त पृथक् तृतीय प्रमाण मानने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं रहती है। जबकि वैशेषिक और बौद्धों के प्रत्यक्ष तथा अनुमान रूप द्विविध प्रमाण–विभाग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्होंने अति संक्षेप में मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) इनको भी प्रमाणान्तर होने का संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कहकर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्र के द्वारा परोक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भूत कर लिया है।[3] आचार्य उमास्वामी ने इस प्रकार प्रमाणद्वय का विभाग करके उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए प्रशस्त और सरल मार्ग बना दिया। दर्शनान्तरों में प्रसिद्ध उपमानादिक को भी परोक्ष में ही अन्तर्भाव होने का स्पष्ट निर्देश उनके बाद में होने वाले पूज्यपाद ने कर दिया।[4] अकलंकदेव ने उसी मार्ग पर चलकर परोक्ष–प्रमाण के भेदों की स्पष्ट संख्या बतलाते

१. यद्यपि श्वेताम्बरीय स्थानाङ्ग और भगवती में भी प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप प्रमाणद्वय का विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे श्रद्धेय पण्डित सुखलालजी निर्युक्तिकार भद्रबाहु के बाद का मानते हैं, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। देखो, प्रमाणमी. भा. टि. पृष्ठ २०, और भद्रबाहु के समय के लिए देखो, श्वे. मुनि विद्वान् श्रीचतुर–विजयजी का 'श्रीभद्रबाहु' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ३ कि. १२ तथा ''क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?'' शीर्षक मेरा लेख, 'अनेकान्त' वर्ष ६ कि. १०–११ पृ. ३३८

२. ''तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।'' – तत्त्वार्थसूत्र १–१०, ११, १२

३. ''मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्''–तत्त्वार्थसूत्र १–१४

४. ''उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्।''
''अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भावः॥'' – सर्वार्थसिद्धि पृ. ६४

हुए उनकी सयुक्तिक सिद्धि की और प्रत्येक का लक्षण प्रणयन किया।[1] आगे तो परोक्ष-प्रमाण के सम्बन्ध में उमास्वाति और अकलंक ने जो दिशा निर्धारित की उसी पर सब जैन तार्किक अविरुद्ध रूप से चले हैं। अकलंकदेव के सामने भी एक प्रश्न उपस्थित हुआ। वह यह कि लोक में तो इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाता है पर जैन दर्शन उसे परोक्ष कहता है, यह लोक विरोध कैसा? इसका समाधान उन्होंने बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दों में दिया है। वे कहते हैं[2] प्रत्यक्ष दो प्रकार का है-१. सांव्यवहारिक और २. मुख्य। लोक में जिस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा जाता है वह व्यवहार से तथा देशतः वैशद्य होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में जैनों को इष्ट है। अतः कोई लोक विरोध नहीं है। अकलंक के इस बहुमुखी प्रतिभा के समाधान ने सबको चकित किया। फिर तो जैन तर्क ग्रन्थकारों ने इसे बड़े आदर के साथ एक स्वर से स्वीकार किया और अपने-अपने ग्रन्थों में अपनाया। इस तरह सूत्रकार उमास्वाति ने जो प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष-ये दो भेद निर्धारित किये थे, उन्हें ही जैन तार्किकों ने परिपुष्ट और समर्थित किया है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि समन्तभद्र स्वामी ने[3], जो उमास्वाति के उत्तरवर्ती और पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं प्रमाण के अन्य प्रकार से भी दो भेद किये हैं-१. अक्रमभावी और २. क्रमभावी। केवलज्ञान अक्रमभावी है और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावी हैं, पर यह प्रमाणद्वय का विभाग उपयोग के क्रमाक्रम की अपेक्षा से है। समन्तभद्र के लिए आप्तमीमांसा में आप्त विवेचनीय विषय है, अतः आप्त के ज्ञान को उन्होंने अक्रमभावी और

---

१. ''ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।
प्राङ्नामयोजनात् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥''-लघीयस्त्रय का. ११
''परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः''-लघीयस्त्रय का. ३।

२. ''प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।''-लघीयस्त्रय का. ३

३. ''तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥''-आप्तमीमांसा का. १०१
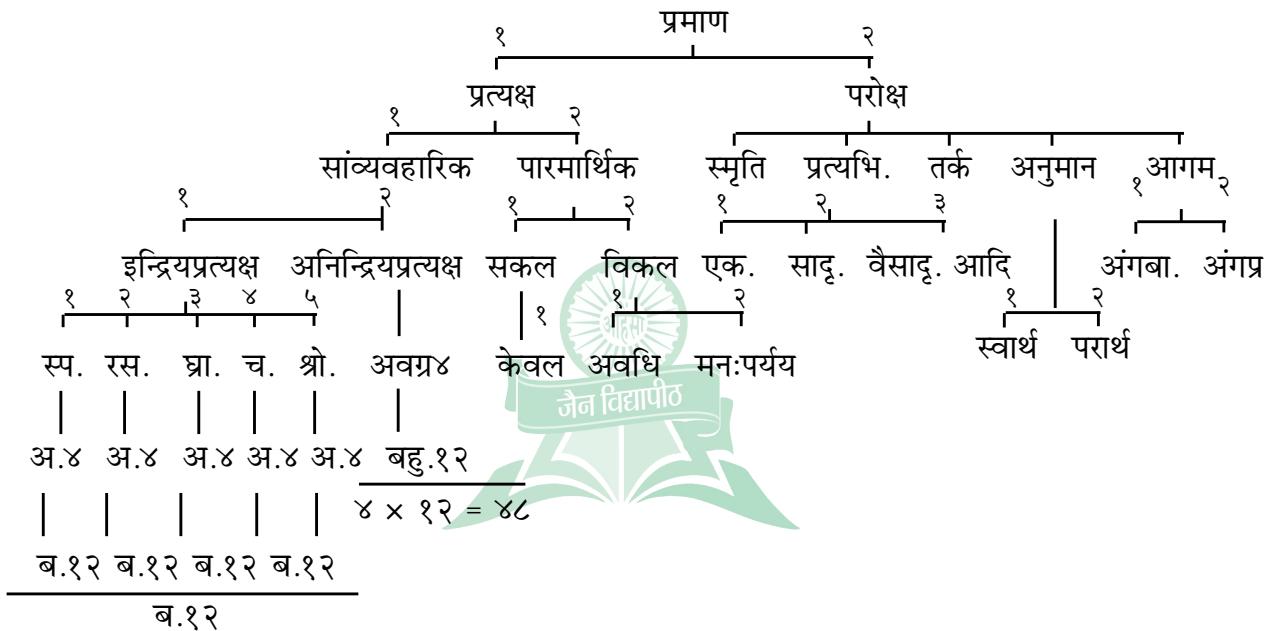
४८ + ४८+४८+४८+४८+४८ (व्यंजनावग्रह के) = २८८ इन्द्रिय प्र.

४८ अनि. प्र.

३३६

आप्तभिन्न अनाप्त (छद्मस्थ) जीवों के प्रमाणज्ञान को क्रमभावी बतलाया है, इसलिए उपयोगभेद या व्यक्तिभेद की दृष्टि से किया गया यह प्रमाणद्वय का विभाग है। आचार्य धर्मभूषण ने सूत्रकार उमास्वामी निर्दिष्ट प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप ही प्रमाण के दो भेद प्रदर्शित किये हैं और उनके उत्तर भेदों की पूर्वपरम्परानुसार परिगणना की है। जैन दर्शन में प्रमाण के जो भेद-प्रभेद किये गये हैं वे इस प्रकार हैं[१]-

८. प्रत्यक्ष का लक्षण

दार्शनिक जगत् में प्रत्यक्ष का लक्षण अनेक प्रकार का उपलब्ध होता है। नैयायिक और वैशेषिक सामान्यतया इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं।[२] सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को और मीमांसक[३] इन्द्रियों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होने वाली बुद्धि (ज्ञान) को प्रत्यक्ष मानते हैं। बौद्ध दर्शन में तीन मान्यतायें हैं -१. वसुबन्धु[४] की, २. दिग्नाग की और ३. धर्मकीर्ति की। वसुबन्धु ने अर्थजन्य निर्विकल्पक बुद्धि को, दिग्नाग[५] ने नामजात्यादिरूप कल्पना से रहित निर्विकल्प ज्ञान की और धर्मकीर्ति[६] ने निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। सामान्यतया निर्विकल्पक को सभी बौद्ध तार्किकों ने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। दर्शनान्तरों में और भी कितने ही प्रत्यक्ष-लक्षण किये गये हैं, पर वे सब इस संक्षिप्त स्थान पर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

१. "स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तस्य बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवेषु तदितरेष्वर्थेषु वर्तमानस्य प्रतीन्द्रियमष्ट-चत्वारिंशद्भेदस्य व्यञ्जनावग्रहभेदैरष्टः चत्वारिंशता सहितस्य संख्याष्टाशीत्युत्तरद्विशती प्रतिपत्तव्या। तथा अतिन्द्रियप्रत्यक्षं बह्वादिद्वादशप्रकारार्थ-विषयमवग्रहादिविकल्पमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतिपत्तव्यम्।"- प्रमाणपरीक्षा पृ. ६५
२. "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" - न्यायसूत्र. १-१-४
३. "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्।" -जैमिनिसूत्र १-१-४
४. "अर्थादिज्ञानं प्रत्यक्षम्।" - प्रमाणसमुच्चय, पृ. ३२
५. "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्॥" - प्रमाणसमुच्चय १-३
६. "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।" - न्यायबिन्दु, पृ. ११

जैन दर्शन में सबसे पहले सिद्धसेन[१] (न्यायावतारकार) ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। उन्होंने अपरोक्ष रूप से अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। इस लक्षण में अन्योन्याश्रय नाम का दोष होता है क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण परोक्ष घटित है और परोक्ष का लक्षण (प्रत्यक्षभिन्नत्व) प्रत्यक्ष घटित है। अकलंकदेव[२] ने प्रत्यक्ष का ऐसा लक्षण बनाया जिससे वह दोष नहीं रहा। उन्होंने कहा कि जो ज्ञान विशद है–स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष है। यह लक्षण अपने आप में स्पष्ट तो है ही, साथ में बहुत ही संक्षिप्त और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से पूर्णतः रहित भी है। सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंक का यह अकलंक लक्षण जैन परम्परा में इतना प्रतिष्ठित और व्यापक हुआ कि दोनों ही सम्प्रदायों के श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों ने बड़े आदरभाव से अपनाया है। जहाँ तक मालूम है फिर दूसरे किसी जैन तार्किक को प्रत्यक्ष का अन्य लक्षण बनाना आवश्यक नहीं हुआ और यदि किसी ने बनाया भी हो तो उसकी उतनी न तो प्रतिष्ठा हुई है और न उसे उतना अपनाया ही गया है। अकलंकदेव ने अपने प्रत्यक्ष–लक्षण में उपात्त वैशद्य[३] का भी खुलासा कर दिया है। उन्होंने अनुमानादिक की अपेक्षा विशेष प्रतिभास होने को वैशद्य कहा है। आ. धर्मभूषण ने भी अकलंक प्रतिष्ठित इन प्रत्यक्ष और वैशद्य के लक्षणों को अपनाया है और उनके सूत्रात्मक कथन को और अधिक स्फुटित किया है।

९. अर्थ और आलोक की कारणता–

बौद्ध, ज्ञान के प्रति अर्थ और आलोक को कारण मानते हैं। उन्होंने चार प्रत्ययों (कारणों) से सम्पूर्ण ज्ञानों (स्वसंवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित

---

१. ''अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेयं परोक्षं गृहणेक्षया॥'' – न्यायाव. का. ४

२. 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्।' – लघीय. का. ३,
''प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा॥'' – न्यायवि. का. ३

३. ''अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥'' – लघीय. का. ४

की है। वे प्रत्यय ये हैं–१. समनन्तर प्रत्यय, २. आधिपत्य प्रत्यय, ३. आलम्बन प्रत्यय और ४. सहकारी प्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है इसलिए वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियाँ आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं। अर्थ (विषय) आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारी प्रत्यय हैं। इस तरह बौद्धों ने इन्द्रियों के अलावा अर्थ और आलोक को भी कारण स्वीकार किया है। अर्थ की कारणता पर तो यहाँ तक जोर दिया है कि ज्ञान यदि अर्थ से उत्पन्न न हो तो वह अर्थ को विषय भी नहीं कर सकता है[१]। यद्यपि नैयायिक आदि ने भी अर्थ को ज्ञान का कारण माना है, पर उन्होंने उतना जोर नहीं दिया। इसका कारण यह है कि नैयायिक आदि ज्ञान के प्रति सीधा कारण सन्निकर्ष को मानते हैं। अर्थ तो सन्निकर्ष द्वारा कारण होता है। अतएव जैन तार्किकों ने नैयायिक आदि के अर्थकारणतावाद पर उतना विचार नहीं किया जितना कि बौद्धों के अर्थालोककारणतावाद पर किया है। एक बात और है; बौद्धों ने अर्थजन्यत्व, अर्थाकारता और अर्थाध्यवसाय–इन तीन को ज्ञान प्रामाण्य के प्रति प्रयोजक बतलाया है और प्रतिकर्म व्यवस्था भी ज्ञान के अर्थजन्य होने में ही की है। अतः आवरण क्षयोपशम को ही प्रत्येक ज्ञान के प्रति कारण मानने वाले जैनों के लिए यह उचित और आवश्यक था कि वे बौद्धों के इस मन्तव्य पर पूर्ण विचार करें और उनके अर्थालोककारणत्व पर सबलता के साथ चर्चा चलाएँ तथा जैन दृष्टि से विषय–विषयी के प्रतिनियमन की व्यवस्था का प्रयोजक कारण स्थिर करें। कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम सूक्ष्मदृष्टि अकलंकदेव ने अपनी सफल लेखनी चलाई है और अर्थालोककारणता का सयुक्तिक निरसन किया है तथा स्वावरण क्षयोपशम को विषय–विषयी का प्रतिनियामक बताकर ज्ञान प्रामाण्य का प्रयोजक संवाद (अर्थाव्यभिचार) को बताया है। उन्होंने संक्षेप में कह दिया[२] कि ''ज्ञान

१. ''नाकरणं विषयः'' इति वचनात्।

२. ''अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत्॥''–लघी. ५३

अर्थ से उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि ज्ञान तो ''यह अर्थ है'' यही जानता है ''अर्थ से मैं उत्पन्न हुआ'' इस बात को वह नहीं जानता। यदि जानता होता तो किसी को विवाद नहीं होना चाहिए था। जैसे घट और कुम्हार के कार्यकारण भाव में किसी को विवाद नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थ तो विषय (ज्ञेय) है, वह कारण कैसे हो सकता है ? कारण तो इन्द्रिय और मन हैं। तीसरे, अर्थ के रहने पर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभाव में भी केशोण्डुकादि का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोक भी ज्ञान के प्रति कारण नहीं है, क्योंकि आलोकाभाव में उल्लू आदि को ज्ञान होता है और आलोकसद्भाव में संशयादि ज्ञान देखे जाते हैं। अतः अर्थादिक ज्ञान के कारण नहीं हैं, किन्तु आवरण-क्षयोपशमापेक्ष इन्द्रिय और मन ही ज्ञान के कारण हैं। इसके साथ ही उन्होंने अर्थजन्यत्व आदि को ज्ञान की प्रमाणता में अप्रयोजक बतलाते हुए कहा है[१] कि ''तदुत्पत्ति, तद्रूप्य और तदध्यवसाय- ये तीनों मिलकर अथवा प्रत्येक भी प्रमाणता में

''अर्थस्य तदकारणत्वात्। तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात्।'' - लघी. स्वो. का. ५२

''यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः। नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः इति बालिशगीतम्, तामसखग-कुलानां तमसि सति रूपदर्शन-मावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशया-दिज्ञानसम्भवात्। काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकार-ज्ञानोत्पत्तेः मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति।''-लघी. ५७

१. ''न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम्॥
नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात्, तद्भावे चाऽभावात्। नार्थसारूप्यभृद्विज्ञानम्, अमूर्त्तत्वात्। मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः, नामूर्तं मूर्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्तं च ज्ञानम्, मूर्तिधर्माभावात्। न हि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत्। ततः तदध्यवसायो न स्यात्। कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्षणत्वेन ?''-लघीय. स्वो. का. ५८

कारण नहीं हैं क्योंकि अर्थ ज्ञानक्षण को प्राप्त न होकर पहले ही नष्ट हो जाता है और ज्ञान अर्थ के अभाव में ही होता है, उसके रहते हुए नहीं होता, इसलिए तदुत्पत्ति ज्ञान-प्रामाण्य में प्रयोजक नहीं है। ज्ञान अमूर्त है, इसलिए उसमें आकार सम्भव नहीं है। मूर्तिक दर्पणादि में ही आकार देखा जाता है। अतः तदाकारता भी नहीं बनती है। ज्ञान में अर्थ नहीं और न अर्थ ज्ञानात्मक है जिससे ज्ञान के प्रतिभासमान होने पर अर्थ का भी प्रतिभास हो जाय। अतः तदध्यवसाय भी उत्पन्न नहीं होता। जब ये तीनों बनते ही नहीं तब वे प्रामाण्य के प्रति कारण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार अर्थ अपने कारणों से होता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने (इन्द्रिय-क्षयोपशमादि) कारणों से होता है।[१] इसलिए संवाद (अर्थाव्यभिचार) को ही ज्ञान प्रामाण्य का कारण मानना संगत और उचित है।'' अकलंकदेव का यह सयुक्तिक निरूपण ही उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र आदि सभी जैन नैयायिकों के लिए आधार हुआ है। धर्मभूषण ने भी इसी पूर्व परम्परा का अनुसरण करके बौद्धों के अर्थालोककारणवाद की सुन्दर समालोचना की है।

१०. सन्निकर्ष–

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का स्वरूप मानते हैं। पर वह निर्दोष नहीं है। प्रथम तो, वह अज्ञान रूप है और इसलिए वह अज्ञाननिवृत्ति रूप प्रमिति के प्रति करण-प्रमाण ही नहीं बन सकता है तब वह प्रत्यक्ष का स्वरूप कैसे हो सकता है ? दूसरे, सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का लक्षण मानने में अव्याप्ति नाम का दोष आता है; क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय बिना सन्निकर्ष के ही रूपादि का ज्ञान कराती है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि चक्षुरिन्द्रिय अर्थ को प्राप्त करके रूपज्ञान कराती है। कारण, चक्षुरिन्द्रिय दूर स्थित होकर ही पदार्थ-ज्ञान कराती हुई प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत होती है। तीसरे, आप्त

---

१. ''स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥'' - लघीय. का. ५९

में प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि आप्त के इन्द्रिय या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षपूर्वक ज्ञान नहीं होता। अन्यथा सर्वज्ञता नहीं बन सकती है। कारण, सूक्ष्मादि पदार्थों में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष सम्भव नहीं है।[१] अतः सन्निकर्ष अव्याप्त होने तथा अज्ञानात्मक होने से प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता है।

११. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष–

इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है।[२] सांव्यवहारिक उसे इसलिए कहते हैं कि लोक में दूसरे दर्शनकार इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव में जो ज्ञान पर निरपेक्ष एवं आत्ममात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोकव्यवहार का समन्वय करने की दृष्टि से अक्षजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्त की भाषा में तो उसे परोक्ष ही कहा गया है। जैन दर्शन में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के जो मतिज्ञान रूप हैं, भेद और प्रभेद सब मिलकर ३३६ बताये गये हैं, जिन्हें एक नक्शे के द्वारा पहले ही बता दिया गया है।

१२. मुख्य प्रत्यक्ष–

दार्शनिक जगत् में प्रायः सभी ने एक ऐसे प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है, जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष[३], योगि प्रत्यक्ष[४] या योगि ज्ञान के नाम से कहा गया है। यद्यपि किसी-किसी ने इस प्रत्यक्ष में मन की अपेक्षा भी वर्णित की है तथापि योगजधर्म का प्रामुख्य होने के कारण उसे अलौकिक ही कहा गया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि आत्मा में एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन दर्शन में ऐसे ही आत्ममात्र सापेक्ष साक्षात्मक अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक

---

१. सर्वार्थसि. १-१२। तथा न्यायविनिश्चय का. १६७

२. "सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्" - लघी. स्वो. का. ४

३. "एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्।" - सिद्धान्तमु., पृ. ४७

४. "भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षम्।" - न्यायबिन्दु, पृ. २०

प्रत्यक्ष माना गया है और जिस प्रकार दूसरे दर्शनों में अलौकिक प्रत्यक्ष के भी परिचित्तज्ञान, तारक, कैवल्य या युक्त, युञ्जान आदि रूप से भेद पाये जाते हैं उसी प्रकार जैन दर्शन में भी विकल, सकल अथवा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान रूप से मुख्य प्रत्यक्ष के भी भेद वर्णित किये गये हैं। विशेष यह कि नैयायिक और वैशेषिक प्रत्यक्ष ज्ञान को अतीन्द्रिय मानकर भी उसका अस्तित्व केवल नित्य ज्ञानाधिकरण ईश्वर में ही बतलाते हैं, पर जैन दर्शन प्रत्येक आत्मा में उसका सम्भव प्रतिपादन करता है और उसे विशिष्ट आत्मशुद्धि से पैदा होने वाला बतलाता है। आचार्य धर्मभूषण ने भी अनेक युक्तियों के साथ ऐसे ज्ञान का उपपादन एवं समर्थन किया है।

१३. सर्वज्ञता—

भारतीय दर्शनशास्त्रों में सर्वज्ञता पर बहुत ही व्यापक और विस्तृत विचार किया गया है। चार्वाक और मीमांसक—ये दो ही दर्शन ऐसे हैं जो सर्वज्ञता का निषेध करते हैं। शेष सभी नैयायिक-वैशेषिक, योग-सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन सर्वज्ञता का स्पष्ट विधान करते हैं। चार्वाक इन्द्रियगोचर, भौतिक पदार्थों का ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनके मत में परलोक, पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं हैं। भूतचैतन्य के अलावा कोई नित्य अतीन्द्रिय आत्मा भी नहीं है। अतः चार्वाक दर्शन में अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञ आत्मा का होना सम्भव नहीं है। मीमांसक परलोक, पुण्यपाप, नित्य आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को मानते अवश्य हैं, पर उनका कहना है कि धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद के द्वारा ही हो सकता है।[1] पुरुष तो रागादि दोषों से युक्त है। चूँकि रागादि दोष स्वाभाविक हैं और इसलिए वे आत्मा से कभी नहीं छूट सकते हैं। अतएव रागादि दोषों के सर्वदा बने रहने के कारण प्रत्यक्ष से धर्मा-धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। नैयायिक-वैशेषिक ईश्वर में सर्वज्ञत्व मानने के अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओं में भी

---

१. ''चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीय-कमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।'' - शावरभा. १-१-२

स्वीकार करते हैं।[१] परन्तु उनका वह सर्वज्ञत्व मोक्षप्राप्ति के बाद नष्ट हो जाता है क्योंकि वह योगजन्य होने से अनित्य है। हाँ, ईश्वर का सर्वज्ञत्व नित्य एवं शाश्वत है। प्रायः यही मान्यता सांख्य, योग और वेदान्त की है। इतनी विशेषता है कि वे आत्मा में सर्वज्ञत्व न मानकर बुद्धितत्त्व में ही सर्वज्ञत्व मानते हैं जो मुक्त अवस्था में छूट जाता है।

मीमांसक दर्शन[२] जहाँ केवल धर्मज्ञता का निषेध करता है और सर्वज्ञता के मानने में इष्टापत्ति प्रकट करता है वहाँ बौद्ध दर्शन[३] में सर्वज्ञता को अनुपयोगी बतलाकर धर्मज्ञता को प्रश्रय दिया गया है। यद्यपि शान्तरक्षित[४] प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने सर्वज्ञता का भी साधन किया है पर वह गौण है।[५] मुख्यतया बौद्ध दर्शन धर्मज्ञवादी ही प्रतीत होता है।

जैन दर्शन में आगम ग्रन्थों और तर्कग्रन्थों में सर्वत्र धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों का ही प्रारम्भ से प्रतिपादन एवं प्रबल समर्थन किया गया है। षट्खण्डागमसूत्रों[६] में सर्वज्ञत्व और धर्मज्ञत्व का स्पष्टतः समर्थन मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द[७] ने प्रवचनसार में विस्तृत रूप से सर्वज्ञता की सिद्धि

१. ''अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्त-राकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनः....।''- प्रशस्तपा. भा. पृ. १८७

२. ''धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते।'' तत्त्वसं. का. ३१२८ तत्त्वसंग्रह में यह श्लोक कुमारिल के नाम से उद्धृत हुआ है।

३. ''तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। कीटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नः क्वोपयुज्यते। हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्ठो न तु सर्वस्य वेदकः॥'' - प्रमाणवा. २-३१, ३२

४. ''स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते।
साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते।'' - तत्त्वसं. का ३३०९

५. ''मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्व-साधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्।''- तत्त्वसं. पं. पृ. ८३३

६. ''सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभागे सव्वं समं जाणदि पस्सदि....'' - षट्खं. पयडिअणु. सू. ७८

७. देखो, प्रवचनसार, ज्ञानमीमांसा।

की है। उत्तरवर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्दि प्रभृति जैन तार्किकों ने धर्मज्ञत्व को सर्वज्ञत्व के भीतर ही गर्भित करके सर्वज्ञत्व पर महत्त्वपूर्ण प्रकरण लिखे हैं। समन्तभद्र की आप्तमीमांसा को तो अकलंकदेव[1] ने ''सर्वज्ञविशेषपरीक्षा'' कहा है। कुछ भी हो, सर्वज्ञता के सम्बन्ध में जितना अधिक चिन्तन जैनदर्शन ने किया है और भारतीय दर्शनशास्त्र को तत्सम्बन्धी विपुल साहित्य से समृद्ध बनाया है उतना अन्य दूसरे दर्शन ने शायद ही किया हो।

अकलंकदेव[2] ने सर्वज्ञत्व के साधन में अनेक युक्तियों के साथ एक युक्ति बड़े मार्के की कही है। वह यह कि सर्वज्ञ के सद्भाव में कोई बाधक प्रमाण नहीं है इसलिए उसका अस्तित्व होना ही चाहिए। उन्होंने जो भी बाधक हो सकते हैं उन सबका सुन्दर ढंग से निराकरण भी किया है। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण युक्ति उन्होंने यह दी है[3] कि 'आत्मा' 'ज्ञ'– ज्ञाता है और उसके ज्ञान स्वभाव को ढकने वाले आवरण दूर होते हैं, अतः आवरणों के विच्छिन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिए फिर ज्ञेय जानने योग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थपरिज्ञान होना अवश्यम्भावी है ? इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञान में साधक न होकर बाधक हैं। वे जहाँ नहीं हैं और आवरणों का पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। वीरसेन स्वामी[4] और आचार्य विद्यानन्दि[5] ने इसी आशय के एक महत्त्वपूर्ण श्लोक[6] को उद्धृत करके ज्ञस्वभाव आत्मा में सर्वज्ञता का

---

१. देखो, अष्टश. का. ११४

२. देखो, अष्टश. का. ३

३. ''ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्।'' – न्यायवि. का. ४६५, तथा देखो, का. ३६१, ३६२

४. देखो, जयधवला प्र.भा. पृष्ठ ६६

५. देखो, अष्टस. पृष्ठ ५०

६. ''ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने।''

उपपादन किया है जो वस्तुतः अकेला ही सर्वज्ञता को सिद्ध करने में समर्थ एवं पर्याप्त है। इस तरह हम देखते हैं कि जैन परम्परा में मुख्य और निरुपाधिक एवं निरवधि सर्वज्ञता मानी गई है। वह सांख्य, योगादि की तरह जीवन्मुक्त अवस्था तक ही सीमित नहीं रहती, मुक्त अवस्था में भी अनन्तकाल तक बनी रहती है क्योंकि ज्ञान आत्मा का मूलभूत निजी स्वभाव है और सर्वज्ञता आवरणाभाव में उसी का विकसित पूर्ण रूप है। इतर दर्शनों की तरह वह न तो मात्र आत्म मनःसंयोगादि जन्य है और न योगज विभूति ही है। आचार्य धर्मभूषण ने स्वामी समन्तभद्र की सरणि से सर्वज्ञता का साधन किया है और उन्हीं की सर्वज्ञत्वसाधिका कारिकाओं का स्फुट विवरण किया है। प्रथम तो सामान्य सर्वज्ञ का समर्थन किया है। पीछे 'निर्दोषत्व' हेतु के द्वारा अरहन्त जिन को ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

१४. परोक्ष—

जैन दर्शन में प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धों[१] ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषयभूत अर्थ में किया है, क्योंकि उन्होंने दो प्रकार का अर्थ माना है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात्क्रियमाण है और परोक्ष उससे भिन्न है; तथापि जैन परम्परा में[२] 'परोक्ष' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय से परोक्ष ज्ञान में ही होता चला आ रहा है। दूसरे प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म है। ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने से अर्थ भी उपचार से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। यह अवश्य है कि जैन दर्शन के इस 'परोक्ष' शब्द का व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरों को कुछ विलक्षण-सी मालूम होगी परन्तु वह इतनी सुनिश्चित और वस्तुस्पर्शी है कि शब्द को तोड़े मरोड़े बिना ही सहज में आर्थिक बोध हो जाता है। परोक्ष की जैनदर्शन सम्मत परिभाषा

---

१. ''द्विविधो हि अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः। परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्य-मानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः।''-प्रमाणप. पृष्ठ ६५ न्यायवा. तात्प. पृष्ठ १५८

२. ''जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।'' - प्रवचनसा. गा. ५८

विलक्षण इसलिए मालूम होगी कि लोक में इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को परोक्ष कहा गया है,[१] जबकि जैन दर्शन में इन्द्रियादि पर की अपेक्षा से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है।[२]वास्तव में 'परोक्ष' शब्द से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। इस परिभाषा को ही केन्द्र बनाकर अकलंकदेव ने परोक्ष की एक दूसरी परिभाषा रची है। उन्होंने अविशद ज्ञान को परोक्ष कहा है।[३] जान पड़ता है कि अकलंकदेव का यह प्रयत्न सिद्धान्त मत का लोक के साथ समन्वय करने की दृष्टि से हुआ है। बाद में तो अकलंकदेवकृत यह परोक्ष-लक्षण जैन परम्परा में इतना प्रतिष्ठित हुआ है कि उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों[४] ने उसे अपनाया है। यद्यपि सबकी दृष्टि परोक्ष को परापेक्ष मानने की ही रही है।

आचार्य कुन्दकुन्द[५] ने परोक्ष का लक्षण तो कर दिया था, परन्तु उसके भेदों का कोई निर्देश नहीं किया था। उनके पश्चात्वर्ती आचार्य उमास्वामी ने परोक्ष के भेदों को भी स्पष्टतया सूचित कर दिया और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान–ये दो भेद बतलाये। मतिज्ञान के भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध–ये पर्याय नाम कहे। चूँकि मतिज्ञान सामान्य रूप है, अतः मतिज्ञान के चार भेद हैं। इनमें श्रुत को और मिला देने पर परोक्ष के फलतः उन्होंने पाँच भी भेद सूचित कर दिए और पूज्यपाद ने उपमानादिक के प्रमाणान्तरत्व का निराकरण करते हुए उन्हें परोक्ष में ही अन्तर्भाव हो जाने का संकेत कर दिया। लेकिन परोक्ष के पाँच भेदों की सिलसिलेवार व्यवस्था सर्वप्रथम अकलंकदेव ने की है।[६] इसके बाद माणिक्यनन्दि आदि ने परोक्ष के पाँच ही भेद वर्णित किये हैं। हाँ, आचार्य

१. देखो, सर्वार्थसि. १-१२
२. सर्वार्थसि. १-११
३. ''ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।''- लघीय. स्वो. का. ३
४. परीक्षामु. २-१, प्रमाणपरी. पृष्ठ ६९
५. प्रवचनसार १-५८
६. लघीय. का. १० और प्रमाणसं. का. २

वादिराज[1] ने अवश्य परोक्ष के अनुमान और आगम–ये दो भेद बतलाये हैं। पर इन दो भेदों की परम्परा उन्हीं तक सीमित रही है, आगे नहीं चली, क्योंकि उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थकार ने उसे नहीं अपनाया। कुछ भी हो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम–इन्हें सभी ने निर्विवाद परोक्ष–प्रमाण स्वीकार किया है। अभिनव धर्मभूषण ने भी इन्हीं पाँच भेदों का कथन किया है।

१५. स्मृति

यद्यपि अनुभूतार्थविषयक ज्ञान के रूप में स्मृति को सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है पर जैन दर्शन के सिवाय उसे प्रमाण कोई नहीं मानते हैं। साधारणतया सबका कहना यही है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय में ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीतग्राही होने से वह प्रमाण नहीं है।[2] नैयायिक–वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध सबका प्रायः यही अभिप्राय है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि प्रामाण्य में प्रयोजक अविसंवाद है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ में विसंवाद न होने से वह प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थ में भी कोई विसंवाद नहीं होता है; जहाँ होता है वह स्मृत्याभास है[3]; अतः स्मृति प्रमाण ही होना चाहिए। दूसरे, विस्मरणादि रूप समारोप का व्यवच्छेद करती है इसलिए भी वह प्रमाण है। तीसरे, अनुभव तो वर्तमान अर्थ को ही विषय करता है और स्मृति अतीत अर्थ को विषय करती है। अतः स्मृति कथंचित् अगृहीतग्राही होने से प्रमाण ही है।

---

१. ''तच्च (परोक्षं) द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्य–विकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधम्, स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञा, तर्कश्चेति......।''–प्रमाणनि. पृष्ठ ३३

२. ''सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।'' – तत्त्ववैशा. १–११

३. देखो, प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ ६९

१६. प्रत्यभिज्ञान–

पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्ती वस्तु को विषय करने वाले प्रत्यय को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यवमर्श, संज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये उसी के पर्याय नाम हैं। बौद्ध चूँकि क्षणिकवादी हैं इसलिए वे उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में रहने वाला जब कोई एकत्व है ही नहीं तब उसको विषय करने वाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है ? अतः ''यह वही है''–यह ज्ञान सादृश्यविषयक है। अथवा प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञानों का समुच्चय है।[१] 'यह' अंश को विषय करने वाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वह' अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञान स्मरण है, इस तरह वे दो ज्ञान हैं। अतएव यदि एकत्वविषयक ज्ञान हो भी तो वह भ्रान्त है– अप्रमाण है। इसके विपरीत नैयायिक–वैशेषिक और मीमांसक जो कि स्थिरवादी हैं, एकत्वविषयक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रमाण तो मानते हैं पर वे उस ज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं।[२] जैनदर्शन का मन्तव्य है[३] कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धों की तरह अप्रमाण है और न नैयायिक–वैशेषिक आदि की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मरण के अनन्तर उत्पन्न होने वाला और पूर्व तथा उत्तर पर्यायों में रहने वाले वास्तविक एकत्व, सादृश्य आदि को विषय करने वाला स्वतन्त्र ही परोक्ष–प्रमाणविशेष है। प्रत्यक्ष तो मात्र वर्तमान

---

१. ''ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वात्, इदमिति संवेदनस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्षसंवेदनद्वितयवत्। ततो नैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवति।''– प्रमाणप. पृष्ठ ६९

२. देखो, न्यायदी. पृष्ठ ५८ का फुटनोट

३. ''स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि तदिति स्मरणं तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मकं तस्या– तीतविवर्त्तमात्रगो–चरत्वात्। नापीदमिति संवेदनं तस्य वर्त्तमान–विवर्त्तमात्र– विषयत्वात्। ताभ्यामुपजन्यं तु संकलनज्ञानं तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यवमृशत् ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्व–विषयं तदपह्नवे क्व चिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात्।''– प्रमाणप. पृष्ठ ६९, ७०

पर्याय को ही विषय करता है और स्मरण अतीत पर्याय को ग्रहण करता है। अतः उभयपर्यायवर्ती एकत्वादिक को जानने वाला संकलनात्मक (जोड़ रूप) प्रत्यभिज्ञान नाम का जुदा ही प्रमाण है। यदि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एकत्व का अपलाप किया जावेगा तो कहीं भी एकत्व का प्रत्यय न होने से एक सन्तान की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्वादिक वास्तविक होने से वह प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं और विराट प्रतिभास न होने से उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु स्पष्ट प्रतीति होने से वह परोक्ष प्रमाण का प्रत्यभिज्ञान नामक भेद विशेष है। इसके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद जैन दर्शन में माने गये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य विद्यानन्दि[१] ने प्रत्यभिज्ञान के एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान–ये दो ही भेद बतलाये हैं। लेकिन दूसरे सभी जैन तार्किकों ने उल्लिखित अनेक-दो से अधिक भेद गिनाये हैं। इसे एक मान्यताभेद ही कहा जा सकता है। धर्मभूषण ने एकत्व, सादृश्य और वैसादृश्य विषयक तीन प्रत्यभिज्ञान को उदाहरण द्वारा कण्ठोक्त कहा है और यथाप्रतीति अन्य प्रत्यभिज्ञानों को भी स्वयं जानने की सूचना की है। इससे यह मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानों की दो या तीन आदि कोई निश्चित संख्या नहीं है। अकलंकदेव[२], माणिक्यनन्दि[३] और लघु अनन्तवीर्य[४] ने प्रत्यभिज्ञान के बहु भेदों की ओर स्पष्टतया संकेत भी किया है। इस उपर्युक्त विवेचन से यही फलित होता है कि दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होने वाले जितने भी संकलनात्मक ज्ञान हों वे सब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण समझना चाहिए। भले ही वे एक से अधिक क्यों न हो, उन सबका प्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यही कारण है कि नैयायिक जिस सादृश्य विषयक ज्ञान को उपमान नाम का अलग प्रमाण मानता है वह

---

१. देखो, तत्त्वार्थश्लोक पृ. १९०, अष्टसहस्री पृ. २७९, प्रमाणपरीक्षा पृ. ६९

२. देखो, लघीय. का २१

३. परीक्षामुखसूत्र ३-५-१०

४. प्रमेयरत्नमाला ३-१०

जैन दर्शन में सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। उपमान को पृथक् प्रमाण मानने की हालत में वैसादृश्य, प्रतियोगित्व, दूरत्व आदि विषयक ज्ञानों को भी उसे पृथक् प्रमाण मानने का आपादन किया गया है[१] परन्तु जैन दर्शन में इन सबको संकलनात्मक होने से प्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

१७. तर्क –

सामान्यतया विचार विशेष का नाम तर्क है। उसे चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि भी कहते हैं। इसे प्रायः सभी दर्शनकारों ने माना है। न्यायदर्शन[२] में वह एक पदार्थान्तर रूप से स्वीकृत किया गया है। तर्क के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में न्यायदर्शन[३] का अभिमत है कि तर्क न तो प्रमाणचतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण और न प्रमाणान्तर है क्योंकि वह अपरिच्छेदक है। किन्तु परिच्छेदक प्रमाणों के विषय का विभाजक–युक्तायुक्त विचारक होने से उनका यह अनुग्राहक–सहकारी है। तात्पर्य यह कि प्रमाण से जाना हुआ पदार्थ तर्क के द्वारा पुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ पदार्थों को जानते हैं वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणता के स्थितिकरण में सहायता पहुँचाता है।[४] हम देखते हैं कि

---

१. ''उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
यदि किञ्चविशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते।
प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते।''– न्यायवि. का. ४७२ तथा का. १९, २०।

२. देखो न्यायसूत्र १–१–१

३. ''तर्को न प्रमाणसंग्रहीतो न प्रमाणान्तरमपरिच्छेदकत्वात्..... प्रमाणविषयविभागात्तु प्रमाणानामनुग्राहकः। यः प्रमाणानां विषयस्तं विभजते। कः पुनर्विभागः ? युक्तायुक्तविचारः। इदं युक्तमिदमयुक्तमिति। यत्तत्र युक्तं भवति तदनुजानाति न त्ववधारयति। अनवधारणात् प्रमाणान्तरं न भवति।'' – न्यायवा. पृ. १७

४. ''तर्कः प्रमाणसहायो न प्रमाणमिति प्रत्यक्षसिद्धत्वात्।'' – न्यायवा. ता. परिशु. पृ. ३२७, ''तथापि तर्कस्यारोपिताव्यवस्थितसत्त्वौपाधिकसत्त्वविषयत्वेना–निश्चायकतया प्रमारूपत्वाभावात्। तथा च संशयात्प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्तः तर्क इत्याहुः अन्यत्राचार्याः। संशयो हि दोलायितानेककोटिकः। तर्कस्तु नियतां कोटि–मालम्ब्यते।'' – तात्पर्यपरिशु. पृ. ३२६

न्यायदर्शन में तर्क को प्रारम्भ में सभी प्रमाणों के सहायक रूप से माना गया है किन्तु पीछे उदयनाचार्य[१], वर्द्धमानोपाध्याय[२]आदि पिछले नैयायिकों ने विशेषतः अनुमान प्रमाण में ही व्यभिचारशंका के निवर्तक और परम्परया व्याप्तिग्राहक रूप से तर्क को स्वीकार किया है तथा व्याप्ति में ही तर्क का उपयोग बतलाया है।[३] विश्वनाथ पञ्चानन का कहना है[४] कि हेतु में अप्रयोजकत्वादि की शंका की निवृत्ति के लिए तर्क आपेक्षित होता है जहाँ हेतु में अप्रयोजकत्वादि की शंका नहीं होती है वहाँ तर्क अपेक्षित भी नहीं होता है। तर्कसंग्रहकार अन्नभट्ट[५] ने तो तर्क को अयथार्थानुभव (अप्रमाण) ही बतलाया है। इस तरह न्यायदर्शन में तर्क की मान्यता अनेक तरह की है पर उसे प्रमाण रूप में किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। बौद्ध, तर्क को व्याप्तिग्राहक मानते तो हैं पर उसे प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक[६] ऊह के नाम से तर्क को प्रमाण मानते हैं।

जैन तार्किक प्रारम्भ से ही तर्क के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं और उसे सकलदेशकालव्यापी अविनाभावरूप व्याप्ति का ग्राहक मानते आये हैं। व्याप्ति ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है; क्योंकि वह सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है और व्याप्ति सर्वदेशकाल के

---

१. ''अनभिमतकोटावनिष्टप्रसंगेनानियतकोटिसंशयादिनिवृत्तिरूपोऽनुमितिविषयवि-भागस्तर्केण क्रियते।'' - तात्पर्यपरिशु, पृष्ठ ३२५, ''तर्कः शङ्कावधिर्मतः।.... यावदाशङ्कं तर्कप्रवृत्तेः। तेन हि वर्तमाने सोपाधिकोटौ तदायत्तव्यभिचारकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेक्छा विच्छिद्यते। विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्ध-साहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति॥''-न्यायकु. ३-७

२. ''तर्कसहकृतभूयोदर्शनजसंस्कारसचिवप्रमाणेन व्याप्तिर्गृह्यते।''-न्यायकुसु. प्रकाश. ३-७

३. ''तत्र का व्याप्तिर्यत्र तर्कोपयोगः। न तावत् स्वाभाविकत्वम्......।'' - न्यायकुसु. प्रकाश. ३-७

४. देखो, न्यायसूत्रवृत्ति १-१-४०

५. देखो, तर्कसं. पृ. १५६

६. ''त्रिविधश्च ऊहः मंत्रसामसंस्कारविषयः।'' - शावरभा. ९-१-१

उपसंहारपूर्वक होती है। अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। कारण, प्रकृत अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण मानने पर अन्योन्याश्रय और अन्य अनुमान से मानने पर अनवस्था दोष आता है। अतः व्याप्ति के ग्रहण करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक एवं अनिवार्य है। धर्मभूषण ने भी तर्क को पृथक् प्रमाण सयुक्तिक सिद्ध किया है।

१८. अनुमान–

यद्यपि चार्वाक के सिवाय नैयायिक–वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभी दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है और उसके स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान–ये दो भेद भी प्रायः सभी ने स्वीकार किये हैं। पर लक्षण के विषय में सबकी एक वाक्यता नहीं है। नैयायिक[१] पाँच रूप हेतु से अनुमेय के ज्ञान को अथवा अनुमितिकरण (लिंग परामर्श) को अनुमान मानते हैं। वैशेषिक[२], सांख्य[३] और बौद्ध[४] त्रिरूप लिंग से अनुमेयार्थ ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

मीमांसक[५] (प्रभाकर के अनुगामी) नियतसम्बन्धैकदर्शनादि चतुष्टय कारणों (चतुर्लक्षण लिंग) से साध्यज्ञान को अनुमान वर्णित करते हैं।

जैन दार्शनिक अविनाभावरूप एक लक्षण साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रतिपादन करते हैं। वास्तव में जिस हेतु का साध्य के साथ

१. देखो, न्यायवा. १–१–५

२. ''लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्। लिंगं पुनः– यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्।......यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेय–विपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति॥''– प्रशस्तपा. भा. पृ. १००

३. माठरवृ. का. ५

४. ''अनुमानं लिंगादर्थदर्शनम्। लिङ्गं पुनस्त्रिरूपमुक्तम्। तस्माद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानमुत्पद्यतेऽ–ग्निरत्र अनित्यः शब्दः इति वा तदनुमानम्।'' – न्यायप्र. पृ. ७

५. ''ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात्। एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते। ...तस्मात्पूर्णमिदमनमानुकारणपरिगणनम्–नियतसम्बन्धैक देशदर्शनं सम्बन्ध–नियमस्मरणं चाबाधकञ्चाबाधितविषयत्वं चेति।'–प्रकरणपञ्जि०, पृ. ६४, ७६

अविनाभाव (बिना-साध्य के अभाव में, अ-साधन का न, भाव-होना) अर्थात् अन्यथानुपपत्ति निश्चित है उस साध्याविनाभावी हेतु से जो साध्य का ज्ञान होता है वही अनुमान है। यदि हेतु साध्य के साथ अविनाभूत नहीं है तो वह साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है और यदि साध्य का अविनाभावी है तो नियम से वह साध्य का ज्ञान करायेगा। अतएव जैन तार्किकों ने त्रिरूप या पञ्चरूप आदि लिंग से जनित ज्ञान को अनुमान न कहकर अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान का लक्षण कहा है[1]। आचार्य धर्मभूषण ने भी अनुमान का यही लक्षण बतलाया है और उसका सयुक्तिक विशद व्याख्यान किया है।

१९. अवयवमान्यता–

परार्थानुमान प्रयोग के अवयवों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय और महत्त्व की चर्चा है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से जानने योग्य है। दार्शनिक परम्परा में सबसे पहले गौतम[2] ने परार्थानुमान प्रयोग के पाँच अवयवों का निर्देश किया है और प्रत्येक का स्पष्ट कथन किया है। वे अवयव ये हैं- १. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन। उनके टीकाकार वात्स्यायन[3] ने नैयायिकों की दशावयवमान्यता का भी उल्लेख किया है। इससे कम या और अधिक अवयवों की मान्यता का उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। इससे मालूम होता है कि वात्स्यायन के सामने सिर्फ दो मान्यताएँ थीं, एक पञ्चावयव की, जो स्वयं सूत्रकार की है और दूसरी दशावयवों की, जो दूसरे किन्हीं नैयायिकों की है। आगे चलकर हमें उद्योतकर के न्यायवार्तिक[4] में खण्डन सहित तीन

---

१. "लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्। लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हाना-दिबुद्धयः॥"-लघीय. का. १२, "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्...।"-न्यायवि. का. १७०, "साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।"-परीक्षामु.३-१४, प्रमाणपरी. पृ. ७०

२. "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः॥" - न्यायसूत्र १-१-३२

३. दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति।" - न्यायवात्स्या. भा. १-१-३२

४. "अपरे त्र्यवयवमिति××× त्र्यवयवमपि वाक्यं यथा न भवति तथोपनयनि-गमनयोरर्थान्तरभावं वर्णयन्तो वक्ष्यामः।" - न्यायवा. पृ. १०७, १०८

अवयवों की मान्यता का निर्देश मिलता है। यह मान्यता बौद्ध विद्वान् दिग्नाग की है, क्योंकि वात्स्यायन के बाद उद्योतकर के पहले दिग्नाग[१] ने ही अधिक से अधिक तीन अवयव स्वीकृत किये हैं। सांख्य विद्वान् माठर यदि दिग्नाग के पूर्ववर्ती हैं तो तीन अवयवों की मान्यता माठर[२] की समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्र[३] ने दो अवयव (हेतु और दृष्टान्त) की मान्यता का उल्लेख किया है और तीन अवयव निषेध की तरह उसका निषेध किया है। यह द्व्यवयव की मान्यता बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति की है; क्योंकि हेतु रूप एक अवयव के अतिरिक्त हेतु और दृष्टान्त दो अवयवों को भी धर्मकीर्ति[४] ने स्वीकार किया है तथा दिग्नाग सम्मत पक्ष, हेतु और दृष्टान्त में से पक्ष (प्रतिज्ञा) को निकाल दिया है। अतः वाचस्पति मिश्र ने धर्मकीर्ति की ही द्व्यवयव मान्यता का उल्लेख किया है और उसे प्रतिज्ञा को मानने के लिए संकेत किया है। यद्यपि जैन विद्वानों[५] ने भी दो अवयवों को माना है पर उनकी मान्यता उपर्युक्त मान्यता से भिन्न है। ऊपर की मान्यता में तो हेतु और दृष्टान्त ये दो अवयव हैं और जैन विद्वानों की मान्यता में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव हैं। जैन तार्किकों ने प्रतिज्ञा का समर्थन[६] और दृष्टान्त का निराकरण[७] किया है। तीन अवयवों की मान्यता

---

१. "पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते इति........एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते।" – न्यायप्र. पृ. १, २
२. "पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्।" – माठरवृ. का. ५
३. "त्र्यवयवग्रहणमुपलक्षणार्थम्, द्व्यवयवमपीत्यपि दृष्टव्यम्.......त्र्यवयवम-पीत्यपिना द्व्यवयवप्रतिषेध समुच्चिनोतिउपनयनिगमनयोरित्यत्र प्रतिज्ञाया अपीति दृष्टव्यम्।" न्यायवा. तात्प. पृ. २६६, २६७
४. "अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि....।"– वादन्या. पृ. ६१, "तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।" प्रमाणावा. १–१२८
५. "एतद्द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम्।"– परीक्षामुख ३–३७
६. देखो, परीक्षामुख ३–३४–३६
७. देखो, परीक्षामुख ३–३८–४३

सांख्यों (माठर का. ५) और बौद्धों के अलावा मीमांसकों (प्रकरण पं. पृष्ठ ८३-८५) की भी है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयर. ३-३६) और उनके अनुसर्ता हेमचन्द्र (प्रमाणमी. २-१-८) मीमांसकों की चार अवयव मान्यता का भी उल्लेख करते हैं। यदि इनका उल्लेख ठीक है तो कहना होगा कि चार अवयवों को मानने वाले भी कोई मीमांसक रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दशावयव[१] और पञ्चावयव की मान्यता नैयायिकों की है। चार और तीन अवयवों की मीमांसकों, तीन अवयवों की सांख्यों, तीन, दो और एक अवयवों की बौद्धों और दो अवयवों की मान्यता जैनों की है। वादिदेवसूरि[२] ने धर्मकीर्ति की तरह विद्वान् के लिए अकेले हेतु का भी प्रयोग बतलाया है पर अन्य सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों ने परार्थानुमान प्रयोग के कम से कम दो अवयव अवश्य स्वीकृत किये हैं। प्रतिपाद्यों के अनुरोध से तो तीन, चार और पाँच भी अवयव माने हैं। आचार्य धर्मभूषण ने पूर्व परम्परानुसार वाद कथा की अपेक्षा दो और वीतराग कथा की अपेक्षा अधिक अवयवों के भी प्रयोग का समर्थन किया है।

२०. हेतु का लक्षण

हेतु के लक्षण के सम्बन्ध में दार्शनिकों का भिन्न-भिन्न मत है। वैशेषिक[३], सांख्य[४] और बौद्ध[५] हेतु का त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतु का त्रिरूप लक्षण अधिकांशतः बौद्धों का ही प्रसिद्ध है, वैशेषिक और सांख्यों का नहीं। इसका कारण यह है कि त्रैरूप्य के विषय में जितना

---

१. निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने (दश. नि. गा. १३७) भी दशावयवों का कथन किया है पर वे नैयायिकों से भिन्न हैं।

२. देखो, स्याद्वादरत्नाकर पृ. ५४८

३. देखो, प्रस्तावना पृ. ४५ का फुटनोट।

४. सांख्यका. माठर पृ. ५

५. "हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम् सपक्षे सत्त्वम् विपक्षे चासत्त्व-मिति।"-न्यायप्र. पृ. १

सूक्ष्म और विस्तृत विचार बौद्ध विद्वानों ने किया है तथा 'हेतुबिन्दु' जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है[१] उतना वैशेषिक और सांख्य विद्वानों ने न तो विचार ही किया है और न कोई उस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं, पर हेतु के त्रैरूप्य की मान्यता वैशेषिक एवं सांख्यों की भी है और वह बौद्धों की अपेक्षा प्राचीन है क्योंकि बौद्धों की त्रैरूप्य की मान्यता तो वसुबन्धु और मुख्यतया दिग्नाग से ही प्रारम्भ हुई जान पड़ती है, किन्तु वैशेषिक और सांख्यों के त्रैरूप्य की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही है। प्रशस्तपाद[२] ने अपने प्रशस्तपादभाष्य (पृष्ठ १००) में काश्यप और कणाद[३] कथित दो पद्यों को उद्धृत किया है, जिनमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृति इन तीनरूपों का स्पष्ट प्रतिपादन एवं समर्थन है और माठर ने अपनी सांख्यकारिकावृत्ति में उनका निर्देश किया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि त्रिरूप लिंग को वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीनों ने स्वीकार किया है।

नैयायिक[४] पूर्वोक्त तीन रूपों में अबाधितविषयत्व और असत्प्रति–पक्षत्व इन दो रूपों को और मिलाकर पाँच रूप हेतु का कथन करते हैं। यह त्रैरूप्य और पाँच रूप की मान्यता अति प्रसिद्ध है और जिसका

१. यही वजह है कि तर्कग्रन्थों में बौद्धाभिमत ही त्रैरूप्य का विस्तृत खण्डन पाया जाता है और 'त्रिलक्षणकदर्थन' जैसे ग्रन्थ रचे गये हैं।

२. ये दिग्नाग (४२५ A.D.) के पूर्ववर्ती हैं और लगभग तीसरी चौथी शताब्दी इनका समय माना जाता है।

३. उद्योतकर ने 'काश्यपीयम्' शब्दों के साथ न्यायवार्तिक (पृ. ९९) में कणाद का संशय लक्षण वाला 'सामान्यप्रत्यक्षात्' आदि सूत्र उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि काश्यप कणाद का ही नामान्तर था, जो वैशेषिक दर्शन का प्रणेता एवं प्रवर्तक है।

४. ''गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्; तच्च पञ्चलक्षणम्, कानि पुनः पञ्चलक्षणानि ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षधसत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति।.... एतैः पंचभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति।'' – न्यायमं. पृ. १०१, न्यायकलि. पृ. २, न्यायावा. ता. पृ. १७१

खण्डन-मण्डन न्यायग्रन्थों में बहुलतया मिलता है किन्तु इनके अलावा भी हेतु के द्विलक्षण, चतुर्लक्षण और षड्लक्षण एवं एकलक्षण की मान्यताओं का उल्लेख तर्क ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षण की मान्यता सम्भवतः मीमांसकों की मालूम होती है, जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथ ने[१] किया है। उद्योतकर[२] और वाचस्पति मिश्र[३] के अभिप्रायानुसार पंचलक्षण की तरह द्विलक्षण, त्रिलक्षण और चतुर्लक्षण की मान्यताएँ नैयायिकों की ज्ञात होती हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जयन्तभट्ट[४]ने पञ्चलक्षण हेतु का ही समर्थन किया है, उन्होंने अपञ्चलक्षण को हेतु नहीं माना। पिछले नैयायिक शंकरमिश्र[५] ने हेतु की गमकता में जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हों उतने रूपों को हेतु-लक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वयव्यतिरेकी हेतु में पाँच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओं में चार ही रूप गमकतोपयोगी बतलाये हैं। यहाँ एक खास बात और ध्यान देने की है; वह यह कि जिस

---

१. देखो, प्रस्तावना पृ. ४२ का फुटनोट।

२. ''साध्ये व्यापकत्वम्, उदाहरणे चासम्भवः। एवं द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च हेतुर्लभ्यते।'' - न्यायवा. पृ. ११९। ''च शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति।'' - न्यायवा. पृ. ४६

३. ''एतदुक्तं भवति, अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्षं पूर्ववदिति ध्रुवं कृत्वा शेषवदित्येका विधा, सामान्यतोदृष्टमिति द्वितीया, शेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति तृतीया, तदेवं त्रिविधमनुमानम्। तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम्। एकं पंचलक्षणमिति॥''-न्यायवा. ता. पृ. १७४

४. ''केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव अपञ्चलक्षणस्य हेतुत्वाभावात्। केवलव्यतिरेकी तु क्वचिद् विषयेऽन्वयव्यतिरेकमूलः प्रवर्त्तते नात्यन्तमन्वयबाह्यः।''-न्यायकलि. पृ. १०

५. ''केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वा-बाधितासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वय-व्यतिरेकिणस्तु हेतोः विपक्षासत्त्वेन सह पंच। केवलव्यतिरेकेणः सपक्षसत्त्व-व्यतिरेकेण चत्वारि। तथा च यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि स हेतुः।'' - वैशेषि. उप. पृ. ९७

अविनाभाव को जैन तार्किकों ने हेतु का लक्षण प्रतिपादन किया है, उसे जयन्तभट्ट[१] और वाचस्पति[२] ने पंच लक्षणों में समाप्त माना है अर्थात् अविनाभाव के द्वारा ही सर्व रूपों के ग्रहण हो जाने पर जोर दिया है, पर वे अपनी पंचलक्षण या चार लक्षण वाली नैयायिक परम्परा के मोह का त्याग नहीं कर सके। इस तरह नैयायिकों के यहाँ कोई एक निश्चित पक्ष रहा मालूम नहीं होता। हाँ, उनका पाँच रूप हेतु–लक्षण अधिक एवं मुख्य प्रसिद्ध रहा और इसीलिए उसी का खण्डन दूसरे तार्किकों ने किया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने 'अपरे' शब्दों के साथ, जिसका अर्चट[३] ने नैयायिक और मीमांसकों आदि अर्थ किया है, हेतु की पंचलक्षणों के साथ ज्ञातत्व को मिलाकर षड्लक्षण मान्यता का भी उल्लेख किया है। यद्यपि यह षड्लक्षण वाली मान्यता न तो नैयायिकों के यहाँ उपलब्ध होती है और न मीमांसकों के यहाँ ही पाई जाती है, फिर भी सम्भव है कि अर्चट के सामने किसी नैयायिक या मीमांसक आदि का हेतु को षड्लक्षण मानने का पक्ष रहा हो और जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। यह भी सम्भव है कि प्राचीन नैयायिकों ने जो ज्ञायमान लिङ्ग को और भाट्टों ने ज्ञातिता को अनुमिति में कारण माना है और जिसकी आलोचना विश्वनाथ पंचानन ने[४]

---

१. ''एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते। अविनाभावो व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः।'' – न्यायकलि. पृ. २

२. ''यद्यप्यविनाभावः पंचसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिङ्गरूपाणि सङ्गृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः संग्रहे गोवलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेका–सत्प्रतिपक्षत्वा–बाधितविषयत्वानि संग्रह्णाति।'' – न्यायवा. ता. पृ. १७८

३. ''षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे। नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते। कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्ते इत्याह.....त्रीणि चैतानि पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकाख्याणि, तथा अबाधितविषयत्वं चतुर्थं रूपम् तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरं.... तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वं च, न ह्यज्ञातो हेतुः स्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति।''– हेतुवि. पृष्ठ ६८, हेतुवि. टी. पृ. २०५

४. ''प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति। तद् दूषयति अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि।'' – सि मु. पृ. ५०, ''भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तथा ज्ञानमनुमीयते।''–सि.मु.पृ. ११९

की है उसी का उल्लेख अर्चट ने किया हो।

एक लक्षण की मान्यता असन्दिग्ध रूप से जैन विद्वानों की है, जो अविनाभाव या अन्यथानुपपत्तिरूप है और अकलंकदेव के भी पहले से चली आ रही है। उसका मूल सम्भवतः समन्तभद्र स्वामी के **''सधर्मेणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः''** (आप्तमी. का. १०६) इस वाक्य के 'अविरोधतः' पद में सन्निहित है। अकलंकदेव[१] ने उसका वैसा विवरण भी किया है और विद्यानन्दि[२] ने तो उसे स्पष्टतः हेतु लक्षण का ही प्रतिपादक कहा है। अकलंकदेव के पहले एक पात्रकेशरी या पात्रस्वामी नाम के प्रसिद्ध जैनाचार्य भी हो गये हैं जिन्होंने त्रैरूप्य का कदर्थन करने के लिए '**त्रिलक्षणकदर्थन**' नामक ग्रन्थ रचा है और हेतु का एकमात्र '**अन्यथा-नुपपन्नत्व**' लक्षण स्थिर किया है। उनके उत्तरवर्ती सिद्धसेन[३], अकलंक, वीरसेन[४], कुमारनन्दि, विद्यानन्दि, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि सभी जैन तार्किकों ने **अन्यथानुपपन्नत्व** (अविनाभाव) को ही हेतु का लक्षण होने का सबलता के साथ समर्थन किया है। वस्तुतः अविनाभाव ही हेतु की गमकता में प्रयोजक है। त्रैरूप्य या पाञ्चरूप्य तो गुरुभूत एवं अविनाभाव का ही विस्तार है। इतना ही नहीं, दोनों अव्यापक भी हैं। कृतिकोदयादि हेतु पक्षधर्म नहीं हैं फिर भी अविनाभाव रहने से गमक देखे जाते हैं। आचार्य

१. ''सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यम्, अविरोधात् इत्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत्। एकलक्षणस्य तु गमकत्वं ''नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते'' इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात्। - अष्टश. आप्तमी. का. १०६

२. ''भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात्।'' - अष्टस. पृ. २८९

३. सिद्धसेन ने अन्यथानुपपन्नत्व को ''अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्''- न्यायवा. का. २१, शब्दों द्वारा दोहराया है और 'ईरितम्' शब्द का प्रयोग करके उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण स्थापित किया है।

४. देखो, धवला, पु. १३, पृ. २४६

धर्मभूषण ने भी त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य की सोपपत्तिक आलोचना करके "**अन्यथानुपपन्नत्व**" को ही हेतु-लक्षण सिद्ध किया है और निम्न दो कारिकाओं के द्वारा अपने वक्तव्य को पुष्ट किया है:

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।"

इनमें पिछली कारिका आचार्य विद्यानन्दि की स्वोपज्ञ है और वह प्रमाण-परीक्षा में उपलब्ध है। परन्तु पहली कारिका किसकी है ?- इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कारिका त्रैरूप्य-खण्डन के लिए रची गई है और वह बड़े महत्त्व की है। विद्यानन्दि ने अपनी उपर्युक्त कारिका भी इसी के आधार पर पाँचरूप्य का खण्डन करने के लिए बनाई है। इस कारिका के कर्तृत्वसम्बन्ध में ग्रन्थकारों का मतभेद है। सिद्धिविनिश्चयटीका के कर्ता अनन्तवीर्य[१] ने उसका उद्गम सीमन्धर स्वामी से बतलाया है। प्रभाचन्द्र[२] और वादिराज[३] कहते हैं कि उक्त कारिका सीमन्धर स्वामी के समवसरण से लाकर पद्मावती देवी ने पात्रकेशरी अथवा पात्रस्वामी के लिए समर्पित की थी। विद्यानन्दि[४] उसे वार्तिककार की कहते हैं। वादिदेवसूरि[५] और शान्तरक्षित[६] पात्रस्वामी की प्रकट करते हैं। इस तरह इस कारिका के कर्तृत्व का अनिर्णय बहुत पुरातन है।

---

१. सिद्धिविनि. टीका पृ. ३०० ए
२. देखो, गद्यकथाकोशगत पात्रकेशरी की कथा।
३. न्यायवि. वि. २-१५४ पृ. १७७
४. तत्त्वार्थश्लोक, पृ. २०५
५. स्या. रत्ना. पृ. ५२१
६. तत्त्वसं. पृ. ४०६

देखना यह है कि उसका कर्ता है कौन ? उपर्युक्त सभी ग्रन्थकार ईसा की आठवीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी के भीतर हैं और शान्तरक्षित (७०५-७६३ ईसवी) सब में प्राचीन है। शान्तरक्षित ने पात्रस्वामी के नाम से और भी कितनी ही कारिकाओं तथा पद-वाक्यादिकों का उल्लेख करके उनका आलोचन किया है। इससे यह निश्चित रूप से मालूम हो जाता है कि शान्तरक्षित के सामने पात्रस्वामी का कोई ग्रन्थ अवश्य ही रहा है। जैन साहित्य में पात्रस्वामी की दो रचनाएँ मानी जाती हैं-१. त्रिलक्षणकदर्थन और २. पात्रकेशरीस्तोत्र। इनमें दूसरी रचना तो उपलब्ध है, पर पहली रचना उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थान्तरों आदि में उसके उल्लेख मिलते हैं। 'पात्रकेशरीस्तोत्र' एक स्तोत्र ग्रन्थ है और उसमें आप्तस्तुति के बहाने सिद्धान्त मत का प्रतिपादन है। इसमें पात्रस्वामी के नाम से शान्तरक्षित के द्वारा तत्त्वसंग्रह में उद्धृत कारिकाएँ, पद, वाक्यादि कोई नहीं पाये जाते। अतः यही सम्भव है कि वे त्रिलक्षणकदर्थन के हों; क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थ का नाम ही यह बताता है कि उसमें त्रिलक्षण का कदर्थन खण्डन किया गया है। दूसरे, पात्रस्वामी की अन्य तीसरी आदि कोई रचना नहीं सुनी जाती जिससे वे कारिकादि सम्भावनास्पद होते। तीसरे, अनन्तवीर्य की चर्चा से मालूम होता है कि उस समय एक आचार्य-परम्परा ऐसी भी थी, जो अन्यथानुपपत्ति वार्तिक को त्रिलक्षण-कदर्थन का बतलाती थी। चौथे, वादिराज[१] के उल्लेख और श्रवणवेलगोला की मल्लिषेणप्रशस्तिगत पात्रकेशरी विषयक 'प्रशंसापद्य'[२] से भी उक्त वार्तिकादि त्रिलक्षणकदर्थन के जान पड़ते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पात्रकेशरी नाम के एक ही विद्वान् जैन साहित्य में माने जाते हैं और जो दिग्नाग (४२५ ईसवी) के उत्तरवर्ती एवं अकलंकदेव के पूर्वकालीन हैं। अकलंक ने उक्त वार्तिक को न्यायविनिश्चय (का. २२३ के रूप में) में

१. देखो, न्यायवि. वि.

२. ''महिमा स पात्रकेशरिगुरोः परं भवति यस्य भक्तयासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्।''

दिया है और सिद्धिविनिश्चय के 'हेतुलक्षणसिद्धि' नाम के छठवें प्रस्ताव के आरम्भ में उसे स्वामी का 'अमलालीढ' पद कहा है। अकलंकदेव शान्तरक्षित[१] के समकालीन हैं और इसलिए यह कहा जा सकता है कि पात्रस्वामी की जो रचना (त्रिलक्षणकदर्थन) शान्तरक्षित के सामने रही वह अकलंकदेव के भी सामने अवश्य रही होगी। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध विद्वान् शान्त-रक्षित के लिए जो उक्त वार्तिक का कर्ता निर्भ्रान्तरूप से पात्रस्वामी विवक्षित है वही अकलंकदेव को 'स्वामी' पद से अभिप्रेत है। इसलिए स्वामी तथा 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद (वार्तिक) का सहभाव और शान्तरक्षित के सुपरिचित उल्लेख इस बात को मानने के लिए हमें सहायता करते हैं कि उपर्युक्त पहली कारिका पात्रस्वामी की ही होनी चाहिए। अकलंक और शान्तरक्षित के उल्लेखों के बाद विद्यानन्दि का उल्लेख आता है जिसके द्वारा उन्होंने उक्त वार्तिक को वार्तिककार का बतलाया है। यह वार्तिककार राजवार्तिककार अकलंकदेव मालूम नहीं होते[२]; क्योंकि उक्त वार्तिक (कारिका) राजवार्तिक में नहीं है, न्यायविनिश्चय में है। विद्यानन्दि ने राजवार्तिक के पद-वाक्यादि को ही राजवार्तिककार (तत्त्वार्थवार्तिककार) के नाम से उद्धृत किया है, न्यायविनिश्चय आदि के नहीं। अतः विद्यानन्दि का 'वार्तिककार' पद से 'अन्यथानुपपत्ति' वार्तिक के कर्ता वार्तिककार पात्रस्वामी ही अभिप्रेत हैं। यद्यपि वार्तिककार से न्यायविनिश्चयकार अकलंकदेव का ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि न्यायविनिश्चय में वह वार्तिक मूलरूप में उपलब्ध है किन्तु विद्यानंदि ने न्यायविनिश्चय के पद-वाक्यादि को 'न्यायविनिश्चय' के नाम से अथवा 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' आदि रूप से ही सर्वत्र उद्धृत किया है। अतः वार्तिककार से पात्रस्वामी ही विद्यानन्दि को विवक्षित जान पड़ते हैं। यह हो सकता है कि वे 'पात्रस्वामी' नाम की अपेक्षा वार्तिक और वार्तिककार नाम से

१. शान्तरक्षित का समय ७०५ से ७६२ और अकलंकदेव का समय ७२० से ७८० ईसवी माना जाता है। देखो, अकलंकग्र. की प्र. पृ. ३२

२. कुछ विद्वान् वार्तिककार से राजवार्तिककार का ग्रहण करते हैं। देखो, न्यायकुमु. प्र. प्र. पृ. ७६ और अकलंक टि. पृ. १६४

अधिक परिचित होंगे, पर उनका अभिप्राय उसे राजवार्तिककार के कहने का तो प्रतीत नहीं होता।

अब अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र तथा वादिराज के उल्लेख आते हैं। सो वे मान्यता-भेद या आचार्य-परम्परा-श्रुति को लेकर हैं। उन्हें न तो मिथ्या कहा जा सकता है और न विरुद्ध हो सकता है कि पात्रस्वामी ने अपने इष्टदेव सीमन्धरस्वामी के स्मरणपूर्वक और पद्मावती देवी की सहायता से उक्त महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट अमलालीढ- निर्दोषपद (वार्तिक) की रचना की होगी और इस तरह पर अनन्त वीर्य आदि आचार्यों के कर्तृत्व विषयक अपनी-अपनी परिचिति के अनुसार उक्त उल्लेख किये हैं। यह कोई असम्बद्ध, काल्पनिक एवं अभिनव बात नहीं है। दिगम्बर परम्परा में ही नहीं श्वेताम्बर परम्परा, वैदिक और बौद्ध सभी भारतीय परम्पराओं में है। समस्त द्वादशांग श्रुत, मनःपर्यय आदि ज्ञान, विभिन्न विभूतियाँ मन्त्रसिद्धि, ग्रन्थ-समाप्ति, संकटनिवृत्ति आदि कार्य परमात्म-स्मरण, आत्म-विशुद्धि, तपोविशेष, देवादिसहाय्य आदि यथोचित कारणों से होते हुए माने गये हैं। अतः ऐसी बातों के उल्लेखों को बिना परीक्षा के एकदम अन्धभक्ति या काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बर विद्वान् माननीय पण्डित सुखलालजी का यह लिखना कि ''इसके (कारिका के) प्रभाव के कारण अतार्किक भक्तों ने इसकी प्रतिष्ठा मनगढ़न्त ढंग से बढ़ाई और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्क-ग्रन्थ-लेखक आचार्य भी उस कल्पित ढंग के शिकार बने। इस कारिका को सीमन्धर स्वामी के मुख में से अन्धभक्ति के कारण जन्म लेना पड़ा। इस कारिका के सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्परा के ही हैं; क्योंकि भक्तिपूर्ण उन मनगढ़न्त कल्पनाओं की सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है।'' (प्रमाणमी० भा० पृष्ठ ८४) केवल अपनी परम्परा का मोह और पक्षग्राहिता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी इन पंक्तियों और विचारों के सम्बन्ध में विशेषकर अन्तिम पंक्ति में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इस संक्षिप्त स्थान पर हमें उनसे यही कहना है कि निष्पक्ष विचार के स्थान पर एक विद्वान् को निष्पक्ष विचार ही प्रकट करना चाहिए। दूसरों को भ्रम में

डालना एवं स्वयं भ्रामक प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है।

२१. हेतु-भेद

दार्शनिक परम्परा में सर्वप्रथम कणाद[१] ने हेतु के भेदों को गिनाया है। उन्होंने हेतु के पाँच भेद प्रदर्शित किये हैं किन्तु टीकाकार प्रशस्तपाद[२] उन्हें निदर्शन मात्र मानते हैं। 'पाँच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं बतलाते। इससे यह प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शन में हेतु के पाँच से भी अधिक भेद स्वीकृत किये गये हैं। न्यायदर्शन के प्रवर्तक गौतम[३] ने और सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट; ये तीन भेद कहे हैं। मीमांसक हेतु के कितने भेद मानते हैं; यह मालूम नहीं हो सका। बौद्ध दर्शन[४] में स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि; ये तीन भेद हेतु के बतलाये हैं तथा अनुपलब्धि के ग्यारह भेद किये हैं।[५] इनमें प्रथम के दो हेतुओं को विधिसाधक और अन्तिम अनुपलब्धि हेतु को निषेध साधक ही वर्णित किये हैं।[६]

जैन दर्शन के उपलब्ध साहित्य में हेतुओं के भेद सबसे पहले अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रह में मिलते हैं। उन्होंने[७] सद्भावसाधक ६ और

---

१. ''अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।''-वैशेषि. सूत्र ९-२-१

२. ''शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा - अध्वर्युरोश्रावयन् व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम् चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविका-शस्य च जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्र-वचनात् सिद्धम्।'' प्रशस्तपा. पृ. १०४

३. ''अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।''-न्यायसू. १-१-५

४. ''त्रीण्येव लिङ्गानि'' ''अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति।'' - न्यायवि. पृ. ३५

५. ''सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा।'' - न्यायवि. पृ. ४७

६. ''अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ'' ''एकः प्रतिषेधहेतुः'' - न्यायवि. पृ. ३९

७. ''सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः।
तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः।
सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः॥'' - प्रमाणसं. का. २९, ३०
तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्ति देखें।

सद्भावप्रतिषेधक ३; इस तरह ९ उपलब्धियों तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियों का वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदों का संकेत करके इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाने का निर्देश किया है। साथ ही उन्होंने धर्मकीर्ति के इस कथन का कि ''स्वभाव और कार्यहेतु भावसाधक ही हैं तथा अनुपलब्धि ही अभावसाधक है निरास करके उपलब्धि रूप स्वभाव और कार्य हेतु को भी अभाव-साधक सिद्ध किया है[१]। अकलंकदेव के इसी मन्तव्य को लेकर माणिक्यनन्दि[२], विद्यानन्दि[३] तथा वादिदेवसूरि[४]ने उपलब्धि और अनुपलब्धि रूप से समस्त हेतुओं का संग्रह करके दोनों को विधि और निषेध साधक बतलाया है और उनके उत्तर भेदों को परिगणित किया है। आचार्य धर्मभूषण ने भी इसी अपनी पूर्व परम्परा के अनुसार कतिपय हेतु-भेदों का वर्णन किया है। न्यायदीपिका और परीक्षामुख के अनुसार हेतुओं के निम्न भेद हैं[५]–

२२. हेत्वाभास–

[न्यायदीपिका के अनुसार]

हेतु

१ विधिरूप | २ प्रतिषेधरूप

विधिरूप: १ विधिसाधक | २ प्रतिषेधसाधक

प्रतिषेधरूप: १ विधिसाधक | २ प्रतिषेधसाधक

१ कार्यरूप | २ कारणरूप | ३ विशेषरूप | ४ पूर्वचर | ५ उत्तरचर | ६ सहचर

= ६ + १ + २ = ९

---
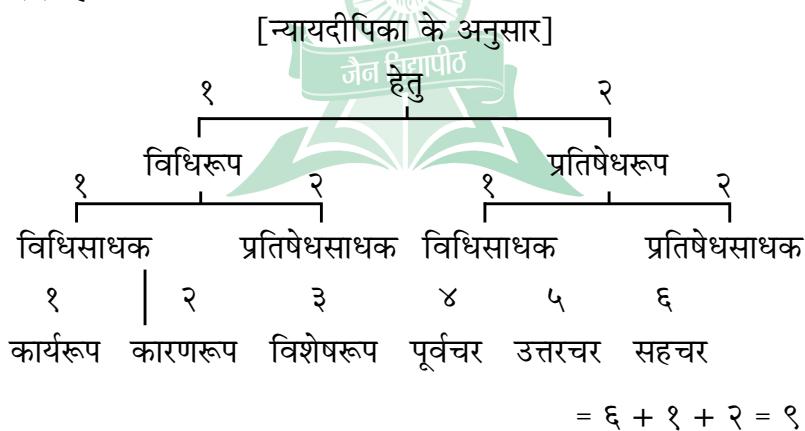
१. ''नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी........।'' – प्रमाणसं. का. ३०

२. देखो, परीक्षामुख ३-५७ से ३-९३ तक के सूत्र।

३. देखो, प्रमाणपरी. पृष्ठ ७२-७४

४. देखो, प्रमाणनयतत्त्वालोक का तृतीय परिच्छेद।

५. प्रमाणपरीक्षानुसार हेतु भेदों को वहीं से जानना चाहिए।

= ६ + ६ + ३ + ७=२२
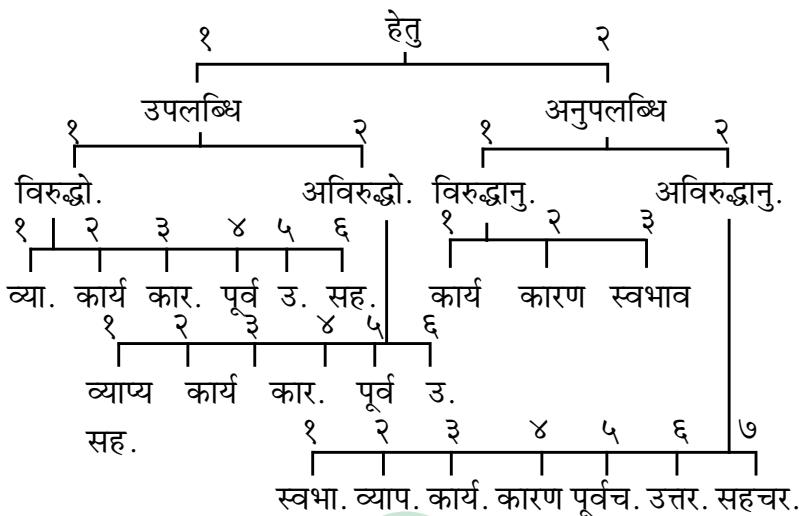
नैयायिक[1] हेतु के पाँच रूप मानते हैं, अतः उन्होंने एक-एक रूप के अभाव में पाँच हेत्वाभास माने हैं। वैशेषिक[2] और बौद्ध[3] हेतु के तीन रूप स्वीकार करते हैं, इसलिए उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं। पक्षधर्मत्व के अभाव से असिद्ध, सपक्षसत्त्व के अभाव से विरुद्ध और विपक्षासत्त्व के अभाव से सन्दिग्ध अथवा अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं।

---

१. ''सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः॥''- न्यायसूत्र १ - २-४, ''हेतोः पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति। असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः।'' - न्यायकलिका पृ. १४, न्यायमं. पृ. १०१

२. ''अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः॥''- वैशे. सू. ३-१-१५, ''यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽ-ब्रवीत्।'' - प्रशस्त. पृ. १००

३. ''असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः।''- न्यायप्र. पृ. ३

सांख्य[१] भी चूँकि हेतु को त्रैरूप्य मानते हैं, अतः उन्होंने भी मुख्यतया तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं। प्रशस्तपाद[२] ने एक अनध्यवसित नाम के चौथे हेत्वाभास का भी निर्देश किया है जो नया ही मालूम होता है और प्रशस्तपाद का स्वोपज्ञ है क्योंकि वह न तो न्यायदर्शन के पाँच हेत्वाभासों में है, न कणाद–कथित तीन हेत्वाभासों में है और न उनके पूर्ववर्ती किसी सांख्य या बौद्ध विद्वान् ने बतलाया है। हाँ, दिग्नाग[३] ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के भेदों में एक विरुद्धाव्यभिचारी जरूर बतलाया है जिसके न्यायप्रवेश गत वर्णन और प्रशस्तपाद भाष्यगत अनध्यवसित के वर्णन का आशय प्रायः एक है और स्वयं जिसे प्रशस्तपाद[४] ने असाधारण कहकर अनध्यवसित हेत्वाभास अथवा विरुद्ध हेत्वाभास का एक भेद बतलाया है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासों के अलावा इस चौथे हेत्वाभास की भी कल्पना की है। अज्ञात नाम के हेत्वाभास को भी मानने का एक मत रहा है। हम पहले कह आए हैं कि अर्चट ने नैयायिक और मीमांसक के नाम से ज्ञातत्व सहित षड्लक्षण हेतु का निर्देश किया है। सम्भव है ज्ञातत्व रूप के अभाव से अज्ञात नाम का हेत्वाभास भी उन्हीं के द्वारा कल्पित हुआ हो। अकलंकदेव[५] ने इस हेत्वाभास का उल्लेख करके असिद्ध में अन्तर्भाव किया है। उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[६] आदि ने उसे असिद्ध हेत्वाभास

---

१. ''अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः।'' – माठरवृ. ५

२. ''एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति।''– प्रशस्तपा. भा. ११६

३. देखो, न्यायप्रवेश पृ. ३

४. देखो, प्रशस्तपा. भा. ११८, ११९

५. ''साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः। तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात्।''– प्रमाणसं. स्वो. का. ४४

६. परीक्षामुख ६–२७, २८

रूप से उदाहृत किया है।

जैन विद्वान् हेतु का केवल एक ही अन्यथानुपपन्नत्व–अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं, अतः यथार्थ में उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिए। इस सम्बन्ध में सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेव[1] ने बड़ी योग्यता से उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसी के विस्तार हैं। चूँकि अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से होता है इसलिए हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिञ्चित्कर–ये चार भी भेद हो सकते हैं या अकिञ्चित्कर को सामान्य और शेष को उसके भेद मानकर तीन हेत्वाभास भी कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतु त्रिलक्षणात्मक होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्व से रहित हैं वे सब अकिञ्चित्कर हेत्वाभास हैं।[2] यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकलंकदेव ने पूर्व से प्रसिद्ध इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की कल्पना कहाँ से की है ? क्योंकि वह न तो कणाद और दिग्नाग कथित तीन हेत्वाभासों में है और न गौतम स्वीकृत पाँच हेत्वाभासों में है ? श्रद्धेय पण्डित सुखलालजी का कहना है कि[3] ''जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमंजरी (पृष्ठ १६३) में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नए हेत्वाभास को मानने का पूर्व पक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्त के पहले कभी से चला आता हुआ जान पड़ता है।......अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध मानने वाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थ के आधार पर ही अकलंक ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की

---

१. ''साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धाः अकिञ्चित्कर-विस्तराः।'' – न्यायवि. का. २६९, ''असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात्स बहुधा स्मृतः। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः। – न्यायवि. का. ३६५, ३६६

२. ''अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।
अकिंचित्कारकान् सर्वांस्तान् वयं सङ्गिरामहे॥''– न्यायवि. का. ३७०

३. प्रमाणमी. भा. टि. पृ. ९७

अपने ढंग से नई सृष्टि की हो।'' निःसन्देह पण्डितजी की सम्भावना और समाधान दोनों हृदय को लगते हैं। जयन्त भट्ट[१] ने इस हेत्वाभास के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से बहुत सुन्दर विचार किया है। वे[२] पहले तो उसे विचार करते-करते साहसपूर्वक छठवाँ ही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि विभागसूत्र का उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभास का अपह्नव नहीं किया जा सकता है और न वस्तु का उल्लंघन। किन्तु पीछे उसे असिद्धवर्ग में ही शामिल कर लेते हैं। अन्त में 'अथवा' के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वाभासवृति सामान्य रूप है, छठवाँ हेत्वाभास नहीं। इसी अन्तिम अभिमत को न्यायकलिका (पृष्ठ १५)[३] में स्थिर रखा है। पण्डित जी की सम्भावना से प्रेरणा पाकर जब मैंने ''अन्यथासिद्ध'' को पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थों में खोजना प्रारम्भ किया तो मुझे उद्योतकर के न्यायवार्तिक[४] में अन्यथासिद्ध हेत्वाभास मिल गया जिसे उद्योतकर ने असिद्ध के भेदों में गिनाया है। वस्तुतः अन्यथासिद्ध एक प्रकार का अप्रयोजक या अकिञ्चित्कर हेत्वाभास ही है। जो हेतु अपने साध्य को सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। भले ही वह तीनों अथवा पाँचों रूपों से युक्त क्यों न हो। अन्यथासिद्धत्व

---

१. देखो, न्यायमं. पृष्ठ १६३-१६६ (प्रमेय प्रकरण)

२. ''आस्तां तर्हि षष्ठ एवायं हेत्वाभासः सम्यग् हेतुतां तावद्यथोक्तनयेन नाश्नुते एव न च तेष्वन्तर्भवतीति बलात् षष्ठ एवावतिष्ठते। कथं विभागसूत्रमिति चेद्, अतिक्रमिष्याम इदं सूत्रम्, अनतिक्रामन्तः सुस्पष्टमपीममप्रयोजकं हेत्वाभास-मपह्नवीमहि न चैवं युक्तमतो वरं सूत्रातिक्रमो न वस्त्वतिक्रम इति। × × × ''तदेनं हेत्वाभासमसिद्धवर्ग एव निक्षिपामः।'' × × × अथवा सर्वहेत्वाभासानु-वृत्तमिद- मन्यथासिद्धत्वं नाम रूपमिति न षष्ठोऽयं हेत्वाभासः। - पृ. १६६

३. ''अप्रयोजकत्वं च सर्वहेत्वाभासानामनुगतं रूपम्। अनित्याः परमाणवो मूर्त्तत्वात् इति सर्वलक्षणसम्पन्नोऽप्यप्रयोजक एव।''

४. ''सोऽयमसिद्धत्व भवति प्रज्ञापनीयधर्मसमानः, आश्रयासिद्धः, अन्यथा-सिद्धश्चेति।''- पृ. १७५

अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव अन्यथोपपन्नत्व से अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही वजह है कि अकलंकदेव ने सर्व-लक्षणसम्पन्न होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओं को अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की संज्ञा दी है। अतएव ज्ञात होता है कि उद्योतकर के अन्यथासिद्धत्व में से ही अकलंक ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की कल्पना की है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने इसका चौथे हेत्वाभास के रूप में वर्णन किया है[१] पर वे उसे हेत्वाभास के लक्षण के विचार समय में ही हेत्वाभास मानते हैं[२], वादकाल में नहीं। उस समय तो पक्ष में दोष दिखा देने से ही व्युत्पन्न प्रयोग को दूषित बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि वे अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने में खास जोर भी नहीं देते। श्वेताम्बर विद्वानों[३] ने असिद्धादि पूर्वोक्त तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं, उन्होंने अकिञ्चित्कर नहीं माना। माणिक्यनन्दि ने अकिञ्चित्कर को हेत्वाभास मानने की जो दृष्टि बतलाई है उस दृष्टि से उसका मानना उचित है। वादिदेवसूरि[४] और यशोविजय[५] ने यद्यपि अकिञ्चित्कर का खण्डन किया है, पर वे उस दृष्टि को मेरे ख्याल में ओझल कर गये हैं। अन्यथा वे उस दृष्टि से उसके औचित्य को जरूर स्वीकार करते। आचार्य धर्मभूषण ने अपने पूज्य माणिक्यनन्दि का अनुसरण किया है और उनके निर्देशानुसार अकिञ्चित्कर चौथा हेत्वाभास बताया है।

इस तरह न्यायदीपिका में आये हुए कुछ विशेष विषयों पर तुलनात्मक विवेचन किया है। मेरी इच्छा थी कि आगम, नय, सप्तभंगी, अनेकान्त आदि शेष विषयों पर भी इसी प्रकार का कुछ विचार किया जाये; पर अपनी शक्ति, साधन, समय और स्थान को देखते हुए उसे स्थगित कर देना पड़ा।

---

१. परीक्षामुख ६-२१

२. ''लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणेव दुष्टत्वात्।''-परीक्षा. ६-३८

३. न्यायाव. का २३, प्रमाणनय. ६-४७

४. स्याद्वादरत्ना. पृ. १२३०

५. जैनतर्कभा. पृ. १८

न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

आचार्य धर्मभूषण ने अपनी प्रस्तुत रचना में अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है तथा उनके कथन से अपने प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। अतः यह उपयुक्त जान पड़ता है कि उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का यहाँ कुछ परिचय दे दिया जाय। प्रथमतः न्यायदीपिका में उल्लिखित हुए निम्न जैनेतर ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का परिचय दिया जाता है –

(क) ग्रन्थ–१. न्यायबिन्दु।

(ख) ग्रन्थकार–१. दिग्नाग, २. शालिकानाथ, ३. उदयन और ४. वामन।

न्यायबिन्दु–यह बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति का रचा हुआ बौद्ध–न्याय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में प्रमाण–सामान्यलक्षण का निर्देश, उसके प्रत्यक्ष और अनुमान–इन दो भेदों का स्वीकार एवं उनके लक्षण, प्रत्यक्ष के भेदों आदि का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अनुमान के स्वार्थ–परार्थ भेद, स्वार्थ का लक्षण, हेतु का त्रैरूप्य लक्षण और उसके स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि इन तीन भेदों आदि का कथन किया है और तीसरे परिच्छेद में परार्थ अनुमान, हेत्वाभास, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास आदि का निरूपण किया गया है। न्यायदीपिका पृष्ठ २९ पर इस ग्रन्थ के नामोल्लेख पूर्वक दो वाक्यों और पृष्ठ ३८ पर इसके ''कल्पनापोढमभ्रान्तम्'' प्रत्यक्ष लक्षण की समालोचना की गई है। प्रत्यक्ष के इस लक्षण में जो 'अभ्रान्त' पद निहित है वह खुद धर्मकीर्ति का ही दिया हुआ है। इसके पहले बौद्ध परम्परा में 'कल्पनापोढ' मात्र प्रत्यक्ष का लक्षण स्वीकृत था। धर्मकीर्ति बौद्ध दर्शन के उन्नायक युग प्रधान थे। इनका अस्तित्व समय ईसा की सातवीं शताब्दी (६३५ ईसवी) माना जाता है। ये नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे। न्यायबिन्दु के अतिरिक्त प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, प्रमाणविनिश्चय और सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके बनाए हुए ग्रन्थ हैं। अभिनव–धर्मभूषण न्यायबिन्दु आदि के अच्छे अभ्यासी थे।

१. दिग्नाग—ये बौद्ध सम्प्रदाय के प्रमुख तार्किक विद्वानों में से हैं। इन्हें बौद्ध न्याय का प्रतिष्ठापक होने का श्रेय प्राप्त है, क्योंकि अधिकांशतः बौद्ध न्याय के सिद्धान्तों की नींव इन्होंने डाली थी। इन्होंने नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक आदि दर्शनों के मन्तव्यों की आलोचनास्वरूप

१. उद्योतकर (६०० ईसवी) ने न्यायवा. पृ. १२८, १६८ पर हेतुवार्तिक और हेत्वाभासवार्तिक नाम के दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः दिग्नाग के ही होने चाहिए, क्योंकि वाचस्पति मिश्र के तात्पर्य टीका (पृ. २८९) गत सन्दर्भ को ध्यान से पढ़ने से वैसा प्रतीत होता है। न्यायवा. भूमिका पृ. १४१, १४२ पर इनको किसी बौद्ध विद्वान् के प्रकट भी किये हैं। उद्योतकर के पहले बौद्ध परम्परा में सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रबल और अनेक ग्रन्थों का रचनाकार दिग्नाग ही हुआ है जिसका न्यायवार्तिक में जगह-जगह कदर्थन किया गया है। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में मैंने माननीय पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य से दर्याफ्त किया था। उन्होंने मुझे लिखा है–दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय के अनुमान-परिच्छेद के ही वे श्लोक होने चाहिए जिसे उद्योतकर हेतुवार्तिक या हेत्वाभास-वार्तिक कहते हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मालूम होते। यही ''हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः'' इस कारिका की स्ववृत्ति टीका में कर्णकगोमि ने लिखा है – ''वर्णितः आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु''। सम्भव है इसमें आदि शब्द से हेतुचक्रडमरू का निर्देश हो। परन्तु उद्योतकर ने जो इस प्रकार लिखा है – ''एवं विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्याश्च द्रष्टव्याः। एषां तूदाहरणानि हेत्वाभास-वार्तिके द्रष्टव्यानि स्वयं चाभ्यूह्यानि'' (पृ. १६८)। इससे तो यह मालूम होता है कि यहाँ उद्योतकर किसी ''हेत्वाभासवार्त्तिक'' नामक ग्रन्थ का ही उल्लेख कर रहे हैं जहाँ ''विरुद्धविशेषणविशेष्यों'' के उदाहरण प्रदर्शित किये हैं और वहाँ से जिन्हें देखने का यहाँ संकेत मात्र किया है। ''हेत्वाभासवार्तिके'' पद से कोई कारिका या श्लोक प्रतीत नहीं होता। यदि कोई कारिका या श्लोक होता तो उसे उद्धृत भी किया जा सकता था। अतः ''हेत्वाभासवार्त्तिक'' नाम का कोई ग्रन्थ रहा हो, ऐसा उक्त उल्लेख से साफ मालूम होता है।

इसी तरह उद्योतकर के निम्न उल्लेख से 'हेतुवार्तिक' ग्रन्थ के भी होने की सम्भावना होती है– ''यद्यपि हेतुवार्तिकं ब्रुवाणेनोक्तम् – सप्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधादेकद्विपदपर्युदासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति। एतदप्ययुक्तम्......'' (पृ. १२८) यहाँ हेतुवार्तिककार के जिन शब्दों को उद्धृत किया है वे गद्य में हैं,

और स्वतन्त्ररूप अनेक प्रकरण ग्रन्थ रचे हैं। न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, हेतुचक्रडमरू, आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा आदि ग्रन्थ इनके माने जाते हैं।[१] इनमें न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय मुद्रित भी हो चुके हैं। न्याय-प्रवेश पर तो जैनाचार्य हरिभद्रसूरि की 'न्यायप्रवेशवृत्ति' नामक टीका है और इस वृत्ति पर भी जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत न्यायप्रवेशवृत्ति-पंजिका'' नाम की व्याख्या है। दिग्नाग का समय ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दी (३४५-४२५ ईसवी) के लगभग है। आचार्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका पृष्ठ १६१ पर इनका नामोल्लेख करके 'न याति' इत्यादि एक कारिका उद्धृत की है, जो सम्भवतः इन्हीं के किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ की होगी।

२. शालिकानाथ—ये प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक दार्शनिक विद्वानों में एक प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने प्रभाकर गुरु के सिद्धान्तों का बड़े जोरों के साथ प्रचार और प्रसार किया है। उन (प्रभाकर) के वृहती नाम के टीका-ग्रन्थ पर, जो प्रसिद्ध मीमांसक शवरस्वामी के शावर भाष्य की व्याख्या है, इन्होंने 'ऋजुविमला' नाम की पंजिका लिखी है। प्रभाकर के सिद्धान्तों का विवरण करने वाला इनका 'प्रकरणपंजिका' नाम का वृहद् ग्रन्थ भी है। ये ईसा की आठवीं शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं। न्यायदीपिकाकार ने पृष्ठ ३१ पर इनके नाम के साथ 'प्रकरणपंजिका' के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

३. उदयन—ये न्यायदर्शन के प्रतिष्ठित आचार्यों में हैं। नैयायिक

श्लोक या कारिका रूप नहीं हैं; अतः सम्भव है कि न्यायप्रवेश की तरह 'हेतुवार्तिक' गद्यात्मक स्वतन्त्र रचना हो और जिसका कर्णकगोमि ने आदि शब्द से संकेत भी किया हो। यह भी सम्भव है कि प्रमाणसमुच्चय के अनुमानपरिच्छेद की स्वोपज्ञ वृत्ति के उक्त पद-वाक्यादि हों और उनकी मूल कारिकाओं को हेत्वाभासवार्तिक एवं हेतुवार्तिक कहकर उल्लेख किया हो। फिर भी जब तक 'हेतुचक्रडमरू' और प्रमाणसमुच्चय का अनुमानपरिच्छेद सामने नहीं आता और दूसरे पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते तब तक निश्चयपूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

परम्परा में ये 'आचार्य' के नाम से विशेष उल्लिखित हैं। जो स्थान बौद्ध दर्शन में 'धर्मकीर्ति' और जैनदर्शन में 'विद्यानन्दि स्वामी' को प्राप्त है वही स्थान न्यायदर्शन में 'उदयनाचार्य' का है। ये शास्त्रार्थी और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। न्यायकुसुमांजलि, आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावली, प्रशस्त-पादभाष्य की टीका किरणावली और वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका पर लिखी गई तात्पर्यपरिशुद्धि टीका, न्यायपरिशिष्ट नाम की न्यायसूत्रवृत्ति आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपनी लक्षणावली[१] शक सम्वत् ९०६ (९८४ ईसवी) में समाप्त की है, अतः इनका अस्तित्वकाल दशवीं शताब्दी है। न्यायदीपिका (पृ. ३२) में इनके नामोल्लेख के साथ 'न्यायकुसुमांजलि' (४-६) के ''तन्मे प्रमाणं शिवः'' वाक्य को उद्धृत किया गया है और उदयनाचार्य को 'यौगाग्रसर' लिखा हैं। अभिनव-धर्मभूषण इनके न्यायकुसुमांजलि, किरणावली आदि ग्रन्थों के अच्छे अध्येता थे। न्यायदीपिका पृष्ठ १५०-१५१ पर किरणावली (पृ. २९७, ३००, ३०१) गत निरुपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का भी खण्डन किया गया है। यद्यपि किरणावली और न्यायदीपिकागत लक्षण में कुछ शब्दभेद है; पर दोनों की रचना को देखते हुए भिन्न ग्रन्थकार की रचना प्रतीत नहीं होते। प्रत्युत किरणावलीकार की ही वह रचना स्पष्टतः जान पड़ती है। दूसरी बात यह है कि अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति मानना उदयनाचार्य का मत माना गया है। वैशेषिकदर्शनसूत्रोपस्कार (पृ. ९०) में ''नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः'' शब्दों के साथ पहले पूर्व पक्ष में अनौपाधिक रूप व्याप्ति लक्षण की आलोचना करके बाद में उसे ही सिद्धान्त मत स्थापित किया है। यहाँ ''नाप्यनौपाधिकः'' पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकार ने ''आचार्यमतं दूषयन्नाह'' लिखकर उसे आचार्य (उदयनाचार्य) का मत प्रकट किया है। मैं पहले कह आया हूँ कि उदयन आचार्य के नाम से भी उल्लेखित किये जाते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अनौपाधिकनिरुपाधिक सम्बन्ध

---

१. ''तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेष्वदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥'' - लक्षणा. पृ. १३

को व्याप्ति मानना उदयनाचार्य का सिद्धान्त है और उसी की न्यायदीपिका-कार ने आलोचना की है। उपस्कार और किरणावलीगत व्याप्ति तथा उपाधि के लक्षणसम्बन्धी सन्दर्भ भी शब्दशः एक हैं, जिससे टिप्पणकार के अभिप्रेत आचार्य पद से उदयनाचार्य ही स्पष्ट ज्ञात होते हैं। यद्यपि प्रशस्तपादभाष्य की व्योमवती टीका के रचयिता व्योमशिवाचार्य भी आचार्य कहे जाते हैं, परन्तु उन्होंने व्याप्ति का उक्त लक्षण स्वीकार नहीं किया बल्कि उन्होंने सहचरित सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति मानने की ओर ही संकेत किया है।[१] वाचस्पति मिश्र ने भी अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति न कहकर स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है।[२]

४. वामन—इनका विशेष परिचय यथेष्ट प्रयत्न करने पर भी मालूम नहीं हो सका। न्यायदीपिकाकार के द्वारा उद्धृत किये गए वाक्य पर से इतना जरूर मालूम हो जाता है कि वे अच्छे ग्रन्थकार और प्रभावक विद्वान् हुए हैं। न्यायदीपिका पृष्ठ १६७ पर इनके नाम के उल्लेखपूर्वक इनके किसी ग्रन्थ का "**न शास्त्र-मसद्द्रव्येष्वर्थवत्**" वाक्य उद्धृत किया गया है।

अब जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। धर्मभूषण ने निम्न जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है—

(क) ग्रन्थ—१. तत्त्वार्थसूत्र, २. आप्तमीमांसा, ३. महाभाष्य, ४. जैनेन्द्रव्याकरण, ५. आप्तमीमांसा-विवरण, ६. राजवार्तिक और राजवार्तिक भाष्य, ७. न्यायविनिश्चय, ८. परीक्षामुख, ९. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा भाष्य, १०. प्रमाणपरीक्षा, ११. पत्र-परीक्षा, १२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और १३. प्रमाण-निर्णय।

(ख) ग्रन्थकार—१. स्वामी समन्तभद्र, २. अकलंकदेव, ३. कुमारनन्दि, ४. माणिक्यनन्दि और ५. स्याद्वादविद्यापति (वादिराज)।

१. तत्त्वार्थसूत्र—यह आचार्य उमास्वाति अथवा उमास्वामी की अमर रचना है। जो थोड़े से पाठ भेद के साथ जैन परम्परा के दोनों ही

---

१. देखो, व्योमवती टीका, पृ. ५६३, ५७८

२. देखो, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका पृ. १६५, ३४५

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है और दोनों ही सम्प्रदायों के विद्वानों ने इस पर अनेक बड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आचार्य पूज्यपाद की तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेव का तत्त्वार्थवार्तिक, विद्यानन्दि का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्रुतसागरसूरि की तत्त्वार्थवृत्ति और श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य-ये पाँच टीकाएँ तो तत्त्वार्थसूत्र की विशाल, विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। आचार्य महोदय ने इस छोटी-सी दशाध्यायात्मक अनूठी कृति में समस्त जैन तत्त्वज्ञान को संक्षेप में "**गागर में सागर**" की तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्म ज्ञान भण्डार का परिचय दिया है। यही कारण है कि जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का बहुत बड़ा महत्त्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दू सम्प्रदाय में गीता का है। इस ग्रन्थरत्न के रचयिता आचार्य उमास्वामी विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् हैं[१]। न्यायदीपिकाकार ने तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों को न्यायदीपिका (पृष्ठ ६, ५१, ५३, ५६, १५४, १६४, १६५) में बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेखित किया है और उसे महाशास्त्र तक भी कहा है, जो उपयुक्त ही है। इतना ही नहीं, न्यायदीपिका की भव्य इमारत भी इसी प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्र के "**प्रमाणनयैरधिगमः**" सूत्र का आशय लेकर निर्मित की गई है।

२. आप्तमीमांसा—स्वामी समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियों में यह सबसे प्रधान और असाधारण कृति है। इसे "देवागमस्तोत्र" भी कहते हैं। इसमें दश परिच्छेद और ११४ पद्य (कारिकाएँ) हैं। इसमें आप्त (सर्वज्ञ) की मीमांसा-परीक्षा की गई है, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है अर्थात् इसमें स्याद्वादनायक जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ सिद्ध करके उनके स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्त की सयुक्तिक सुव्यवस्था की है और स्याद्वादविद्वेषी एकान्तवादियों में आप्ताभासत्त्व (असार्वज्ञ) बतलाकर उनके एकान्त

---

१. देखो, स्वामी समन्तभद्र। श्वेताम्बर विद्वान् श्रीमान् पण्डित सुखलालजी इन्हें भाष्य को स्वोपज्ञ मानने के कारण विक्रम की तीसरी से पाँचवीं शताब्दी का अनुमानित करते हैं। देखो, ज्ञानबिन्दु की प्रस्तावना।

सिद्धान्तों की बहुत ही सुन्दर युक्तियों के साथ आलोचना की है। जैन दर्शन के आधारभूत स्तम्भ-ग्रन्थों में आप्तमीमांसा पहला ग्रन्थ है। इसके ऊपर भट्ट अकलंकदेव ने 'अष्टशती' विवरण (भाष्य), आचार्य विद्यानन्दि ने 'अष्टसहस्री' (आप्तमीमांसालंकार या देवागमलंकार) और वसुनन्दि ने देवागमवृत्ति'' टीकाएँ लिखी हैं। ये तीनों टीकाएँ उपलब्ध भी हैं। पण्डित जयचन्दजी कृत इसकी एक टीका हिन्दी भाषा में भी है। श्रीमान् पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इसकी दो और अनुपलब्ध टीकाओं की सम्भावना की है।[१] एक तो वह जिसका संकेत आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री के अन्त में ''**अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगल-वचनमनुमन्यन्ते**''- इस वाक्य में आए हुए केचित् शब्द के द्वारा किया है और दूसरी ''**देवागमपद्य-वार्त्तिकालंकार**'' है, जिसकी सम्भावना युक्त्यनुशासन-टीका (पृष्ठ ९४) के ''इति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपित-प्रायम्। इस वाक्य में पड़े हुए ''देवागमपद्यवार्तिकालंकारे'' पद से की है। परन्तु पहली टीका के होने की सूचना तो कुछ ठीक मालूम होती है, क्योंकि आचार्य विद्यानन्दि भी उसका संकेत करते हैं, लेकिन पिछली टीका के सद्भाव का कोई आधार या उल्लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ। वास्तव में बात यह है कि आचार्य विद्यानन्दि ''देवागमपद्यवार्तिकालंकारे'' पद के द्वारा अपनी पूर्व रचित दो प्रसिद्ध टीकाओं- देवागमालंकार (अष्टसहस्री) और पद्यवार्तिकालंकार (श्लोकवार्तिकालंकार) का उल्लेख करते हैं और उनके देखने की प्रेरणा करते हैं। पद्य का अर्थ श्लोक प्रसिद्ध ही है और अलंकार शब्द का प्रयोग दोनों के साथ रहने से समस्यन्त एक वचन का प्रयोग भी असंगत नहीं है। अतः 'देवागमपद्यवार्तिकालंकार' नाम की कोई आप्तमीमांसा की टीका रही है, यह बिना पुष्ट प्रमाणों के नहीं कहा जा सकता। आचार्य अभिनव-धर्मभूषण ने आप्तमीमांसा की अनेक कारिकाएँ प्रस्तुत न्यायदीपिका में बड़ी कृतज्ञता के साथ उद्धृत की है।

महाभाष्य—ग्रन्थकार ने न्यायदीपिका पृ. ४१ पर निम्न शब्दों के

---

१. स्वामी समन्तभद्र, पृ. १९९, २००

साथ महाभाष्य का उल्लेख किया है–

"**तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे**–" परन्तु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध जैन साहित्य में नहीं है। अतः विचारणीय है कि इस नाम का कोई ग्रन्थ है या नहीं ? यदि है तो उसकी उपलब्धि आदि का परिचय देना चाहिए और यदि नहीं है तो आचार्य धर्मभूषण ने किस आधार पर उसका उल्लेख किया है ? इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ विचार करने के पहले मैं यह कह दूँ कि इस ग्रन्थ के अस्तित्व विषय में जितना अधिक ऊहापोह के साथ सूक्ष्म विचार और अनुसन्धान मुख्तार साहब ने किया है[१] उतना शायद ही अब तक दूसरे विद्वान् ने किया हो। उन्होंने अपने "स्वामीसमन्तभद्र" ग्रन्थ के ३१ पृष्ठों में अनेक पहलुओं से चिन्तन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि स्वामी समन्तभद्र रचित महाभाष्य नाम का कोई ग्रन्थ रहा जरूर है पर उसके होने के उल्लेख अब तक तेरहवीं शताब्दी के पहले के नहीं मिलते हैं। जो मिलते हैं वे १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं शताब्दी के हैं। अतः इसके लिए प्राचीन साहित्य को टटोलना चाहिए।

मेरी विचारणा–

किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अधिकांशतः निम्न साधन अपेक्षित होते हैं–१. ग्रन्थों के उल्लेख, २. शिलालेखादिक के उल्लेख, ३. जनश्रुति–परम्परा।

१. जहाँ तक महाभाष्य के ग्रन्थोल्लेखों की बात है और वे अब तक जितने उपलब्ध हो सके हैं उन्हें मुख्तार साहब ने प्रस्तुत किया ही है। हाँ, एक नया ग्रन्थोल्लेख हमें और उपलब्ध हुआ है। वह अभयचन्द्रसूरि की स्याद्वादभूषण नामक लघीयस्त्रय–तात्पर्यवृत्ति का है, जो इस प्रकार है:

"**परीक्षितं विरचितं स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः। कथं न्यक्षेण विस्तरेण। क्व अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ....**"– लघी. ता. पृ. ६७

---

१. देखो, स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ २१२ से २४३ तक

ये अभयचन्द्रसूरि तथा 'गोम्मटसार' की मन्दप्रबोधिका टीका और प्रक्रिया संग्रह (व्याकरणविषयक टीकाग्रन्थ) के कर्ता अभयचन्द्रसूरि यदि एक हैं और जिन्हें डॉ. ए. एन. उपाध्ये[१] तथा मुख्तार साहब[२] ईसा की १३ वीं और विक्रम की १४ वीं शताब्दी का विद्वान् स्थिर करते हैं तो उनके इस उल्लेख से महाभाष्य के विषय में कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। प्रथम तो यह, कि यह उल्लेख मुख्तार साहब के प्रदर्शित उल्लेखों के समसामयिक है, उसका शृङ्खलाबद्ध पूर्वाधार अभी प्राप्त नहीं है जो स्वामी समन्तभद्र के समय तक पहुँचाये। दूसरे यह, कि अभयचन्द्रसूरि इस उल्लेख के विषय में अभ्रान्त प्रतीत नहीं होते। कारण, वे अकलंकदेव की लघीयस्त्रयगत जिस कारिका के 'अन्यत्र' पद का ''स्वामीसमन्तभद्रादिसूरि'' शब्द का अध्याहार करके ''तत्त्वार्थमहाभाष्य'' का व्याख्यान करते हैं वह सूक्ष्म समीक्षण करने पर अकलंकदेव को अभिप्रेत मालूम नहीं होता। बात यह है कि अकलंकदेव वहाँ ''अन्यत्र'' पद के द्वारा कालादिलक्षण को जानने के लिए अपने पूर्व रचित तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्य की सूचना करते जान पड़ते हैं, जहाँ (राजवार्तिक ४-४२) उन्होंने स्वयं कालादि आठ का विस्तार से विचार किया है।

यद्यपि प्रक्रिया संग्रह में भी अभयचन्द्रसूरि ने सामन्तभद्री महाभाष्य का उल्लेख किया है और इस तरह उनके ये दो उल्लेख हो जाते हैं परन्तु इनका पूर्वाधार क्या है? सो कुछ भी मालूम नहीं होता। अतः प्राचीन साहित्य पर से इसका अनुसन्धान करने की अभी भी आवश्यकता बनी हुई है।

२. अब तक जितने भी शिलालेखों आदि का संग्रह किया गया है उनमें महाभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्य का उल्लेख वाला कोई शिलालेखादि

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ पृ. ११९

२. देखो, स्वामी समन्तभद्र पृ. २२४ का फुटनोट

३. अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥ शिलालेख १०८
श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्॥ शिलालेख १०५ (२५४)

उपलब्ध नहीं है। जिससे इस ग्रन्थ के अस्तित्व-विषय में कुछ सहायता मिल सके। तत्त्वार्थसूत्र के तो शिलालेख मिलते भी हैं[३] पर उसके महाभाष्य का कोई शिलालेख नहीं मिलता।

३. जनश्रुति-परम्परा जरूर ऐसी चली आ रही है कि स्वामी समन्तभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र पर 'गन्धहस्ति' नाम का भाष्य लिखा है जिसे महाभाष्य और तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्य भी कहा जाता है और आत्ममीमांसा उसका पहला प्रकरण है परन्तु इस जनश्रुति का पुष्ट और पुराना कोई आधार नहीं है। मालूम होता है कि इसके कारण पिछले ग्रन्थोल्लेख ही हैं। अभी गत ३१ अक्टूबर (सन् १९०४) में कलकत्ता में हुए वीर शासन महोत्सव पर श्री संस्करण सेठी मिले। उन्होंने कहा कि गन्धहस्ति महाभाष्य एक जगह सुरक्षित है और वह मिल सकता है। उनकी इन बातों को सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई और प्रेरणा की कि उसकी उपलब्धि आदि की पूरी कोशिश करके उसकी सूचना हमें दें। इस कार्य में होने वाले व्यय के भार को उठाने के लिए वीरसेवा मन्दिर, सरसावा प्रस्तुत है, परन्तु उन्होंने आज तक कोई सूचना नहीं की। इस तरह जनश्रुति का आधारभूत पुष्ट प्रमाण नहीं मिलने से महाभाष्य का अस्तित्व संदिग्ध कोटि में आज भी स्थित है।

आचार्य अभिनव-धर्मभूषण के सामने अभयचन्द्रसूरि के उपर्युक्त उल्लेख रहे हैं और उन्हीं के आधार पर उन्होंने न्यायदीपिका में स्वामि-समन्तभद्र कृत महाभाष्य का उल्लेख किया जान पड़ता है। उन्हें यदि इस ग्रन्थ की प्राप्ति हुई होती तो वे उसके भी किसी वाक्यादि को जरूर उद्धृत करते और अपने विषय को उससे ज्यादा प्रमाणित करते। अतः यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य धर्मभूषण यति का उल्लेख महाभाष्य की प्राप्ति-हालत का मालूम नहीं होता। केवल जनश्रुति के आधार और उसके भी आधारभूत पूर्ववर्ती ग्रन्थोल्लेखों पर से किया गया जान पड़ता है।

---

१. ''यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।''-श्रवण.शिला. न. ४० (६४)

४. जैनेन्द्रव्याकरण—यह आचार्य पूज्यपाद का, जिनके दूसरे नाम देवनन्दि और जिनेन्द्रबुद्धि[१] हैं, प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ है।[१] श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी के शब्दों में यह "पहला जैन व्याकरण" है। इस ग्रन्थ की जैन परम्परा में बहुत प्रतिष्ठा रही है। भट्टाकलंकदेव आदि अनेक बड़े-बड़े आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इसके सूत्रों का बहुत उपयोग किया है। महाकवि धनञ्जय (नाममाला के कर्ता) ने तो इसे 'अपश्चिम रत्न' (बेजोड़ रत्न) कहा है।[२] इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस समय केवल निम्न चार टीकाएँ उपलब्ध हैं–१. अभयनन्दिकृत महावृत्ति, २. प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर, ३. आर्य श्रुतिकीर्तिकृत पंचवस्तु प्रक्रिया और ४. पण्डित महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र। इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य पूज्यपाद का समय ईसा की पाँचवीं और विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। जैनेन्द्रव्याकरण के अतिरिक्त इनकी रची हुई- १. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), २. समाधितन्त्र, ३. इष्टोपदेश और ४. दशभक्ति (संस्कृत)–ये कृतियाँ उपलब्ध हैं। सारसंग्रह, शब्दावतारन्यास, जैनेन्द्रन्यास और वैद्यक का कोई ग्रन्थ, ये अनुपलब्ध रचनाएँ हैं जिनके ग्रन्थों, शिलालेखों आदि में उल्लेख मिलते हैं। अभिनव-धर्मभूषण ने न्यायदीपिका पर इस ग्रन्थ का नामोल्लेख बिना और नामोल्लेख करके दो सूत्र उद्धृत किये हैं।

५. आप्तमीमांसाविवरण— ग्रन्थकार ने न्यायदीपिका पर इसका नामोल्लेख किया है और उसे श्रीमदाचार्यपाद का बतलाकर उसमें कपिलादिकों की आप्ताभासता को विस्तार से जानने की प्रेरणा की है। यह 'आप्तमीमांसाविवरण' आप्तमीमांसा पर लिखी गई अकलंकदेव की

---

१. इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विशेष परिचय के लिए "जैन साहित्य और इतिहास के "देवनन्दि और उनका जैनेन्द्रव्याकरण" निबन्ध और समाधितन्त्र की प्रस्तावना देखें।

२. "प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणं।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।"–नाममाला श्लोक नं. २०३।

'अष्टशती' नामक विवृत्ति और आचार्य विद्यानन्दि रचित आप्त-मीमांसालंकृति-'अष्टसहस्री' को छोड़कर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है और न अकलंकदेव तथा विद्यानन्दि के सिवाय कोई 'श्रीमदाचार्यपाद' नाम के आचार्य ही हैं। वसुनन्दि ने भी यद्यपि 'आप्तमीमांसा' पर 'देवागमवृत्ति' टीका लिखी है, परन्तु वह आप्तमीमांसा की कारिकाओं का शब्दानुसारी अर्थस्फोट ही करती है- उसमें कपिलादिकों की आप्ताभासता का विस्तार से वर्णन नहीं है। अतः न्यायदीपिकाकार को ''आप्तमीमांसाविवरण'' से अष्टशती और अष्टसहस्री विवक्षित हैं। ये दोनों दार्शनिक टीकाकृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण और गूढ़ हैं। अष्टशती तो इतनी दुरूह और जटिल है कि बिना अष्टसहस्री के उसके मर्म को समझना बहुत मुश्किल है। जैन दर्शन साहित्य में ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शन साहित्य में इनकी जोड़ का प्रायः बिरला ही कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या टीका ग्रन्थ हो।

६. राजवार्तिक और भाष्य—गौतम के न्यायसूत्र पर प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' की तरह आचार्य उमास्वामी विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र' पर अकलंकदेव ने गद्यात्मक 'तत्त्वार्थवार्तिक' नामक टीका लिखी है, जो राजवार्तिक के नाम से भी व्यवहृत होती है और उसके वार्त्तिकों पर उद्योतकर की ही तरह स्वयं अकलंकदेव का रचा गया भाष्य है जो 'तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य' या 'राजवार्तिकभाष्य' भी कहा जाता है। यह भाष्य राजवार्तिक के प्रत्येक वार्तिक का विशद व्याख्यान है। इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रसन्न है जबकि प्रत्येक वार्तिक अत्यन्त गम्भीर और दुरूह है। एक ही जगह अकलंकदेव की इस चेतश्चमत्कारी प्रतिभा की विविधता को पाकर सहृदय पाठक साश्चर्य आनन्दविभोर हो उठता है और श्रद्धा से उसका मस्तक नत हो जाता है। अकलंकदेव ने अपना यह राजवार्तिक आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि को आधार बनाकर लिखा है जो तत्त्वार्थसूत्र की समग्र टीकाओं में पहली टीका है। उन्होंने उसके अर्थगौरवपूर्ण प्रायः प्रत्येक वाक्य को राजवार्तिक का वार्तिक बनाया है। फिर भी राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि से कुछ भी पुनरुक्ति एवं निरर्थकता मालूम नहीं

होती। राजवार्तिक की यह विशेषता है कि वह प्रत्येक विषय की अन्तिम व्यवस्था अनेकान्त का आश्रय लेकर करता है। तत्त्वार्थसूत्र की समस्त टीकाओं में राजवार्तिक प्रधान टीका है या श्रीमान् पण्डित सुखलालजी के शब्दों में यों कह सकते हैं कि "राजवार्तिक का गद्य, सरल और विस्तृत होने से तत्त्वार्थ के सम्पूर्ण टीका ग्रन्थों की गरज अकेला ही पूरी करता है।" वस्तुतः जैन दर्शन का बहुविध एवं प्रामाणिक अभ्यास करने के लिए केवल राजवार्तिक का अध्ययन पर्याप्त है। न्यायदीपिकाकार ने न्यायदीपिका पृष्ठ ४८ और ५२ पर राजवार्तिक का तथा पृष्ठ ८ और ४८ पर उनके भाष्य का जुदाजुदा नामोल्लेख करके कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

७. न्यायविनिश्चय—यह अकलंकदेव की उपलब्ध दार्शनिक कृतियों में अन्यतम कृति है। इसमें तीन प्रस्ताव (परिच्छेद) हैं और तीनों प्रस्तावों की मिलाकर कुल ४८० कारिकाएँ हैं। पहला प्रत्यक्ष प्रस्ताव है जिसमें दर्शनान्तरीय प्रत्यक्षलक्षणों की आलोचना के साथ जैन सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण का निरूपण किया गया है और प्रासंगिक कतिपय दूसरे विषयों का भी विवेचन किया गया है। दूसरे अनुमान प्रस्ताव में अनुमान का लक्षण, साधन, साधनाभास, साध्य, साध्याभास आदि अनुमान के परिवार का विवेचन है और तीसरे प्रस्ताव में प्रवचन का स्वरूप आदि का विशिष्ट निश्चय किया गया है। इस तरह इस न्यायविनिश्चय में जैन न्याय की रूपरेखा बाँधकर उसकी प्रस्थापना की गई है। यह ग्रन्थ भी अकलंकदेव के दूसरे ग्रन्थों की ही तरह दुर्बोध और गम्भीर है। इस पर आचार्य स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरि की 'न्यायविनिश्चयविवरण' अथवा 'न्याय-विनिश्चयालंकार' नाम की वैदुष्यपूर्ण विशाल टीका है। अकलंकदेव की भी इस पर स्वोपज्ञ विवृत्ति होने की सम्भावना की जाती है, क्योंकि लघीयस्त्रय और प्रमाण-संग्रह पर भी उनकी स्वोपज्ञ विवृत्तियाँ हैं तथा कतिपय वैसे उल्लेख भी मिलते हैं। न्यायविनिश्चय मूल अकलंकग्रन्थत्रय में मुद्रित हो चुका है। वादिराजसूरिकृत टीका अभी अमुद्रित है। आचार्य

धर्मभूषण ने इस ग्रन्थ के नामोल्लेख के साथ न्यायदीपिका पर इसकी अर्धकारिका और पृष्ठ ९५ एक पूरी कारिका उद्धृत की है।

८. परीक्षामुख—यह आचार्य माणिक्यनन्दि की असाधारण और अपूर्व कृति है तथा जैन न्याय का प्रथम सूत्र ग्रन्थ है। यद्यपि अकलंकदेव जैन न्याय की प्रस्थापना कर चुके थे और अनेक महत्त्वपूर्ण स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतम के न्यायसूत्र, दिग्नाग के न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदि की तरह जैन न्याय को सूत्रबद्ध करने वाला 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ जैन परम्परा में अब तक नहीं बन पाया था। इस कमी की पूर्ति को सर्वप्रथम आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रस्तुत 'परीक्षामुख' लिखकर किया। माणिक्यनन्दि की यह अकेली एक ही अमर रचना है जो भारतीय न्यायसूत्र ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह अपूर्व ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है। छह परिच्छेदों में विभक्त है, और इसकी सूत्रसंख्या सब मिलाकर २०७ है। सूत्र बड़े सरल, सरस तथा नपे तुले हैं। साथ में गम्भीर, तलस्पर्शी और अर्थगौरव को लिए हुए हैं। आदि और अन्त में दो पद्य हैं। अकलंकदेव के द्वारा प्रस्थापित जैन न्याय को इसमें बहुत ही सुन्दर ढंग से ग्रथित किया गया है। लघु अनन्तवीर्य ने तो इसे अकलंक के वचनरूप समुद्र को[१] मथकर निकाला गया '**न्यायविद्यामृत**'- न्यायविद्या का अमृत बतलाया है।[२] इस ग्रन्थरत्न का महत्त्व इसी से ख्यापित हो जाता है कि इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र ने १२ हजार श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नाम की विशालकाय टीका लिखी है। इनके पीछे १२ वीं शताब्दी में विद्वान् लघु अनन्तवीर्य ने प्रसन्न रचना शैली वाली 'प्रमेयरत्नमाला' टीका लिखी है। यह टीका है तो छोटी, पर इतनी

---

१. अकलंक के वचनों से 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए मेरा ''परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम'' शीर्षक लेख देखें। अनेकान्त वर्ष ५ किरण ३-४ पृ. ११९-१२८

२. ''अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने।'' - प्रमेयर. पृ. २

विशद है कि पाठक को बिना कठिनाई के सहज में ही अर्थबोध हो जाता है। इसकी शब्द रचना से हेमचन्द्राचार्य भी प्रभावित हुए हैं और उन्होंने अपनी प्रमाणमीमांसा में शब्दशः तथा अर्थशः उसका अनुसरण किया है। न्यायदीपिकाकार ने परीक्षामुख के अनेक सूत्रों को नामनिर्देश और बिना नामनिर्देश के उद्धृत किया है। वस्तुतः आचार्य धर्मभूषण ने इस सूत्रग्रन्थ का खूब ही उपयोग किया है। न्यायदीपिका के आधारभूत ग्रन्थों में परीक्षामुख का नाम लिया जा सकता है।

९. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और भाष्य—आचार्य उमास्वामी के 'तत्त्वार्थसूत्र' पर कुमारिल के 'मीमांसा-श्लोकवार्तिक' और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' की तरह विद्यानन्दि ने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्यवार्तिकों पर उन्हीं ने स्वयं गद्य में भाष्य लिखा है जो 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक' और 'श्लोकवार्त्तिकभाष्य' इन नामों से कथित होता है। आचार्य प्रवर विद्यानन्दि ने इसमें अपनी दार्शनिक विद्या का पूरा ही खजाना खोलकर रख दिया है और प्रत्येक को उसका आनन्द-रसास्वाद लेने के लिए निःस्वार्थ आमन्त्रण दे रखा है। श्लोकवार्तिक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चले जाइये, सर्वत्र तार्किकता और गहन विचारणा समव्याप्त है। कहीं मीमांसादर्शन के नियोग भावनादि पर उनके सूक्ष्म एवं विशाल पाण्डित्य की प्रखर किरणें अपना तीक्ष्ण प्रकाश डाल रही हैं तो कहीं न्यायदर्शन के निग्रहस्थानादिरूप प्रगाढ़तम को निष्कासित कर रही हैं और कहीं बौद्धदर्शन की हिममय चट्टानों को पिघला कर दूर कर रही हैं। इस तरह श्लोकवार्तिक में हमें विद्यानन्दि के अनेकमुख पाण्डित्य और सूक्ष्मप्रज्ञता के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि जैन तार्किकों में आचार्य विद्यानन्दि का उन्नत स्थान है। श्लोकवार्तिक के अलावा विद्यानन्दि महोदय, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और युक्त्यनुशासन-अलंकार आदि दार्शनिक

---

१. पूर्ववर्तित्व के लिए "तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण" शीर्षक मेरा द्वितीय लेख देखें, अनेकान्त वर्ष ५ किरण १०-११ पृष्ठ ३८०

रचनाएँ उनकी बनाई हुई हैं। इनमें विद्यानन्दि महोदय, जो श्लोकवार्तिक की रचना से भी पहले की[१] विशिष्ट रचना है और जिसके उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ २७२, ३८५) तथा अष्टसहस्री (पृष्ठ २८९, २९०) में पाये जाते हैं, अनुपलब्ध है। शेष की रचनाएँ उपलब्ध हैं और सत्यशासनपरीक्षा को छोड़कर मुद्रित भी हो चुकी हैं। आचार्य विद्यानन्दि अकलंकदेव के उत्तरकालीन और प्रभाचन्द्राचार्य के पूर्ववर्ती हैं, अतः इनका अस्तित्व-समय नवमी शताब्दी माना जाता है।[१] अभिनवधर्मभूषण ने न्यायदीपिका में इनके श्लोकवार्तिक और भाष्य का कई जगह नामोल्लेख करके उनके वाक्यों को उद्धृत किया है।

१०. प्रमाणपरीक्षा—विद्यानन्दि की ही यह अन्यतम कृति है। यह अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणों का आश्रय लेकर रची गई है। यद्यपि इसमें परिच्छेद-भेद नहीं है तथापि प्रमाणमात्र को अपना प्रतिपद्य विषय बनाकर उसका अच्छा निरूपण किया गया है। प्रमाण का सम्यग्ज्ञानत्व लक्षण करके उसके भेद-प्रभेदों, प्रमाण का विषय तथा फल और हेतुओं की इसमें सुन्दर एवं विस्तृत चर्चा की गई है। हेतु-भेदों के निदर्शक कुछ संग्रहश्लोकों को तो उद्धृत भी किया है, जो पूर्ववर्ती किन्हीं जैनाचार्यों के ही प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[२] और अष्ट-सहस्री[३] की तरह यहाँ[४] भी प्रत्यभिज्ञान के दो ही भेद गिनाये हैं। जबकि अकलंक[५] और माणिक्यनन्दि[६] ने दो से ज्यादा कहे हैं और यही मान्यता जैन परम्परा में प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठित हुई है। इससे मालूम होता है

---

१. देखो, न्यायकुमुद. द्वितीय भा. की प्रस्तावना पृष्ठ ३० और स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ ४८ सत्यशासनपरीक्षा भी अब प्रकाशित हो चुका है।

२. ''तद्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्।'' - त. श्लोक. पृ. १९०

३. ''तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्य''- अष्टस. पृ. २७९

४. ''द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं'', प्रमाणप. पृ. ६९

५. देखो, लघीय. का. २१

६. देखो, परीक्षामुख ३-५ से ३-१०

कि प्रत्यभिज्ञान के दो भेदों की मान्यता विद्यानन्दि की अपनी है। आचार्य धर्मभूषण ने पृष्ठ २८ पर इस ग्रन्थ की नामोल्लेख के साथ एक कारिका उद्धृत की है।

११. पत्रपरीक्षा—यह भी आचार्य विद्यानन्दि की रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणों की समालोचनापूर्वक जैनदृष्टि से पत्र का बहुत सुन्दर लक्षण किया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु—इन दो अवयवों को ही अनुमानांग बतलाया है। न्यायदीपिका पृष्ठ १११ पर इस ग्रन्थ का नामोल्लेख हुआ है और उसमें अवयवों के विचार को विस्तार से जानने की सूचना की है।

१२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—यह आचार्य माणिक्यनन्दि के 'परीक्षा-मुख' सूत्रग्रन्थ पर रचा गया प्रभाचन्द्राचार्य का बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। इसे पिछले लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने 'उदारचन्द्रिका' की उपमा दी और अपनी कृति प्रमेयरत्नमाला को उसके सामने जुगुनू के सदृश बतलाया है। इससे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का महत्त्व ख्यापित हो जाता है। निःसन्देह मार्त्तण्ड के प्रदीप्त प्रकाश में दर्शनान्तरीय प्रमेय स्फुटतया भासमान होते हैं। स्वतत्त्व, परतत्त्व और यथार्थता, अयथार्थता का निर्णय करने में कठिनाई नहीं मालूम होती। इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र ईसा की १० वीं और ११ वीं शताब्दी (९८० से १०६५ ईसवी) के विद्वान् माने जाते हैं।[१] इन्होंने प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड के अलावा न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थ-वृत्तिपद-विवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोज-भास्कर, प्रवचनसार-सरोज-भास्कर, गद्यकथाकोश, रत्नकरण्डक-श्रावकाचार टीका और समाधितंत्र टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है। इनमें गद्यकथाकोश स्वतन्त्र कृति है और शेष टीका कृतियाँ हैं। धर्मभूषण ने न्यायदीपिका पृष्ठ ४६ पर तो इस ग्रन्थ का केवल नामोल्लेख और पृष्ठ ७५ पर नामोल्लेख के साथ एक वाक्य को भी उद्धृत किया है।

१३. प्रमाणनिर्णय—न्यायविनिश्चयविवरणटीका के कर्ता आचार्य

---

१. देखो, न्यायकुमुद. द्वितीय भाग प्र. पृष्ठ ५८ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रस्तावना, पृ. ६७

वादिराजसूरि का यह स्वतन्त्र तार्किक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें प्रमाणलक्षण-निर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगमनिर्णय-ये चार निर्णय (परिच्छेद) हैं, जिनके नामों से ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट मालूम हो जाता है। न्यायदीपिका पृष्ठ १८ पर इस ग्रन्थ के नामोल्लेख के साथ एक वाक्य को उद्धृत किया गया है।

१४. कारुण्यकलिका—यह सन्दिग्ध ग्रन्थ है। न्यायदीपिकाकार ने पृष्ठ १५१ पर इस ग्रन्थ का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है-

''प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते'' परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी हम यह निर्णय नहीं कर सके कि यह ग्रन्थ जैन रचना है या जैनेतर अथवा स्वयं ग्रन्थकार की ही न्यायदीपिका के अलावा यह अन्य दूसरी रचना है क्योंकि अब तक के मुद्रित जैन और जैनेतर ग्रन्थों की प्राप्त सूचियों में भी यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, अतः ऐसा मालूम होता है कि यह या तो नष्ट हो चुका है या किसी लाइब्रेरी में असुरक्षित रूप में पड़ा है। यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लाइब्रेरी में है तो इसकी खोज होकर प्रकाश में आना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अच्छा ग्रन्थ मालूम होता है। न्यायदीपिकाकार के उल्लेख से विदित होता है कि उसमें विस्तार से उपाधि का निराकरण किया गया है। सम्भव है गदाधर के 'उपाधिवाद' ग्रन्थ का भी इसमें खण्डन हो।

१. स्वामी समन्तभद्र—ये वीरशासन के प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युग के प्रवर्तक महान् आचार्य हुए हैं। सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलंकदेव ने इन्हें कलिकाल में स्याद्वादरूपी पुण्योदधि के तीर्थ का प्रभावक बतलाया है[1]। आचार्य जिनसेन ने इनके वचनों को भगवान् वीर के वचनतुल्य प्रकट किया है[2] और एक शिलालेख[3] में तो भगवान् वीर के तीर्थ की हजारगुणी वृद्धि करने वाला भी कहा है। आचार्य हरिभद्र और

१. देखो, अष्टशती, पृ. २

२. देखो, हरिवंशपुराण १-३०

३. देखो, वेलूर ताल्लुके का शिलालेख नम्बर १७

विद्यानन्दि जैसे बड़े-बड़े आचार्यों ने उन्हें '**वादिमुख्य**' '**आद्यस्तुतिकार**' '**स्याद्वादन्यायमार्ग का प्रकाशक**' आदि विशेषणों द्वारा स्मृत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरवर्ती आचार्यों ने जितना गुणगान स्वामी समन्तभद्र का किया है उतना दूसरे आचार्यों का नहीं किया। वास्तव में स्वामी समन्तभद्र ने वीरशासन की जो महान् सेवा की है वह जैन वाङ्मय के इतिहास में सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार और जिनशतक (जिनस्तुतिशतक), ये पाँच उपलब्ध कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध हैं। तत्त्वानुशासन, जीवसिद्धि, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य, इन ५ ग्रन्थों के भी इनके द्वारा रचे जाने के उल्लेख ग्रन्थान्तर में मिलते हैं[१]। परन्तु अभी तक कोई उपलब्ध नहीं हुआ। गन्धहस्तिमहाभाष्य (महाभाष्य) के सम्बन्ध में मैं पहले विचार कर आया हूँ। स्वामी समन्तभद्र बौद्ध विद्वान् नागार्जुन (१८१ ईसवी) के समकालीन या कुछ ही समय बाद के और दिग्नाग (३४५-४२५ ईसवी) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं[२] अर्थात् इनका अस्तित्व-समय प्रायः ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी है। कुछ विद्वान् इन्हें दिग्नाग (४२५ ईसवी) और धर्मकीर्ति (६३५ ईसवी) के उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं[३] अर्थात् पाँचवीं और सातवीं शताब्दी बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में जो उनकी दलीलें हैं, उनका युक्तिपूर्ण विचार अन्यत्र[४] किया है। अतः इस संक्षिप्त स्थान पर पुनः विचार करना शक्य नहीं है, न्यायदीपिकाकार ने न्यायदीपिका में अनेक जगह स्वामी समन्तभद्र का नामोल्लेख किया है और उनके प्रसिद्ध दो स्तोत्रों-देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) और स्वयम्भूस्तोत्र

---

१. इन ग्रन्थों के परिचय के लिए मुख्तार सा. का ''स्वामी समन्तभद्र'' ग्रन्थ देखें।

२. देखो, 'नागार्जुन और स्वामी समन्तभद्र' तथा 'स्वामी समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन' शीर्षक दो मेरे निबन्ध 'अनेकान्त' वर्ष ७ किरण १-२ और वर्ष ५ कि. १२

३. देखो, न्यायकुमुद. द्वितीय भाग का प्राक्कथन और प्रस्तावना।

४. देखो, 'क्या स्वामी समन्तभद्र धर्मकीर्ति के उत्तरकालीन हैं ?' नामक मेरा लेख, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ११ किरण १

से अनेक कारिकाओं को उद्धृत किया है।

२. भट्टाकलंकदेव—ये 'जैनन्याय के प्रस्थापक' के रूप में स्मृत किये जाते हैं। जैन परम्परा के सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किक इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह 'न्यायमार्ग' 'अकलंकन्याय' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थवार्तिक-भाष्य को छोड़कर सभी गूढ़ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारों ने इनके पदों की व्याख्या करने में अपने को असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलंकदेव का वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलता के कारण विद्वानों के लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है, जबकि उन पर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। जैन साहित्य में ही नहीं, बल्कि भारतीय दर्शन साहित्य में अकलंकदेव की सर्व कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनकी कतिपय कृतियों का कुछ परिचय पहले कर आये हैं। श्रीमान् पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इनका अस्तित्वकाल अन्तःपरीक्षा आदि प्रमाणों के आधार पर ईसा की आठवीं शताब्दी (७२० से ७८० ईसवी) निर्धारित किया है।[१] न्यायदीपिका में धर्मभूषणजी ने कई जगह इनके नाम का उल्लेख किया है और तत्त्वार्थवार्तिक तथा न्यायविनिश्चय से कुछ वाक्यों को उद्धृत किया है।

३. कुमारनन्दि भट्टारक—यद्यपि इनकी कोई रचना इस समय उपलब्ध नहीं है, इससे इनका विशेष परिचय कराना अशक्य है, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि ये आचार्य विद्यानन्दि के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं और अच्छे जैन तार्किक हुए हैं। विद्यानन्दि स्वामी ने अपने प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इनका और इनके 'वादन्याय' का नामोल्लेख किया है तथा उसकी कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। इससे इनकी उत्तरावधि तो विद्यानन्दि का समय है अर्थात् ९ वीं

१. देखो, अकलंकग्रन्थत्रय की प्रस्तावना, पृ. ३२

शताब्दी है और अकलंकदेव के उत्तरकालीन मालूम होते हैं, क्योंकि अकलंकदेव के समकालीन का अस्तित्व परिचायक इनका अब तक कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है, अतः अकलंकदेव का समय (८ वीं शताब्दी) इनकी पूर्वावधि है। इस तरह ये ८ वीं, ९ वीं सदी के मध्यवर्ती विद्वान् जान पड़ते हैं। चन्द्रगिरि पर्वत पर उत्कीर्ण शिलालेख नम्बर २२७ (१३६) में इनका उल्लेख है जो ९ वीं शताब्दी का अनुमानित किया जाता है।[१] इनके महत्त्व का 'वादन्याय' नाम का तर्क ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है जिसके केवल उल्लेख मिलते हैं। आचार्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका पृष्ठ ९३ और ११२ पर "**तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः**" कहकर इनके वादन्याय की एक कारिका के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को अलग-अलग उद्धृत किया है।

४. माणिक्यनन्दि—ये कुमारनन्दि भट्टारक की तरह नन्दिसंघ के प्रमुख आचार्यों में हैं। इनकी एकमात्र कृति परीक्षामुख है। जिसके सम्बन्ध में हम पहले प्रकाश डाल आए हैं। इनका समय १० वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। ग्रन्थकार ने न्यायदीपिका में कई जगह इनका नामोल्लेख किया है। एक स्थान (पृष्ठ १६२) पर तो 'भगवान्' और 'भट्टारक' जैसे महनीय विशेषणों सहित इनके नाम का उल्लेख करके परीक्षामुख के सूत्र को उद्धृत किया है।

५. स्याद्वादविद्यापति—यह आचार्य वादिराजसूरि की विशिष्ट उपाधि थी जो उनके स्याद्वादविद्या के अधिपतित्व-अगाध पाण्डित्य को प्रकट करती है। आचार्य वादिराज अपनी इस उपाधि से इतने अभिन्न एवं तदात्म जान पड़ते हैं कि उनकी इस उपाधि से ही पाठक वादिराजसूरि को जान लेते हैं। यही कारण है कि न्यायविनिश्चयविवरण के सन्धिवाक्यों में 'स्याद्वादविद्यापति' उपाधि के द्वारा ही वे अभिहित हुए हैं[२]। न्यायदीपिकाकार ने भी न्यायदीपिका के पृष्ठ ३८ और ९६ पर इसी उपाधि से उनका उल्लेख

---

१. देखो, जैन शिलालेख सं. पृ. १५२, ३२१

२. इसका एक नमूना इस प्रकार है - इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापतिविरचितन्याय-विनिश्चयकारिकाविवरणे प्रत्यक्षप्रस्तावः प्रथमः। - लि. पत्र ३०६

किया है और पृष्ठ ३८ पर तो इसी नाम के साथ एक वाक्य को भी उद्धृत किया है। मालूम होता है कि 'न्यायविनिश्चय' जैसे दुरूह तर्कग्रन्थ पर अपना बृहत्काय विवरण लिखने के उपलक्ष में ही इन्हें गुरुजनों अथवा विद्वानों द्वारा उक्त गौरवपूर्ण स्याद्वाद-विद्या के धनी रूप उच्च पदवी से सम्मानित किया होगा। वादिराजसूरि केवल अपने समय के महान् तार्किक ही नहीं थे, बल्कि वे सच्चे अर्हद्भक्त एवं आज्ञाप्रधानी, वैयाकरण और अद्वितीय उच्च कवि भी थे[१]। न्यायविनिश्चय, पार्श्वनाथ चरित्त, यशोधर चरित्त, प्रमाण-निर्णय, एकीभाव स्तोत्र आदि इनकी कृतियाँ हैं। इन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित्त शक सम्वत् ९४७ (१०२५ ईसवी) में समाप्त किया है, अतः ये ईसा की ११ वीं सदी के पूर्वार्द्ध के विद्वान् हैं।

२. अभिनव-धर्मभूषण

प्रासंगिक—

जैन समाज ने अपने महान् पुरुषों-तीर्थंकरों, राजाओं, आचार्यों, श्रेष्ठिवरों, विद्वानों तथा तीर्थक्षेत्रों, मन्दिरों और ग्रन्थागारों आदि के इतिवृत्त को संकलन करने की प्रवृत्ति की ओर बहुत कुछ उपेक्षा एवं उदासीनता रखी है। इसी से आज सब कुछ होते हुए भी इस विषय में हम दुनिया की नजरों में अकिञ्चन समझे जाते हैं। यद्यपि यह प्रकट है कि जैन इतिहास की सामग्री विपुल रूप में भारत के कोने-कोने में सर्वत्र विद्यमान है, पर वह बिखरी हुई असम्बद्ध रूप में पड़ी हुई है। यही कारण है कि जैन इतिहास को जानने के लिए या उसे सम्बद्ध करने के लिए अपरिमित कठिनाइयाँ आती हैं और अन्धेरे में टटोलना पड़ता है। प्रसन्नता की बात है कि कुछ दूरदर्शी श्रीमान् विद्वान् वर्ग का अब इस ओर ध्यान गया और उन्होंने इतिहास तथा साहित्य के संकलन, अन्वेषण आदि का क्रियात्मक प्रयत्न आरम्भ कर दिया है।

---

१. ''वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥'' एकीभावस्तोत्र २६

आज हम अपने जिन ग्रन्थकार श्री अभिनव-धर्मभूषण का परिचय देना चाहते हैं उनको जानने के लिए जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पूरे पर्याप्त नहीं हैं; उनके माता-पितादि का क्या नाम था ? जन्म और स्वर्गवास कब, कहाँ हुआ? आदि का उनसे कोई पता नहीं चलता है; फिर भी सौभाग्य और सन्तोष की बात यही है कि उपलब्ध साधनों से उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, गुरु-परम्परा और समय का कुछ प्रामाणिक परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं शिलालेख, ग्रन्थोल्लेख आदि साधनों पर से ग्रन्थकार के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए प्रस्तुत हुए हैं।

ग्रन्थकार और उनके अभिनव तथा यति विशेषण

इस ग्रन्थ के कर्ता अभिनव-धर्मभूषण यति हैं। न्यायदीपिका के पहले और दूसरे प्रकाश के पुष्पिकावाक्यों में 'यति' विशेषण तथा तीसरे प्रकाश के पुष्पिकावाक्य में 'अभिनव' विशेषण इनके नाम के साथ पाये जाते हैं। जिससे मालूम होता है कि न्यायदीपिका के रचयिता धर्मभूषण अभिनव और यति दोनों कहलाते थे। जान पड़ता है कि अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणों से अपने को व्यावृत्त करने के लिए 'अभिनव' विशेषण लगाया है क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक नाम के अनेक व्यक्तियों में अपने को जुदा करने के लिए कोई उपनाम रख लिया जाता है। अतः 'अभिनव' न्यायदीपिकाकार का एक व्यावर्त्तक विशेषण या उपनाम समझना चाहिए। जैन साहित्य में ऐसे और भी कई आचार्य हुए हैं, जो अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण लगाते हुए पाये जाते हैं। जैसे अभिनव पण्डिताचार्य[१] (शक. १२३३), अभिनव श्रुतमुनि[२], अभिनव गुणभद्र[३] और अभिनव पण्डितदेव[४] आदि। अतः पूर्ववर्ती अपने नाम वालों से व्यावृत्ति के लिए 'अभिनव' विशेषण एक परिपाटी है। 'यति' विशेषण

१. देखो, शिलालेख नम्बर ४२१

२. देखो, जैन शिलालेख सं. पृ. २०१, शिलालेख १०५ (२४५)

३. देखो, ''सी.पी. एण्ड बरार कैटलाग'' रा. ब. हीरालाल द्वारा सम्पादित।

४. देखो, जैन शिलालेख सं. पृ. ३४५ शिलालेख न. ३६२ (२५७)

तो स्पष्ट है, क्योंकि वह मुनि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्रीवर्द्धमान भट्टारक के उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय में हुए हैं, इसलिए इस विशेषण के द्वारा यह भी निर्भ्रान्त ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थकार दिगम्बर जैन मुनि थे और भट्टारक नाम से लोकविश्रुत थे।[१]

धर्मभूषण नाम के दूसरे विद्वान्

ऊपर कहा गया है कि ग्रन्थकार ने दूसरे पूर्ववर्ती धर्मभूषणों से भिन्नत्व ख्यापित करने के लिए अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है, अतः यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में धर्मभूषण नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक धर्मभूषण वे हैं जो भट्टारक धर्मचन्द्र के पट्ट पर बैठे थे और जिनका उल्लेख बरार प्रान्त के मूर्तिलेखों में बहुलतया पाया जाता है।[२] ये मूर्तिलेख शकसम्वत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हुए हैं, परन्तु ये धर्मभूषण न्याय-दीपिकाकार के उत्तरकालीन हैं। दूसरे धर्मभूषण वे हैं जिनके आदेशानुसार केशववर्णी ने अपनी 'गोम्मटसार' की 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक टीका शकसम्वत् १२८१ (१३५९ ईसवी) में बनाई है।[३] तीसरे धर्मभूषण वे हैं जो अमरकीर्ति के गुरु थे तथा विजयनगर के शिलालेख नम्बर २ में उल्लिखित तीन धर्मभूषणों में पहले नम्बर पर जिनका उल्लेख है और जो ही सम्भवतः विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख नम्बर १११ (२७४) में भी अमरकीर्ति के गुरु रूप से उल्लिखित हैं। यहाँ उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे धर्मभूषण वे हैं जो अमरकीर्ति के शिष्य और विजयनगर

---

१. ''शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।
भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः।'' विजयनगरशिलालेख नम्बर २

२. 'सहस्रनामाराधना' के कर्ता देवेन्द्रकीर्ति ने भी 'सहस्रनामाराधना' में इन दोनों विद्वानों का अपने गुरु और प्रगुरु रूप से उल्लेख किया है। देखो, जैन सिद्धान्त भवन आरा से प्रकाशित प्रशस्ति सं. पृ. ९४

३. देखो, डॉ. ए.एन. उपाध्ये का 'गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १ पृ. ११८

शिलालेख नम्बर २ गत पहले धर्मभूषण के प्रशिष्य हैं एवं सिंहनन्दि व्रती के सधर्मा हैं तथा विजयनगर के शिलालेख नम्बर २ के ११वें पद्य में दूसरे नम्बर के धर्मभूषण के रूप में उल्लिखित हैं।

ग्रन्थकार धर्मभूषण और उनकी गुरु परम्परा

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता धर्मभूषण उपर्युक्त धर्मभूषणों से भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगर के शिलालेख नम्बर २ में तीसरे नम्बर के धर्मभूषण के स्थान पर है तथा जिन्हें स्पष्टतया श्रीवर्द्धमान भट्टारक का शिष्य बतलाया है। न्यायदीपिकाकार ने स्वयं न्यायदीपिका के अन्तिम पद्य[१]और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्य[२] में अपने गुरु का नाम श्रीवर्द्धमान भट्टारक प्रकट किया है। मेरा अनुमान है कि मङ्गलाचरण पद्य में भी उन्होंने 'श्रीवर्द्धमान' पद के प्रयोग द्वारा वर्द्धमान तीर्थंकर और अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक दोनों को स्मरण किया है, क्योंकि अपने परापरगुरु का स्मरण करना सर्वथा उचित ही है। श्री धर्मभूषण अपने गुरु के अत्यन्त अनन्य भक्त थे। वे न्यायदीपिका के उसी अन्तिम पद्य और पुष्पिकावाक्य में कहते हैं कि उन्हें अपने उक्त गुरु की कृपा से ही सरस्वती का प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ था और उनके चरणों की स्नेहमयी भक्तिसेवा से न्यायदीपिका की पूर्णता हुई है। अतः मंगलाचरण पद्य में अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक का भी उनके द्वारा स्मरण किया जाना सर्वथा सम्भव एवं संगत है।

विजयनगर के उस शिलालेख में जो शकसम्वत् १३०७ (१३८५ ईसवी) में उत्कीर्ण हुआ है, ग्रन्थकार की जो गुरु-परम्परा दी गई है उसके सूचक शिलालेखगत प्रकृत के उपयोगी कुछ पद्यों को यहाँ दिया जाता है–

''यत्पादपङ्कजरजो रजो हरति मानसं।

स जिनः श्रेयसे भूयाद् भूयसे करुणालयः॥ १॥

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥२॥

१-२. देखो, पृ. १३२

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेतिसंज्ञः।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी॥ ३॥
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा॥ ४॥
केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम्।
जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजसः॥ ५॥
तत्रासीच्चारुचारित्ररत्नरत्नाकरो गुरुः।
धर्मभूषणयोगीन्द्रो भट्टारकपदांचितः॥ ६॥
भाति भट्टारको धर्मभूषणो गुणभूषणः।
यद्यशः कुसुमामोदे गगनं भ्रमरायते॥ ७॥
शिष्यस्तस्य गुरोरासीदनर्गलतपोनिधिः।
श्रीमानमरकीर्त्त्यार्यो देशिकाग्रेसरः शमी॥ ८॥
निजपक्षपुटकवाटं घटयित्वाऽनिलनिरोधितो हृदये।
अविचलितबोधदीपं तममरकीर्त्ति भजे तमोहरणम्॥ ९॥
केऽपि स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनान्तराः।
योगीशा भुवि सम्भवन्तु बहवः किं तैरनन्तैरिह॥
धीरः स्फूर्जति दुर्जयातनुमदध्वंसी गुणैरूर्ज्जित-
राचार्योऽमरकीर्तिशिष्यगणभृच्छ्रीसिंहनन्दीव्रती॥ १०॥
श्रीधर्मभूषोऽजनि तस्य पट्टे श्रीसिंहनन्द्यार्यगुरोस्सधर्मा।
भट्टारकः श्रीजिनधर्महर्म्यस्तम्भायमानः कुमुदेन्दुकीर्तिः॥ ११॥
पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः।
श्रीसिंहनन्दियोगीन्द्रचरणाम्भोजषट्पदः॥ १२॥
शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।
भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः[१]॥ १३॥

---

१. इसके आगे के लेख में १५ पद्य और हैं जिनमें राजवंश का ही वर्णन है।

इन पद्यों में अभिनव-धर्मभूषण की इस प्रकार गुरु-परम्परा बतलाई गई है-

मूलसंघ, नन्दिसंघ-बलात्कारगण के सारस्वतगच्छ में

पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य)

|

धर्मभूषण भट्टारक (१)

|

अमरकीर्ति आचार्य (जिनके शिष्यों के शिक्षक-दीक्षक सिंहनन्दीव्रती थे)

|

श्रीधर्मभूषण भट्टारक (२) (सिंहनन्दीव्रती के सधर्मा)

|

वर्द्धमानमुनीश्वरः (सिंहनन्दीव्रती के चरणसेवक)

|

धर्मभूषण यति (३) (ग्रन्थकार)

यह शिलालेख शकसम्वत् १३०७ में उत्कीर्ण हुआ। इसी प्रकार का एक शिलालेख[1] नम्बर १११ (२७४) का है जो विन्ध्यगिरि पर्वत के

१. "श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन-शासनं॥ १॥
श्रीमूल-सङ्घपयःपयोधिवर्द्धनसुधाकराः श्रीबलात्कारगणकमल-कलिकाकलाप-विकचन दिवाकराः........ वनवा......... तकीर्त्तिदेवः तत्शिष्याः राय-भुजसुदाम.... आचार्य्य महा वादिवादीश्वर राय-वादि-पितामह सकलविद्वज्जन-चक्रवर्त्ति देवेन्द्र-विशाल-कीर्त्ति-देवाः तत्शिष्याः भट्टारक-श्रीशुभकीर्त्तिदेवास्तत्शिष्याः कलिकाल-सर्वज्ञ-भट्टारक-धर्म्मभूषणदेवाः तत्शिष्याः श्री अमरकीर्त्याचार्य्याः तत्शिष्याः मालिर्वा....ति-नृपाणां प्रथमानल......रसित......नुत पा......यमुल्लासक ....देमक.....चार्य्यपट्टविपुलायाचला......करण-मार्त्तण्ड-मण्डलानां भट्टारकधर्मभूषण देवानां...........तत्त्वार्थ-वार्द्धिवर्द्धमान-हिमांशुना......वर्द्धमानस्वामिना कारितोऽहं (यं) आचार्याणां.......स्वस्तिशक-वर्ष १२९५ परिधावि संवत्सर वैशाख-सुदी ३ बुधवारे।"-उद्धृत जैनशि. पृ. २२३ से।

अखण्ड बागिलु के पूर्व की ओर स्थित चट्टान पर खुदा हुआ है और जो शकसम्वत् १२९५ में उत्कीर्ण हुआ है। उसमें इस प्रकार परम्परा दी गई है–

मूलसंघ–बलात्कारगण
कीर्ति (वनवासिके)
|
देवेन्द्र विशालकीर्ति
|
शुभकीर्तिदेव भट्टारक
|
धर्मभूषणदेव प्रथम
|
अमरकीर्ति आचार्य
|
धर्मभूषणदेव[1] द्वितीय
|
वर्द्धमानस्वामी

इन दोनों लेखों को मिलाकर ध्यान से पढ़ने से विदित होता है कि प्रथम धर्मभूषण, अमरकीर्ति, आचार्य धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान–ये चार विद्वान् सम्भवतः दोनों के एक ही हैं। यदि मेरी यह सम्भावना ठीक है तो यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि विन्ध्यगिरि के लेख (शक १२९५) में वर्द्धमान का तो उल्लेख है पर उनके शिष्य (पट्ट के उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषण का उल्लेख नहीं है। जिससे जान पड़ता है कि उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमान के पट्टाधिकारी नहीं बन सके

१. प्रोफेसर हीरालालजी ने इनकी निषद्या बनवाई जाने का समय शकसम्वत् १२९५ दिया है। देखो, शिलालेख संख्या पृ. १३६

होंगे और इसलिए उक्त शिलालेख में उनका उल्लेख नहीं आया। किन्तु इस शिलालेख के कोई १२ वर्ष बाद शकसम्वत् १३०७ (१३८५ ईसवी) में उत्कीर्ण हुए विजयनगर के उल्लिखित शिलालेख नम्बर २ में उनका (तृतीय धर्मभूषण का) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अत: यह सहज में अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमान के पट्टाधिकारी शकसम्वत् १२९५ से १३०७ में किसी समय बन चुके थे। इस तरह अभिनव-धर्मभूषण के साक्षात् गुरु श्री वर्द्धमान मुनीश्वर और प्रगुरु द्वितीय धर्मभूषण थे। अमरकीर्ति दादागुरु और प्रथम धर्मभूषण परदादा गुरु थे और इसी से मेरे ख्याल में उन्होंने अपने इन पूर्ववर्ती पूज्य प्रगुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा परदादागुरु (प्रथम धर्मभूषण) से पश्चाद्वर्ती एवं नया बतलाने के लिए अपने को अभिनव विशेषण से विशेषित किया जान पड़ता है। जो कुछ हो, यह अवश्य है कि वे अपने गुरु के प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

समय-विचार–

यद्यपि अभिनव-धर्मभूषण की निश्चित तिथि बताना कठिन है तथापि जो आधार प्राप्त हैं उन पर से उनके समय का लगभग निश्चय हो जाता है, अत: यहाँ उनके समय का विचार किया जाता है।

विन्ध्यगिरि का जो शिलालेख प्राप्त है वह शकसम्वत् १२९५ का उत्कीर्ण किया हुआ है। मैं पहले बतला आया हूँ कि इसमें प्रथम और द्वितीय इन दो ही धर्मभूषणों का उल्लेख है और द्वितीय धर्मभूषण के शिष्य वर्द्धमान का अन्तिम रूप से उल्लेख है। तृतीय धर्मभूषण का उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता। प्रोफेसर हीरालालजी एम. ए. के उल्लेखानुसार द्वितीय धर्मभूषण की निषद्या (नि:सही) शकसम्वत् १२९५ में बनवाई गई है। अत: द्वितीय धर्मभूषण का अस्तित्व समय शकसम्वत् १२९५ तक ही समझना चाहिए। मेरा अनुमान है कि केशववर्णी को अपनी गोम्मटसार की जीवतत्त्व-प्रदीपिका टीका बनाने की प्रेरणा एवं आदेश जिन धर्मभूषण से मिला वे धर्मभूषण भी यही द्वितीय धर्मभूषण होना चाहिए; क्योंकि इनके पट्ट का समय यदि २५ वर्ष भी हो तो इनका पट्ट पर बैठने का समय

शकसम्वत् १२७० के लगभग पहुँच जाता है। उस समय या उसके उपरान्त केशववर्णी को उपर्युक्त टीका के लिखने में उनसे आदेश एवं प्रेरणा मिलना असम्भव नहीं है। चूँकि केशववर्णी ने अपनी उक्त टीका शकसम्वत् १२८१ में पूर्ण की है। अतः उस जैसी विशाल टीका के लिखने के लिए ११ वर्ष जितना समय का लगना भी आवश्यक एवं संगत है। प्रथम व तृतीय धर्मभूषण केशववर्णी के टीकाप्रेरक प्रतीत नहीं होते, क्योंकि तृतीय धर्मभूषण जीवतत्त्वप्रदीपिका के समाप्ति काल (शक १२८१) से करीब १९ वर्ष बाद गुरुपट्ट के अधिकारी हुए जान पड़ते हैं और उस समय वे प्रायः २० वर्ष के होगे अतः जीवतत्त्वप्रदीपिका के रचना–रम्भसमय में तो उनका अस्तित्व ही नहीं होगा तब वे केशववर्णी के टीका–प्रेरक कैसे हो सकते ? और प्रथम धर्मभूषण भी उनके टीकाप्रेरक सम्भव प्रतीत नहीं होते। कारण, उनके पट्ट पर अमरकीर्ति और अमरकीर्ति के पट्ट पर द्वितीय धर्मभूषण (शक १२७०–१२९५) बैठे हैं। अतः अमरकीर्ति का पट्ट समय अनुमानतः शकसम्वत् १२४५–१२७० और प्रथम धर्मभूषण का शकसम्वत् १२२०–१२४५ होता है। ऐसी हालत में यह सम्भव नहीं है कि प्रथम धर्मभूषण शकसम्वत् १२२०–१२४५ में केशववर्णी की जीवतत्त्व–प्रदीपिका के लिखने का आदेश दें और वे ६१ या ३६ वर्षों जैसे इतने बड़े लम्बे समय में उसे पूर्ण करें। अतएव यही प्रतीत होता है कि द्वितीय धर्मभूषण (शक. १२७०–१२९५) ही केशववर्णी (शक. १२८१) के उक्त टीका के लिखने में प्रेरक रहे हैं। अस्तु।

पीछे मैं यह निर्देश कर आया हूँ कि तृतीय धर्मभूषण (ग्रन्थकार) शकसम्वत् १२९५ में और शकसम्वत् १३०७ के मध्य में किसी समय अपने वर्द्धमानगुरु के पट्ट पर आसीन हुए हैं। अतः यदि वे पट्ट पर बैठने के समय (करीब शक १३०० में) २० वर्ष के हों, जैसा कि सम्भव है तो उनका जन्म समय शकसम्वत् १२८० (१३५८ ईसवी) के करीब होना चाहिए। विजयनगर साम्राज्य के स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भीमादेवी जिन वर्द्धमानगुरु के शिष्य धर्मभूषण के परम भक्त थे और जिन्हें अपना गुरु मानते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर जैन धर्म की अतिशय

प्रभावना में प्रवृत्त रहते थे वे यही तृतीय धर्मभूषण न्यायदीपिकाकार हैं। पद्मावती-बस्ती के एक लेख से ज्ञात होता है कि ''राजाधिराजपरमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमानमुनि के शिष्य धर्मभूषण गुरु के, जो बड़े विद्वान् थे, चरणों में नमस्कार किया करते थे।'' इसी बात का समर्थन शकसम्वत् १४४० में अपने ''दशभक्त्यादिमहाशास्त्र'' को समाप्त करने वाले कवि वर्द्धमान मुनीन्द्र के इसी ग्रन्थ गत निम्न श्लोक से भी होता है-

''राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुग्मः ।
श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढयमुख्यः श्रीधर्मभूषणसुखी जयति क्षमाढ्यः[1]।''

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगर नरेश प्रथम देवराय ही ''राजाधिराज-परमेश्वर'' की उपाधि से भूषित थे।[2] इनका राज्य समय सम्भवतः १४१८ ईसवी तक रहा है, क्योंकि द्वितीय देवराय ईसवी १४१९ से १४४६ तक माने जाते हैं[3]। अतः इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि वर्द्धमान के शिष्य धर्मभूषण तृतीय (ग्रन्थकार) ही देवराय प्रथम के द्वारा सम्मानित थे[4], प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं; क्योंकि वे वर्द्धमान के शिष्य नहीं थे। प्रथम धर्मभूषण तो शुभकीर्ति के और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्ति के शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव-धर्मभूषण देवराय प्रथम के समकालीन हैं अर्थात् ग्रन्थकार का अन्तिमकाल ईसवी १४१८ होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय तो उनका जीवनकाल १३५८ से १४१८ ईसवी तक समझना चाहिए। अभिनव धर्मभूषण जैसे

---

१. प्रशस्तिसं. पृ. १२५ से उद्धृत।

२-३. देखो, डॉ. भास्कर आनंद सालेतोरका **'mediaeval Jainism' p.** ३००-३०१। मालूम नहीं डॉ. सा. ने द्वितीय देवराय (१४१९-१४४६ ईसवी) की तरह प्रथम देवराय के समय का निर्देश क्यों नहीं किया?

४. डॉ. सालेतोर दो ही धर्मभूषण मानते हैं और उनमें प्रथम का समय १३७८ ईसवी और दूसरे का ईसवी १४०३ बतलाते हैं तथा वे इस झमेले में पड़ गए हैं कि कौन से धर्मभूषण का सम्मान देवराय प्रथम के द्वारा हुआ था ? (देखो, मिडियावल जैनिज्म पृष्ठ ३००)। मालूम होता है कि उन्हें विजयनगर का शिलालेख नम्बर २ आदि प्राप्त नहीं हो सका, अन्यथा वे इस निष्कर्ष पर न पहुँचते।

प्रभावशाली विद्वान् जैन साधु के लिए ६० वर्ष की उम्र पाना कोई ज्यादा नहीं है। हमारी सम्भावना यह भी है कि वे देवराय द्वितीय[१] (१४१९–१४४६ ईसवी) और उनके श्रेष्ठि संकल्प के द्वारा भी प्रणुत रहे हैं[२]। हो सकता है कि ये अन्य धर्मभूषण हों, जो हो, इतना अवश्य है कि वे देवराय प्रथम के समकालिक निश्चित रूप से हैं।

ग्रन्थकार ने न्यायदीपिका (पृष्ठ ३३) में 'बालिशाः' शब्द के साथ सायण के सर्वदर्शनसंग्रह से एक पंक्ति उद्धृत की है। सायण का समय शकसम्वत् की १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है[३], क्योंकि शकसम्वत् १३१२ का उनका एक दानपत्र मिला है जिससे वे इसी समय के विद्वान् ठहरते हैं। न्यायदीपिकाकार का 'बालिशाः' पद का प्रयोग उन्हें सायण के समकालीन होने की ओर संकेत करता है। साथ ही दोनों विद्वान् नजदीक ही नहीं, एक ही जगह–विजयनगर के रहने वाले भी थे, इसलिए यह पूरा सम्भव है कि धर्मभूषण और सायण समसामयिक होंगे या १०–५ वर्ष आगे पीछे के होंगे। अतः न्यायदीपिका के इस उल्लेख से भी पूर्वोक्त निर्धारित शकसम्वत् १२८० से १३४० या १३४८ से १४१८ समय ही सिद्ध पूर्वोक्त होता है अर्थात् ये ईसा की १४वीं सदी के उत्तरार्ध और १५ वीं सदी के प्रथम पाद के विद्वान् हैं।

डॉ. के. बी. पाठक और मुख्तार साहब इन्हें शकसम्वत् १३०७ (ईसवी १३८५) का विद्वान् बतलाते हैं[४] जो विजयनगर के पूर्वोक्त शिलालेख नम्बर २ के अनुसार सामान्यतया ठीक है, परन्तु उपर्युक्त विशेष विचार से ईसवी १४१८ तक इनकी उत्तरावधि निश्चित होती है। डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण "हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक" में इन्हें १६०० ए.डी. का विद्वान् सूचित करते हैं, पर वह ठीक नहीं है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है। मुख्तार साहब ने भी उनके इस

---

१. प्रशस्ति सं. पृष्ठ १४५ में इनका समय ईसवी १४२९–१४५१ दिया है।

२. इसके लिए जैनसिद्धान्तभवन आरा से प्रकाशित प्रशस्ति सं. में परिचय कराये गये वर्द्धमान मुनीन्द्र 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' देखना चाहिए।

३. देखो, सर्वदर्शनसंग्रह की प्रस्तावना, पृ. ३२

४–५. स्वामी समन्तभद्र, पृ. १२६

समय को गलत ठहराया है[५]।

व्यक्तित्व और कार्य

आचार्य धर्मभूषण के प्रभाव एवं व्यक्तित्वसूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे मालूम होता है कि वे अपने समय के सबसे बड़े प्रभावक और व्यक्तित्वशाली जैनगुरु थे। प्रथम देवराय, जिन्हें राजाधिराजपरमेश्वर की उपाधि थी, धर्मभूषण के चरणों में मस्तक झुकाया करते थे।[१] पद्मावती वस्ती के शासनलेख में उन्हें बड़ा विद्वान् एवं वक्ता प्रकट किया गया है। साथ में मुनियों और राजाओं से पूजित बतलाया है।[२] इन्होंने विजयनगर के राजघराने में जैनधर्म की अतिशय प्रभावना की है। मैं तो समझता हूँ कि इस राजघराने में जैनधर्म की महती प्रतिष्ठा हुई, उसका विशेष श्रेय इन्हीं अभिनव-धर्मभूषण को है जिनकी विद्वत्ता और प्रभाव के सब कायल थे। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार असाधारण प्रभावशाली व्यक्ति थे।

जैनधर्म की प्रभावना करना उनके जीवन का व्रत था ही, किन्तु ग्रन्थ रचना कार्य में भी उन्होंने अपनी अनोखी शक्ति और विद्वत्ता का बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है। आज हमें उनकी एक ही अमर रचना प्राप्त है और वह अकेली यही प्रस्तुत न्यायदीपिका है, जो जैन न्याय के वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखे हुए हैं और ग्रन्थकार की धवलकीर्ति को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। उनकी विद्वत्ता का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्टतया आलोकित हो रहा है। इसके सिवाय उन्होंने और भी कोई रचना की या नहीं, इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। पर मैं एक सम्भावना पहले कर आया हूँ कि इस ग्रन्थ का इस प्रकार से उल्लेख किया है कि जिससे लगता है कि ग्रन्थकार अपनी ही दूसरी रचना को देखने का इंगित कर रहे हैं। यदि सचमुच में यह ग्रन्थ ग्रन्थकार की रचना है तो मालूम होता है कि वह न्यायदीपिका से भी अधिक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होगा। अन्वेषकों को इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अवश्य ही पता चलाना चाहिए।

ग्रन्थकार के प्रभाव और कार्यक्षेत्र से यह भी प्रायः मालूम होता है

१-२. देखो, 'मिडियावल जैनिज्म' पृ. २९९

कि उन्होंने कर्णाटक देश के उपर्युक्त विजयनगर को ही अपनी जन्मभूमि बनायी होगी और वहीं उनका शरीर त्याग अर्थात् समाधि हुई होगी क्योंकि वे गुरु परम्परा से चले आये विजय नगर के भट्टारक के पट्ट पर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधि का स्थान भी विजयनगर है।

उपसंहार

इस प्रकार ग्रन्थकार अभिनव–धर्मभूषण और उनकी प्रस्तुत अमरकृति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से दो शब्द लिखने का प्रथम साहस किया। इतिहास एक ऐसा विषय है जिसमें चिन्तन की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है और इसीलिए सच्चा ऐतिहासिक अपने कथन एवं विचार को अन्तिम नहीं मानता। इसलिए सम्भव है कि धर्मभूषण जी के ऐतिहासिक जीवन परिचय में अभी परिपूर्णता न आ पाई हो। फिर भी उपलब्ध साधनों पर से जो निष्कर्ष निकाले जा सके हैं उन्हें विद्वानों के समक्ष विशेष विचार के लिए प्रस्तुत किया है। इत्यलम्।

– दरबारीलाल जैन कोठिया

चैत्र कृष्णा १०, वि २००२
ता. ७/४/१९४५ देहली

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

ॐ

श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतिविरचिता

न्यायदीपिका

(प्रकाशाख्यटिप्पणोपेता)

१. प्रमाणसामान्य प्रकाशः

(मङ्गलाचरणम्)

[1]श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं नत्वा बाल-प्रबुद्धये।
विरच्यते मित-स्पष्ट-सन्दर्भ-न्यायदीपिका ॥१॥

मंगलाचरण और ग्रन्थ-प्रतिज्ञा

अर्थ—वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर और वर्द्धमान; इन पाँच नाम विशिष्ट अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी को अथवा अन्तरंग और बहिरंग विभूति से प्रकर्ष को प्राप्त समस्त जिनसमूह को नमस्कार करके मैं (अभिनव धर्मभूषण) न्यायस्वरूप जिज्ञासु बालकों (मन्द जनों) के बोधार्थ संक्षिप्त, विशद और सुबोध न्याय-दीपिका (न्याय-स्वरूप की प्रतिपादक पुस्तिका) ग्रन्थ को बनाता हूँ।

प्रकाशाख्य-टिप्पणम्

महावीरं जिनं नत्वा बालानां सुखबुद्धये।
'दीपिकाया' विशेषार्थः 'प्रकाशेन' प्रकाश्यते ॥१॥

१. प्रकरणारम्भे, स्वकृतेर्निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्, शिष्टाचार-परिपालनार्थम् शिष्यशिक्षार्थम् नास्तिकतापरिहारार्थम् कृतज्ञताप्रकाशनार्थं वा प्रकरणकारः श्रीमदभिनव-धर्मभूषणनामा यतिः स्वेष्टदेवता-नमस्कारात्मकं मङ्गलं विदधाति-श्रीवर्द्धमानेति।

श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं चतुर्विंशतितमं तीर्थङ्करं महावीरम् अथवा श्रिया-अनन्त-चतुष्टय-स्वरूपान्तरङ्गलक्षणया समवसरणादिबहिरङ्गस्वभावया च लक्ष्म्या-, वर्द्धमानःवृद्धेः परमप्रकर्षं प्राप्तः, अर्हन् परमार्हत्समूहस्तम्। नत्वा नमस्कृत्य, कायवाङ्

भावार्थ—ग्रन्थ के आरम्भ में मंगल करना प्राचीन भारतीय आस्तिक परम्परा है। उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने जाते हैं–१. निर्विघ्न–शास्त्र–परिसमाप्ति, २. शिष्टाचार–परिपालन, ३. नास्तिकता–परिहार, ४. कृतज्ञता–प्रकाशन और ५. शिष्य–शिक्षा। इन प्रयोजनों को संग्रह करने वाला निम्नलिखित पद्य है, जिसे पण्डित आशाधरजी ने अपने अनगारधर्मामृत की टीका में उद्धृत किया है–

नास्तिकत्व–परिहारः शिष्टाचार–प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्॥

इसमें नास्तिकता परिहार, शिष्टाचार परिपालन, पुण्यावाप्ति और निर्विघ्नशास्त्र परिसमाप्ति को मंगल का प्रयोजन बताया है। कृतज्ञता प्रकाशन को आचार्य विद्यानन्दि[1] ने और शिष्यशिक्षा को आचार्य अभयदेव[2] ने प्रकट किया है। इनका विशेष खुलासा इस प्रकार है–

मनसां त्रिशुद्ध्या प्रणम्येत्यर्थः। बालानां मन्दबुद्धीनाम्। बालास्त्रिविधाः प्रोक्ताः– मतिकृताः, कालकृताः, शरीरपरिमाणकृताश्चेति। तत्रेह मतिकृता बालाःगृह्यन्ते नान्ये, तेषां व्यभिचारात्। कश्चिदष्टवर्षीयोऽपि निखिलज्ञानसंयमोपपन्नः सर्वज्ञः, कुब्जको वा सकलशास्त्रज्ञो भवति। न च तौ व्युत्पाद्यौ। अथ मतिकृता अपि बालाः किल्लक्षणा इति चेत्; उच्यते; अव्युत्पन्न–संदिग्ध–विपर्यास्तास्तत्त्वज्ञानरहिता बालाः अथवा, ये यत्रानभिज्ञास्ते तत्र बालाः अथवा ग्रहणधारणपटवो बालाः, न स्तनन्धयाः अथवा अधीत–व्याकरण–काव्य–कोशा अनधीतन्यायशास्त्रा बालाः। तेषां प्रबुद्धये प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन बोधार्थम्। मितो मानयुक्तः परिमितो वा। स्पष्टो व्यक्तः। सन्दर्भो रचना यस्यां सा चासौ 'न्याय–दीपिका'– प्रमाण–नयात्मको न्यायस्तस्य दीपिका प्रकाशिका। समासतो न्यायस्वरूपव्युत्पादनपरो ग्रन्थो 'न्यायदीपिका' इति भावः। विरच्यते मया धर्मभूषणयतिना इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

---

१. **''अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः**
प्रभवति स च शास्त्रात् तस्य चोत्पत्ति राप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै–
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥''–तत्त्वार्थश्लो. पृ. २।

२. **देखो, सन्मतितर्क टीका पृ. २।**

१. प्रत्येक ग्रन्थकार के हृदय में ग्रन्थारम्भ के समय सर्वप्रथम यह कामना अवश्य होती है कि मेरा यह प्रारम्भ किया ग्रन्थरूप कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाये। वैदिकदर्शन में ''समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्'' इस वाक्य को श्रुति-प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करके समाप्ति और मंगल में कार्यकारणभाव की स्थापना भी की गई है। न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन के पीछे के अनुयायियों ने इसका अनेक हेतुओं और प्रमाणों द्वारा समर्थन किया है। प्राचीन नैयायिकों ने[१] समाप्ति और मंगल में अव्यभिचारी कार्यकारणभाव स्थिर करने के लिए विघ्नध्वंस को समाप्ति का द्वार माना है और जहाँ मंगल के होने पर भी समाप्ति नहीं देखी जाती, वहाँ मंगल में कुछ कमी (साधनवैगुण्यादि) को बतलाकर समाप्ति और मंगल के कार्यकारणभाव की संगति बिठलाई है तथा जहाँ मंगल के बिना भी ग्रन्थ-समाप्ति देखी जाती है वहाँ अनिबद्ध वाचिक अथवा मानसिक या जन्मान्तरीय मंगल को कारण माना जाता है। नवीन नैयायिकों का[२] मत है कि मंगल का सीधा फल तो विघ्नध्वंस है और समाप्ति ग्रन्थकर्ता की

ननु मङ्गलं न करणीयं निष्फलत्वात्। न हि तस्य किञ्चित्फलमुपलभ्यते। न च निर्विघ्नपरिसमाप्तिस्तत्फलमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् समाप्तेर्मङ्गलफलत्वानुपपत्तेः। तथा हि-मङ्गलं समाप्तिं प्रति न कारणम्, अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्याम्। सर्वत्र ह्यन्वयव्यतिरेकविधया कार्यकारणभावः समधिगम्यते। कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, कारणाभावे कार्याभावो व्यतिरेकः। न चेमौ प्रकृते सम्भवतः, मङ्गलसत्त्वेऽपि मोक्षमार्गप्रकाशादौ समाप्त्यदर्शनात्। मङ्गलाभावेऽपि च परीक्षामुखादौ समाप्तिदर्शनात्। अतोऽन्वयव्यभिचारो व्यतिरेकव्यभिचारश्च। कारणसत्त्वे कार्यासत्त्वमन्वयव्यभिचारः। कारणाभावे कार्यसत्त्वं च व्यतिरेकव्यभिचार इति न चेतसि विधेयम्; मङ्गलस्य सफलत्वसिद्धेः निष्फलत्वानुपपत्तेः। तद्यथा-मङ्गलं सफलम् शिष्टाचारविषयत्वात् इत्यनुमानेन मङ्गलस्य साफल्यसिद्धेः, तच्च फलं ग्रन्थारम्भे कर्तुर्हृदि ''प्रारब्धमिदं कार्यं निर्विघ्नतया परिसमाप्यताम्'' इति कामनाया अवश्यम्भावित्वात्-निर्विघ्नसमाप्तिः कल्प्यते। यच्चोक्तम्-अन्वय व्यतिरेकव्यभिचाराभ्यामिति, तदयुक्तम्; मोक्षमार्गप्रकाशादौ

---

१. **देखो, सिद्धान्तमुक्तावली पृ. २, दिनकरी टीका पृ. ६।**

२. **मुक्तावली पृ. २, दिनकरी पृ. ६।**

प्रतिभा, बुद्धि और पुरुषार्थ का फल है। इनके मत से विघ्नध्वंस और मंगल में कार्यकारणभाव है।

जैन तार्किक आचार्य विद्यानन्दि ने[१] किन्हीं जैनाचार्य के नाम से निर्विघ्न शास्त्र परिसमाप्ति को और वादिराज[२] आदि ने निर्विघ्नता को मंगल का फल प्रकट किया है।

२. मंगल करना एक शिष्ट कर्त्तव्य है। इससे सदाचार का पालन होता है। अतः प्रत्येक शिष्ट ग्रन्थकार को शिष्टाचार परिपालन करने के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में मंगल करना आवश्यक है। इस प्रयोजन को[३] आचार्य हरिभद्र और विद्यानन्दि ने[४] भी माना है।

३. परमात्मा का गुण-स्मरण करने से परमात्मा के प्रति ग्रन्थकर्ता की भक्ति और श्रद्धा तथा आस्तिक्यबुद्धि ख्यापित होती है और इस तरह नास्तिकता का परिहार होता है। अतः ग्रन्थकर्ता को ग्रन्थ के आदि में नास्तिकता का परिहार के लिए भी मंगल करना उचित और आवश्यक है।

विघ्नबाहुल्येन मङ्गलस्य च न्यूनत्वेन समाप्त्यदर्शनात्। प्रचुरस्यैव हि मङ्गलस्य प्रचुरविघ्ननिराकरणकारणत्वम्। किञ्च, यावत्साधनसामग्र्यभावान्न तत्र समाप्तिदर्शनम्। सामग्री जनिका हि कार्यस्य नैकं कारणम् इति तथा चोक्तं श्रीवादिराजाचार्यैः- समग्रस्यैव हेतुत्वात्। असमग्रस्य व्यभिचारेऽपि दोषाभावात्। अन्यथा न पावकस्यापि धूमहेतुत्वमार्द्रेन्धनादिविकलस्य व्यभिचारात्। तस्मात्-

आर्द्रेन्धनादिसहकारिसमग्रतायां यद्वत्करोति नियमादिह धूममग्निः।
तद्वद्विशुद्ध्यतिशयादिसमग्रतायां निर्विघ्नतादि विदधाति जिनस्तवोऽपि।

– न्यायविनिश्चय वि. लि. प. २

अतो मोक्षमार्गप्रकाशादौ कारणान्तराभावान्न परिसमाप्तिः। ततो नान्वय-व्यभिचारः। नापि परीक्षामुखादौ व्यतिरेकव्यभिचारः, तत्र वाचिकस्य निबद्धरूपस्य मङ्गलस्याकरणेऽप्यनिबद्धस्य वाचिकस्य मानसिकस्य कायिकस्य वा तस्य सम्भवात्।

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १।
२. न्यायविनिश्चयविवरण लिखितप्रति पत्र २।
३. अनेकान्तजयपताका पृ. २।
४. तत्त्वार्थश्लो. पृ. १, आप्तप. पृ. ३।

४. अपने प्रारब्ध ग्रन्थ की सिद्धि में अधिकांशतः गुरुजन ही निमित्त होते हैं। चाहे उनका सम्बन्ध ग्रन्थ-सिद्धि में साक्षात् हो या परम्परा से। उनका स्मरण अवश्य ही सहायक होता है। यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रों से सुबोध न हो तो ग्रन्थ-निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक कृतज्ञ ग्रन्थकार का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए परा-पर गुरुओं का स्मरण करे। अतः कृतज्ञता-प्रकाशन भी मंगल का एक प्रमुख प्रयोजन है। इस प्रयोजन को आचार्य विद्यानन्दिादि ने स्वीकार किया है।

५. ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण को निबद्ध करने से शिष्यों, प्रशिष्यों और उपशिष्यों को मंगल करने की शिक्षा प्राप्त होती है। अतः "शिष्या अपि एवं कुर्युः" अर्थात् शिष्य-समुदाय भी शास्त्रारम्भ में मंगल करने की परिपाटी को कायम रखें, इस बात को लेकर शिष्य-शिक्षा को भी मंगल के अन्यतम प्रयोजनरूप में स्वीकृत किया है। पहले बतला आए हैं कि इस प्रयोजन को भी जैनाचार्यों ने माना है।

इस तरह जैनपरम्परा में मंगल करने के पाँच प्रयोजन स्वीकृत किए गए हैं। इन्हीं प्रयोजनों को लेकर ग्रन्थकार श्री अभिनवधर्मभूषण भी यहाँ प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं और ग्रन्थ (न्यायदीपिका के रचने) की प्रतिज्ञा करते हैं।

मङ्गलं हि मनोवचःकायभेदात् त्रिधा भिद्यते। वाचिकमपि निबद्धानिबद्धरूपेण द्विविधम्। यत्तैरेवोक्तम्-"नाप्यसति तस्मिन् तद्भवस्तस्य निबद्धस्याभावेऽप्यनिबद्धस्य तस्य परमगुरु-गुणानुस्मरणात्मनो मङ्गलस्यावश्यम्भावात् तदस्तित्वस्य च तत्कार्यदेवानुमानात्। धूमादेः प्रदेशादिव्यवहितपावकाद्यनुमानवत्। मङ्गलसामग्रीवैकल्यस्य च क्वचित्तत्कार्यस्य वैकल्यादेवानुमानाद्धूमाभावात् तदुत्पादनसमर्थदहनाभावानुमानवत्।" न्यायविनिश्चय वि. लि. प. २। विद्यानन्दस्वामिभिरप्युक्तम् - "तस्य (मङ्गलस्य) शास्त्रे निबद्धस्या-निबद्धस्य वा वाचिकस्य मानसस्य वा विस्तरतः संक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्यंकरणात्। तदकरणे तेषां तत्कृतोपकारविस्मरणादसाधुत्वप्रसङ्गात्। साधूनां कृतस्योपकारस्या-विस्मरणप्रसिद्धेः।"न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" इति वचनात्।" - आप्तपरीक्षा पृष्ठ ३। परमेष्ठिगुण-स्तोत्ररूपस्य मङ्गलस्य पुण्यावाप्तिरधर्मप्रध्वंसः फलमिति तु तत्त्वम्। अतो ग्रन्थादौ मङ्गल-मवश्यमाचरणीयमिति।

(प्रमाण-नय-विवेचनस्य पीठिका)

१. ''प्रमाणनयैरधिगमः'' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्[1] (१-६)। [2]तत्खलु परमपुरुषार्थ[3] निःश्रेयस-साधनसम्यग्दर्शनादि[4] विषयभूत-जीवादि[5]तत्त्वाधिगमोपायनिरूपणपरम्। प्रमाणनयाभ्यां हि[1*] विवेचिता[6] जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते[7]। तद्व्यतिरेकेण[8] जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरा-सम्भवात्[9]। तत[10] एव जीवाद्यधि-गमोपायभूतौ प्रमाणनयावपि

---

१. प्रमाणनयैरधिगमः (त. सू. १-६) यह महाशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र के पहले अध्याय का छठवाँ सूत्र है। वह परमपुरुषार्थ-मोक्ष के कारणभूत* सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष; इन तत्त्वों का** ज्ञान कराने वाले उपायों का प्रमाण और नयरूप से निरूपण करता है क्योंकि प्रमाण और नय के द्वारा ही जीवादि पदार्थों का विश्लेषणपूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है। प्रमाण और नय को छोड़कर जीवादिकों के जानने में अन्य कोई उपाय नहीं है।*** इसलिए जीवादि तत्त्वज्ञान के उपायभूत प्रमाण और नय भी

---

१. मोक्षशास्त्रापरनामधेयम्। २. सूत्रम्। ३. चत्वारः पुरुषार्थाः-धर्मार्थकाममोक्षाः, तेषु परमः पुरुषार्थो मोक्षः, स एव निश्रेयसमित्युच्यते। सकलप्राणिभिर्मुख्य साध्यत्वेनाभीष्टत्वान्मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वमितिभावः। ४. आदिपदात् सम्यग्ज्ञानं सम्यक् चारित्रं च गृह्येते। ५. अत्रादिपदेनाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षतत्त्वानि गृहीतव्यानि। ६. पृथक्कृताः विश्लेषिता इत्यर्थः। ७. ज्ञायन्ते। ८. प्रमाणनयाभ्यां विना। ९. प्रमाणनयातिरिक्ततृतीयादि-प्रकारस्याभावात्। १०. प्रकारान्तरासम्भवादेव।

१*. द आ प्रत्योः 'हि' पाठो नास्ति।

*** 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'-त.सू. १-१।**

**** 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'-त.सू. १-४।**

*** ** लक्षण और निक्षेप का भी यद्यपि शास्त्रों में पदार्थों के जानने के उपायरूप से निरूपण है तथापि मुख्यतया प्रमाण और नय ही अधिगम के उपाय हैं। दूसरे लक्षण के ज्ञापक होने से प्रमाण में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है और निक्षेप नयों के विषय होने से नयों में शामिल हो जाते हैं।**

विवेक्तव्यौ[११]। तद्विवेचनपराः[१२] प्राक्तनग्रन्थाः[१३] सन्त्येव, तथापि ते[१*] केचिद्विस्तृताः[१४], केचिद् गम्भीरा[१५] इति न तत्र बालाना[१६]मधिकारः[१७]। ततस्तेषां सुखोपायेन[१८] प्रमाण-नयात्मक न्याय[१९]-स्वरूपप्रतिबोधक शास्त्राधिकारसम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते[२०]।

(त्रिविधायाः प्रकरणप्रवृत्तेः कथनम्)

२. इह[२१] हि प्रमाण-नयविवेचनमुद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षा-द्वारेण[२२]

विवेचनीय-व्याख्येय हैं। यद्यपि इनका विवेचन करने वाले प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान हैं[१] तथापि उनमें कितने ही ग्रन्थ विशाल हैं[२] और कितने ही अत्यन्त गम्भीर हैं[३]-छोटे होने पर भी अत्यन्त गहन और दुरूह हैं। अतः उनमें बालकों का प्रवेश सम्भव नहीं है।

इसलिए उन बालकों को सरलता से प्रमाण और नयरूप न्याय के स्वरूप का बोध कराने वाले शास्त्रों में प्रवेश पाने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

उद्देश्यादि तीन रूप से ग्रन्थ की प्रवृत्ति का कथन

२. इस ग्रन्थ में प्रमाण और नय का व्याख्यान उद्देश्य, लक्षण-निर्देश तथा परीक्षा; इन तीन द्वारा किया जाता है क्योंकि विवेचनीय वस्तु का

---

११. व्याख्यातव्यौ। १२. प्रमाण-नयव्याख्यानतत्पराः। १३. अकलंकादिप्रणीता न्याय-विनिश्चयादयः। १४. प्रमेयकमल-मार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-न्यायविनिश्चय-विवरणादयः। १५. न्यायविनिश्चय-प्रमाणसंग्रहश्लोकवार्त्तिकादयः। १६. प्रोक्त-लक्षणानाम्। १७. प्रवेशः। १८. अक्लेशेन। १९. निपूर्वादिणगतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्यये सति न्यायशब्दसिद्धिः, नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः, अर्थपरिच्छेदकोपायो न्याय इत्यर्थः। स च प्रमाण-नयात्मक एव ''प्रमाणनयैरधिगमः'' इत्यभिहितत्त्वादिति, लक्षण-प्रमाण-नय-निक्षेप-चतुष्टयात्मको न्याय इति च। लक्षण-प्रमाणाभ्यामर्थ-सिद्धिरित्यतो लक्षणप्रमाणे न्याय इत्यन्ये। प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय इत्येके। पञ्चावयव-वाक्यप्रयोगो न्याय इत्यपि केचित्। २०. न्यायदीपिकाख्यम्। २१. अत्र प्रकरणे। २२. अत्रेदं बोध्यम्-उद्देशस्य प्रयोजनं विवेचनीयस्य वस्तुनः परिज्ञानम्। लक्षणस्य

१*. प म मु प्रतिषु 'ते' पाठो नास्ति।

---

१. अकलंकादिप्रणीत न्यायविनिश्चय आदि। २. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड वगैरह। ३. न्यायविनिश्चय आदि।

क्रियते। अनुद्दिष्टस्य[२३] लक्षणनिर्देशानुपपत्तेः। अनिर्दिष्टलक्षणस्य परीक्षितुमशक्यत्वात्। अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्। लोक-शास्त्रयोरपि तथैव[२४] वस्तुविवेचनप्रसिद्धेः।

३. तत्र[२५]विवेक्तव्यनाममात्रकथन[२६]मुद्देशः। व्यतिकीर्ण वस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्[२७]। तदाहुर्वार्तिककारपादाः[२८] ''परस्परव्यतिकरे[२९] सति

उद्देश्य-नामोल्लेख किए बिना लक्षणकथन नहीं हो सकता और लक्षणकथन किए बिना परीक्षा नहीं हो सकती तथा परीक्षा हुए बिना विवेचन-निर्णयात्मक वर्णन नहीं हो सकता। लोक[१] और शास्त्र[२] में भी उक्त प्रकार (उद्देश्य, लक्षण-निर्देश और परीक्षा) से ही वस्तु का निर्णय प्रसिद्ध है।

३. विवेचनीय वस्तु के केवल नामोल्लेख करने को उद्देश्य कहते हैं। जैसे ''प्रमाणनयैरधिगमः'' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नय का उद्देश्य किया गया है। मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को (चिह्न को) लक्षण कहते हैं। जैसा कि श्री अकलंकदेव

व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा प्रयोजनम्। परीक्षायाश्च लक्षणे दोषपरिहारः प्रयोजनम्। अतएव शास्त्रकारा उद्देशलक्षण-निर्देशपरीक्षाभिः शास्त्रप्रवृत्तिं कुर्वाणा दृष्टाः। २३. अकृतोद्देशस्य पदार्थस्य। २४. उद्देशादिद्वारेण। २५. उद्देशादिषु मध्ये। २६. विवेचन योग्यस्य नाममात्रनिरूपणम्, यथा घटविवेचनप्रारब्धे घट एव विवेक्तव्यो भवति। २७. परस्परमिलितानां वस्तूनां व्यावृत्तिजनकं यत् तल्लक्षणमिति भावः। अत्र लक्षणं लक्ष्यं, शेषं तस्य लक्षणम्। २८. तत्त्वार्थवार्तिककाराः श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवाः।''पादाः भट्टारको देवः प्रयोज्याः पूज्यनामतः।''आ. प.१। २९. समानधर्माधारतया परस्परविषयगमनं व्यतिकर इति, एवं यत्रान्योन्यव्यतिकरे सति इति भावः।

---

१. स्वर्णकार जैसे सुवर्ण का पहले नाम निश्चित करता है फिर परिभाषा बाँधता है और खोटे खरेके के लिए मसान पर रखकर परीक्षा करता है तब वह इस तरह सुवर्ण का ठीक निर्णय करता है।

२. ''त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधान उद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते नवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा।''—न्यायभा. १-१-२।

[30]**"येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्"** (तत्त्वार्थ वा. २-८) इति।

४. द्विविधं[1*] लक्षणम्[2*], आत्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र[31] यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्[32], यथाऽग्नेरौष्ण्यम्। औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपं [3*]सदग्निमबादिभ्यो[33] व्यावर्त्तयति। [34]तद्विपरीतम- [35]नात्मभूतम्[4*], यथा दण्डः पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषाननुप्रविष्ट एव

ने राजवार्तिक में कहा है–परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं।

४. लक्षण के दो भेद हैं*–१. आत्मभूत और २. अनात्मभूत। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जलादि पदार्थों से जुदा करती है। इसलिए उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो उससे पृथक् हो, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे–दण्डी पुरुष का दण्ड। दण्डी को लाओ ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष में न मिलता हुआ ही पुरुष को पुरुषभिन्न

---

३०. परस्परमिलितपदार्थव्यावृत्तिकारकेण। ३१. तयोर्मध्ये। ३२. कथञ्चिद-विष्वक्भावाख्यतादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नधर्मस्यात्मभूतलक्षणत्वम्। ३३. जलादिभ्यः। ३४. यद्वस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तदनात्मभूतम्। भवति हि दण्डः पुरुषस्य लक्षणम्, स च नाऽऽत्मभूतः, पुरुषादन्य-त्राऽप्युपलभ्यमानत्वात्। अत एवात्मभूत-लक्षणादनात्मभूतलक्षणस्य भेदः। ३५. कथञ्चिद्विष्वक्भावाख्यसंयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नस्यानात्मभूतलक्षणत्वम्।

१*. 'तद्विविधम्' इति वा प्रतिपाठः। २*. 'लक्षण इति पाठः' आ प्रतौ नास्ति। ३*. 'तद्' म प मु प्रतिषु पाठः। ४*. 'चेति' द प्रतौ पाठः।

---

* **लक्षण के सामान्यलक्षण और विशेष लक्षण के भेद से भी दो भेद माने गए हैं। यथा–"तद् द्वेधा सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणम् च।" प्रमाणमी. पृ. २। न्यायदीपिकाकार को ये भेद मान्य हैं। जैसा कि ग्रन्थ के व्याख्यान से सिद्ध है। पर उनके यहाँ कथन न करने का कारण यह है कि आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षणों के कथन से ही उनका कथन हो जाता है। दूसरे, उन्होंने राजवार्तिककार की दृष्टि स्वीकृत की है जिसे आचार्य विद्यानन्द ने भी अपनाया है। देखो, त. श्लो. पृ. ३१८।**

पुरुषं [३६]व्यावर्त्तयति। [१*]यद्भाष्यम् ''तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः'' (राजवार्तिक भा. २-८) इति।

५. ''असाधारणधर्मवचनं[२*] लक्षणम्'' इति केचित्[३७]; तदनुपन्नम्[३८]; लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्या-भावप्रसंगात्[३९],

---

पदार्थों से पृथक् करता है। इसलिए दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। जैसा कि तत्त्वार्थ-राजवार्तिकभाष्य में कहा है-अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड अनात्मभूत लक्षण हैं। आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण में यही भेद है कि आत्मभूत लक्षण वस्तु के स्वरूपमय होता है और अनात्मभूत लक्षण वस्तु के स्वरूप से भिन्न होता है और वह वस्तु के साथ संयोगादि सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है।

५. असाधारण धर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं, ऐसा किन्हीं (नैयायिक और हेमचन्द्राचार्य) का कहना है। पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि लक्ष्य रूप धर्मीवचन का लक्षण धर्मवचन के साथ सामानाधि-करण्य (शाब्द समानाधिकरण) के अभाव का प्रसंग आता है। इसका

---

३६. अदण्डिनः सकाशात् पृथक्करोति। ३७. नैयायिकाः, हेमचन्द्राचार्या वा। ३८. तदयुक्तम्, सदोषत्वात्। अत्र हि लक्षणस्य लक्षणे त्रयो दोषाः सम्भवन्ति-अव्याप्तिरतिव्याप्तिरसम्भवश्चेति। तत्र लक्ष्यधर्मिवचनादिनाऽसम्भवो दोष उक्तः। दण्डादेरित्यादिनाऽव्याप्तिः प्रदर्शिता। किञ्चेत्यादिना चातिव्याप्तिः कथिता। एतच्च परिशिष्टे स्पष्टम्। अत्रासाधारणत्वं तदितरावृत्तित्वं ग्राह्यम्, लक्ष्येतरावृत्तित्वमित्यर्थः। ३९. सामानाधिकरण्यं द्विधा-आर्थं शाब्दञ्च। तत्रैकाधिकरणवृत्तित्वमार्थम्, यथा रूपरसयोः। शाब्दं त्वेकार्थप्रतिपादकत्वे सति समानविभक्तिकत्वं भिन्नप्रवृत्ति-निमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तित्वरूपं वा, यथा नीलं कमलमित्यत्र। प्रकृते शाब्दं सामानाधिकरण्यं ग्राह्यं वचनशब्दप्रयोगात्। वचनेन हि वचनस्य शाब्द-सामानाधिकरण्यम्। तच्चासाधारणधर्मवचनस्य लक्षणत्वेऽसम्भवि। शेषं परिशिष्टे दृष्टव्यम्। ४०. पुरुषानसाधारणधर्मस्यापि-दण्डादिर्न पुरुषस्यासाधारणधर्मस्तथापि लक्षणं भवतीति भावः।

१*. 'तद्' म प मु प्रतिषु पाठः।

२*. 'असाधारणधर्मो लक्षणम्' इति म प प्रत्योः पाठः।

स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

यदि असाधारण धर्म को लक्षण का स्वरूप माना जाये तो लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में सामानाधिकरण नहीं बन सकता। यह नियम है कि लक्ष्य–लक्षण भावस्थल में लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में एकार्थ–प्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य अवश्य होता है। जैसे–'ज्ञानी जीवः' अथवा ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'' इनमें शाब्द सामानाधिकरण्य है। यहाँ 'जीवः' लक्ष्यवचन है, क्योंकि जीव का लक्षण किया जा रहा है और 'ज्ञानी' लक्षणवचन है, क्योंकि वह जीव को अन्य अजीवादि पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। ''ज्ञानवान् जीव है'' इसमें किसी को विवाद नहीं है। अब यहाँ देखेंगे कि 'जीवः' शब्द का जो अर्थ है, वही ज्ञानी शब्द का अर्थ है और जो 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ वही 'जीवः' शब्द का है। अतः दोनों का वाच्यार्थ एक है। जिन दो शब्दों–पदों का वाच्यार्थ एक होता है उनमें शब्दसामानाधिकरण्य होता है। जैसे नीलं कमलम् यहाँ स्पष्ट है। इस तरह 'ज्ञानी' लक्षणवचन में और 'जीवः' लक्ष्य वचन में एकार्थ प्रतिपादकत्व रूप शाब्दसामानाधिकरण्य सिद्ध है। इसी प्रकार ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'' यहाँ भी जानना चाहिए। इस प्रकार जहाँ कहीं भी निर्दोष लक्ष्यलक्षण भाव किया जायेगा। वहाँ सब जगह शाब्दसामानाधिकरण्य पाया जायेगा। इस नियम के अनुसार ''असाधारण–धर्मवचनं लक्षणम्'' यहाँ असाधारणधर्म जब लक्षण होगा तो लक्ष्य धर्मी होगा और लक्षणवचन धर्मवचन तथा लक्ष्य वचन धर्मीवचन माना जायेगा किन्तु लक्ष्यरूप धर्मीवचन का और लक्षणरूप धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ एक नहीं है। धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ तो धर्म है और धर्मीवचन का प्रतिपाद्य अर्थ धर्मी है। ऐसी हालत में दोनों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न–भिन्न होने से धर्मीरूप लक्ष्यवचन और धर्मरूप लक्षणवचन में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है और इसलिए उक्त प्रकार का लक्षण करने में शाब्द–सामानाधिकरण्याभाव प्रयुक्त असम्भव दोष आता है।

अव्याप्ति दोष भी इस लक्षण में आता है। दण्डादि असाधारण धर्म

दण्डादेरतद्धर्मस्याऽपि[40] लक्षणत्वाच्च। किञ्चा-व्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि[41] तथात्वात्[42]। तथा हि—त्रयो लक्षणाभासभेदाः, अव्याप्तमति-व्याप्तमसम्भवि चेति। तत्र लक्ष्यैकदेश-वृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शावलेयत्वम्। [43]लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्। बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा नरस्य विषाणित्वम्। अत्र हि

नहीं हैं, फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं, अग्नि की उष्णता, जीव का ज्ञान आदि जैसे अपने लक्ष्य में मिले हुए होते हैं इसलिए वे उनके असाधारण धर्म कहे जाते हैं। वैसे दण्डादि पुरुष में मिले हुए नहीं है—उससे पृथक् हैं और इसलिए वे पुरुष के असाधारण धर्म नहीं हैं। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एक देश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण में असाधारण धर्म के न रहने से लक्षण (असाधारण धर्म) अव्याप्त है।

इतना ही नहीं, इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी आता है। शावलेयत्वादि रूप अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी असाधारणधर्म है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है—

मिथ्या अर्थात् सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—१. अव्याप्त, २.अतिव्याप्त, ३. असम्भवि। लक्ष्य के एक देश में लक्षण के रहने को अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का शावलेयत्व। शावलेयत्व सब गायों में नहीं पाया जाता वह कुछ ही गायों का धर्म है, इसलिए अव्याप्त है। लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का ही पशुत्व (पशुपना) लक्षण करना। यह पशुत्व गायों के सिवाय अश्वादि पशुओं में भी पाया जाता है इसलिए पशुत्व अतिव्याप्त है। जिसकी लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्य में बिलकुल ही न रहे, वह असम्भवि लक्षणाभास है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता। अतः वह असम्भवि लक्षणाभास है। यहाँ लक्ष्य के एक देश में रहने के कारण

---

४१. सदोषलक्षणं लक्षणाभासम्। ४२. असाधारणधर्मत्वात्। ४३. यस्य लक्षणं क्रियते तल्लक्ष्यं तद्भिन्नमलक्ष्यं ज्ञेयम्।

लक्ष्यैकदेशवर्तिनः पुनरव्याप्तस्यासाधारणधर्मत्वमस्ति, न तु लक्ष्यभूत[४४] गोमात्र[१*] व्यावर्त्तकत्वम्। तस्माद्यथोक्तमेव[४५] लक्षणम्, तस्य कथनं लक्षणनिर्देशः।

६. विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्त्तमानो विचारः परीक्षा[४६]। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं[२*] प्रवर्त्तते।

७.प्रमाणनययोरप्युद्देशः सूत्र[४७] एव कृतः। लक्षणमिदानीं निर्देष्टव्यम्।

शावलेयत्व अव्याप्त है, फिर भी उसमें असाधारणधर्मत्व रहता है–शावलेयत्व गाय के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रहता–गाय में ही पाया जाता है। परन्तु वह लक्ष्यभूत समस्त गायों का व्यावर्त्तक–अश्वादि से जुदा करने वाला नहीं है–कुछ ही गायों को व्यावृत्त कराता है। इसलिए अलक्ष्यभूत अव्याप्त लक्षणाभास में असाधारणधर्म के रहने के कारण अतिव्याप्ति भी है। इस तरह असाधारण धर्म को लक्षण कहने में असम्भव, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति; ये तीनों ही दोष आते हैं अतः पूर्वोक्त (मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु के अलग कराने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं) ही लक्षण ठीक है। उसका कथन करना लक्षण–निर्देश है।

६. विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा ''यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए'' इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

७. प्रमाण और नय का भी उद्देश्य, सूत्र (प्रमाणनयैरधिगमः) में ही किया गया है। अब उनका लक्षण–निर्देश करना चाहिए और परीक्षा

---

४४. गोत्वावच्छिन्नसकलगौः ४५. व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुरित्येव। ४६. ''लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते नवेति विचारः परीक्षा''–(तर्कसं पद कृ. पृ. ५)। ४७. ''प्रमाण–नयैरधिगमः'' इति तत्त्वार्थसूत्रस्य पूर्वोल्लिखिते सूत्रे।

१*. 'मात्रस्य' इति द प्रतिपाठः। २*. 'खल्वेयं चेदेवं स्यादेवं न स्यादित्येव' इति वा प्रतिपाठः। प मु प्रतिषु 'न' पाठो नास्ति

परीक्षा च [४८]यथौचित्यं[१*] भविष्यति। ''उद्देशानुसारेण[४९] लक्षणकथनम्'' इति न्यायात्प्रधानत्वेन[५०] प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षण-मनुशिष्यते[५१]।

(प्रमाणसामान्यस्य लक्षणकथनम्)

८. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। अत्र प्रमाणं लक्ष्यं सम्यग्ज्ञानत्वं[५२] तस्य लक्षणम्। गोरिव सास्नादिमत्वम्, अग्नेरिवौष्ण्यम्। अत्र[५३] सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते, अप्रमाणत्वादेतेषां[५४] ज्ञानानामिति।

यथावसर होगी। उद्देश्य के अनुसार लक्षण का कथन होता है, इस न्याय के अनुसार प्रधान होने के कारण प्रथमतः उद्दिष्ट प्रमाण का पहले लक्षण किया जाता है।

प्रमाण के सामान्य लक्षण का कथन

८. ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'' अर्थात् सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं– जो ज्ञान यथार्थ है वही प्रमाण है। यहाँ प्रमाण लक्ष्य है, क्योंकि उसका लक्षण किया जा रहा है और 'सम्यग्ज्ञानत्व' (सच्चा ज्ञानपना) उसका लक्षण है, क्योंकि वह 'प्रमाण' को प्रमाणभिन्न पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। गाय का जैसे सास्नादि और अग्नि का जैसे उष्णता लक्षण प्रसिद्ध है। यहाँ प्रमाण के लक्षण में जो 'सम्यक्' पद का निवेश किया गया है वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए किया है, क्योंकि ये तीनों ज्ञान अप्रमाण हैं–मिथ्याज्ञान हैं।

---

४८. यथावसरम्। ४९. उद्देशक्रमेण, यथोद्देशस्तथा निर्देश इति भावः। ५०. अथ प्रमाणनययोर्मध्ये प्रमाणापेक्षया नयस्याल्पाच्तरत्वात्प्रथमतस्तस्यैवोद्देशः कर्त्तव्योऽत आह प्रधानत्वेनेति। ननु तथापि कथं प्रमाणस्य प्रधानत्वं? येन प्रथमं तदुद्दिश्यत इति चेदुच्यते; प्रमाणस्याभ्यर्हिततत्त्वात्प्रधानत्वम्, अभ्यर्हिततत्त्वं च ''प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृतेर्व्यवहारहेतुत्वात्। यतो हि प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येष्वतोऽभ्यर्हितत्त्वं प्रमाणस्य अथवा समुदायविषयं प्रमाणमवयवविषया नयाः। तथा चोक्तम्–''सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः'' इति–(तत्त्वार्थवा. १–६)। ५१. कथ्यते। ५२. यावत्सम्यग्ज्ञानवृत्तिः सामान्यरूपो धर्मः सम्यग्ज्ञानत्वम्। ५३. ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाण''मित्यत्र। ५४. संशयादीनाम्।

१*. 'यथोचित' इति द प्रतिपाठः।

९. तथा हि–विरुद्धानेककोटिस्पर्शि[५५] ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुष[५६] साधारणोर्द्धतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य[५७] वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनेक कोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्[५८]। अत्रापि सादृश्यादि[५९] निमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः। किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः[६०], यथा पथि[१*] गच्छतस्तृण-

---

९. इसका खुलासा निम्न प्रकार है–विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे–यह स्थाणु (ठूँठ) है या पुरुष है? यहाँ स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव, पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार अथवा स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो पक्षों का अवगाहन होता है। प्रायः संध्या आदि के समय मन्द प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्यरूप से रहने वाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मों के देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों को अवगाहन करने वाला यह संशय ज्ञान होता है।

विपरीत एक पक्ष का निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे–सीप में ''यह चाँदी है'' इस प्रकार का ज्ञान होना। इस ज्ञान में सदृशता आदि कारणों से सीप से विपरीत चाँदी में निश्चय होता है। अतः सीप में सीप का ज्ञान न करने वाला और चाँदी का निश्चय करने वाला यह ज्ञान विपर्यय माना गया है।

'क्या है' इस प्रकार के अनिश्चयरूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे–मार्ग में चलते हुए तृण, कंटक आदि के स्पर्श हो जाने पर

---

५५. कोटिः–पक्षः, अवस्था वा। ५६. उभयवृत्तिः सामान्यरूप ऊर्द्धतादिधर्मः साधारणः। ५७. स्थाणुपुरुषविशेषस्य, स्थाणोर्विशेषो वक्र कोटरादिः पुरुषस्य तु शिरः पाण्यादिरिति भावः। ५८. तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः, यथा रजतत्त्वाभाववति शुक्तिशकले रजतत्त्वप्रकारकं ''शुक्तौ इदं रजतम्'' इति ज्ञानमित्याशयः। ५९. आदिपदेन चाकचिक्यादिग्रहणम्। ६०. अनिश्चयस्वरूपं संशय–विपर्ययभिन्नजातीयं ज्ञानम्।

१*. पथि' इति पाठो म प्रतौ नास्ति

स्पर्शादिज्ञानम्। इदं[६१] हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः। विपरीतैक कोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव[६२]। एतानि[६३] च स्वविषय-प्रमितिजनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते[६४]। ज्ञानपदेन[६५] प्रमातुः प्रमितेश्च[६६] व्यावृत्तिः। अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि[६७] सम्यक्त्वं न तु ज्ञानत्वम्।

ऐसा ज्ञान होना कि ''यह क्या है।'' यह ज्ञान नाना पक्षों का अवगाहन न करने से न संशय है और विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से न विपर्यय है। इसलिए उक्त दोनों ज्ञानों से यह ज्ञान पृथक् ही है।

ये तीनों ज्ञान अपने गृहीत विषय में प्रमिति–यथार्थता को उत्पन्न न करने के कारण अप्रमाण हैं, किन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं हैं। अतः 'सम्यक्' पद से इनका व्यवच्छेद हो जाता है और 'ज्ञान' पद से प्रमाता, प्रमिति और 'च' शब्द से प्रमेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने के कारण 'सम्यक्त्व' उनमें भी है, परन्तु 'ज्ञानत्व' (ज्ञानपना) उनमें नहीं है। इस तरह प्रमाण के लक्षण में दिये गये 'सम्यक्' और 'ज्ञान' ये दोनों पद सार्थक हैं।

---

६१. अनध्यवसायाख्यज्ञानस्य संशय-विपर्ययाभ्यां ज्ञानान्तरत्वं प्रसाधयति इदमिति, इदम्–अनध्यवसायाख्यं ज्ञानम्। इदमत्र तात्पर्यम्–संशये नानाकोट्यवलम्बनात्, विपर्यये च विपरीतैककोटिनिश्चयात्, अनध्यवसाये तु नैकस्या अपि कोटेर्निश्चयो भवति। ततस्तदुभयभिन्नविषयत्वेन कारणस्वरूपभेदेन च ताभ्यामिदं ज्ञानं भिन्नमेव। तथा चोक्तम्–''अस्य (अनध्यवसायस्य) चानवधारणात्मकत्वेऽपि कारणस्वरूपादिभेदान्न संशयता। अप्रतीतविशेषविषयत्वेनाऽपि अस्य सम्भवादुभयविशेषानुस्मरणजसंशयतो भेद एवेति कन्दलीकाराः।''–प्रशस्तपा. टि. पृ. ९१।

६२. संशयविपर्ययाभ्याम्। ६३. संशयादीनि। ६४. निराक्रियन्ते। ६५. सम्यक्पदस्य कृत्यं प्रदर्श्य ज्ञानपदस्य कृत्यं प्रदर्शयति ज्ञानपदेनेति। ६६. ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः कृता तथा प्रमेयस्य कथं न कृता तस्यापि ज्ञानत्वाभावात्, इति चेत्तस्यापि चशब्दाद् ग्रहणं बोध्यम्। यद्यपि स्वपरिच्छेद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटादिबहिरर्थापेक्षया प्रमेयत्वं नास्तीत्यतो युक्तं चशब्दात्तस्य ग्रहणम्। ६७. प्रमातरि प्रमितौ प्रमेये च।

१०. ननु प्रमितिकर्त्तुः प्रमातुर्ज्ञातृत्वमेव न ज्ञानत्वमिति यद्यपि ज्ञानपदेन व्यावृत्तिस्तथापि प्रमितिर्न व्यावर्त्तयित्तुं शक्या, तस्या अपि [६८]सम्यग्ज्ञानत्वादिति चेत्; भवेदेवम्[६९]; यदि [७०]भावसाधनमिह ज्ञानपदम्। करणसाधनं खल्वेतज्ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति। ''करणाधारे चानट्'' (जैनेन्द्रव्या. २/३/११२) इति करणेऽप्यनट्प्रत्ययानुशासनात्[७१]। भाव-साधनं तु ज्ञानपदं प्रमितिमाह[१*]। अन्यद्धि भावसाधनात्करणसाधनं[२*] पदम्। एवमेव[७२] [७३]प्रमाणपदमपि प्रमीयतेऽनेनेति करणसाधनं कर्तव्यम्। [७४]अन्यथा

---

१०. शंका—प्रमाता प्रमिति को करने वाला है। अतः वह ज्ञाता ही है, ज्ञानरूप नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान पद से प्रमाता की तो व्यावृत्ति हो सकती है। परन्तु प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। कारण, प्रमिति भी सम्यग्ज्ञान है।

समाधान—यह कहना उस हालत में ठीक है जब ज्ञान पद यहाँ भावसाधन हो। पर ''ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्''अर्थात् जिसके द्वारा जाना जावे, वह ज्ञान है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति को लेकर ज्ञान पद करणसाधन इष्ट है। ''करणाधारे चानट्'' (१.३.११२) इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र के अनुसार करण में भी 'अनट्' प्रत्यय का विधान है। भावसाधन में ज्ञान पद का अर्थ प्रमिति होता है और भावसाधन से करणसाधन पद भिन्न है। फलितार्थ यह हुआ कि प्रमाण के लक्षण में ज्ञान पद करणसाधन विवक्षित है, भावसाधन नहीं। अतः ज्ञान पद से प्रमिति की व्यावृत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार प्रमाणपद भी ''प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'' इस व्युत्पत्ति को लेकर करणसाधन करना चाहिए। अन्यथा ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्''

---

६८. भावसाधनपक्षे। ६९. प्रमितेरव्यावर्त्तनम्। ७०. ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानमिति। ७१. विधानात्। ७२. ज्ञानपदवत्। ७३. ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'' इत्यत्र प्रमाणलक्षणे प्रयुक्तं ''प्रमाणम्'' इति पदम्। ७४. प्रमाणपदं करणसाधनं नो चेत्।

१*. प्रमितिराह इति आ प्रतिपाठः। २*. 'साधनपदं' इति प प्रतिपाठः।

सम्यग्ज्ञानपदेन सामानाधिकरण्याघटनात्[७५]। तेन प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणमिति सिद्धम्[७६]। तदुक्तं प्रमाणनिर्णये—''इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन[७७] करणत्वम्'' (प्रत्यक्षनिर्णय पृ.१) इति।

११. नन्वेव[७८]मप्यक्षलिङ्गादा[७९]वतिव्याप्तिर्लक्षणस्य[८०], तत्रापि[८१] प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वात् दृश्यते हि चक्षुषा प्रमीयते, धूमेन प्रमीयते,

---

यहाँ करणसाधनरूप से प्रयुक्त 'सम्यग्ज्ञान' पद के साथ 'प्रमाण' पद का एकार्थप्रतिपादकत्वरूप समानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। तात्पर्य यह कि प्रमाण पद को करणसाधन न मानने पर और भावसाधन मानने पर 'प्रमाण' पद का अर्थ प्रमिति होगा और सम्यग्ज्ञान पद का अर्थ प्रमाणज्ञान होगा और ऐसी हालत में दोनों पदों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न-भिन्न होने से शाब्द सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। अतः प्रमाण पद को करणसाधन करना चाहिए। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि अज्ञाननिवृत्ति अथवा अर्थपरिच्छेद-रूप प्रमितिक्रिया में जो करण हो, वह प्रमाण है। इसी बात को आचार्य वादिराज ने अपने प्रमाणनिर्णय (पृ. १) में कहा है—प्रमाण वही है जो प्रमितिक्रिया के प्रति साधकतमरूप से करण (नियम से कार्य का उत्पादक) हो।

११. शंका—इस प्रकार से (सम्यक्और ज्ञान पद विशिष्ट) प्रमाण का लक्षण मानने पर भी इन्द्रिय और लिङ्गादिकों में उसकी अतिव्याप्ति है, क्योंकि इन्द्रिय और लिंगादि भी जानने रूप प्रमितिक्रिया में करण होते हैं।

---

७५. प्रोक्तलक्षणशाब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। ७६. सुनिश्चितम्। ७७. अतिशयेन साधकमिति साधकतमं नियमेन कार्योत्पादकमित्यर्थः। ७८. संशयादौ प्रमात्रादौ च प्रोक्तप्रमाणलक्षणस्य व्यावृत्तावपि, अथ च प्रमाणपदस्य करणसाधनत्वेऽपि। ७९. आदिपदेन धूमादेर्ग्रहणम्। ८०. अयमत्राशयः-यदि ''प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणम्'' इति प्रमाणार्थः कक्षीक्रियते तर्हि प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वेनाक्ष-लिङ्गादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गात्। अक्षलिङ्गादिः-इन्द्रिय-धूम-शब्दादिः। ८१. अक्ष-लिङ्गादौ।

शब्देन प्रमीयत इति व्यवहार[१*]। इति चेत्; न[८२]; अक्षादेः प्रमितिं प्रत्यसाधकतमत्वात्।

१२. तथा हि-प्रमितिः प्रमाणस्य फलमिति न कस्यापि[८३] विप्रतिपत्तिः[८४]। सा[८५] चाज्ञाननिवृत्तिरूपा, [८६]तदुत्पत्तौ[२*] करणेन[३*] सता[८७] तावदज्ञानविरोधिना भवितव्यम्। न चाक्षादिकमज्ञानविरोधि[४*], अचेतनत्वात्। तस्मादज्ञानविरोधिनश्चेतनधर्मस्यैव[८८] करणत्वमुचितम्। लोकेऽप्यन्धकारविघटनाय तद्विरोधी प्रकाश[८९] एवोपास्यते[९०] न पुनर्घटादिः, तद[९१]विरोधित्वात्।

आँख से जानते हैं, धूम से जानते हैं, शब्द से जानते हैं, इस प्रकार का व्यवहार हम देखते ही हैं?

समाधान—इन्द्रियादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है; क्योंकि इन्द्रियादिक प्रमिति के प्रति साधकतम नहीं हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है –

१२. प्रमिति प्रमाण का फल (कार्य) है, इसमें किसी भी (वादी अथवा प्रतिवादी) व्यक्ति को विवाद नहीं है–सभी को मान्य है और वह प्रमिति अज्ञाननिवृत्तिस्वरूप है। अतः उसकी उत्पत्ति में जो करण हो उसे अज्ञान-विरोधी होना चाहिए, किन्तु इन्द्रियादिक अज्ञान के विरोधी नहीं हैं; क्योंकि अचेतन (जड़) हैं। अतः अज्ञान विरोधी चेतनधर्म-ज्ञान को ही करण मानना युक्त है। लोक में भी अन्धकार को दूर करने के लिए उससे विरुद्ध प्रकाश को ही खोजा जाता है, घटादिक को नहीं, क्योंकि घटादिक अन्धकार के विरोधी नहीं है–अन्धकार के साथ भी वे रहते हैं और इसलिए उनसे अन्धकार की निवृत्ति नहीं होती। वह तो प्रकाश से ही होती है।

---

८२. समाधत्ते नेति। ८३. वादिनः प्रतिवादिनो वा। ८४. विवादः। ८५. प्रमितिः। ८६. प्रमित्युत्पत्तौ। ८७. भवता। ८८. ज्ञानरूपस्य। ८९. प्रदीपादिः। ९०. अन्विष्यते। ९१. तेनान्धकारेण सह घटादेर्विरोधाभावात्।

१*. 'इति व्यवहारः' आ प्रतौ नास्ति। २*. 'तदुत्पत्तौ तु' इति द प्रतिपाठः।
३*. 'भवता+ इति पाठों म प मु प्रतिषु अधिकः। ४*. ... दिकं तद्विरोधि' इति द प्रतौ पाठः।

१३. किञ्च, अस्वसंविदितत्वादक्षादेर्नार्थप्रमितौ साधकतमत्वम्, स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्[१*]। ज्ञानं तु स्वपरावभासकं[९२] प्रदीपादिवत्प्रतीतम्। ततः स्थितं प्रमितावसाधक-तमत्वादकरण[९३]-मक्षादय इति।

१४. चक्षुषा प्रमीयत इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचारः शरणम्, उपचारप्रवृत्तौ च सहकारित्वं निबन्धनम्[९४]। न हि सहकारित्वेन[९५]तत्साधकमिद[९६]मिति करणं नाम, [९७]साधकविशेषस्यातिशयवतः[९८] करणत्वात्। तदुक्तं जैनेन्द्रे—''साधकतमं करणम्'' (१/२/११४) इति[२*]।

---

१३. दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय वगैरह अस्वसंवेदी (अपने को न जानने वाले) होने से पदार्थों का भी ज्ञान नहीं करा सकते हैं। जो स्वयं अपना प्रकाश नहीं कर सकता है वह दूसरे का भी प्रकाश नहीं कर सकता है। घट की तरह, किन्तु ज्ञान दीपक आदि की तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक है, यह अनुभव से सिद्ध है। अतः यह स्थिर हुआ कि इन्द्रिय वगैरह पदार्थों के ज्ञान कराने में साधकतम न होने के कारण करण नहीं है।

१४. ''आँख से जानते हैं'' इत्यादि व्यवहार तो उपचार से प्रवृत्त होता है और उपचार की प्रवृत्ति में सहकारिता निमित्त है अर्थात् इन्द्रियादिक अर्थपरिच्छेद में ज्ञान के सहकारी होने से उपचार से परिच्छेदक मान लिए जाते हैं। वस्तुतः मुख्य परिच्छेदक तो ज्ञान ही है। अतः इन्द्रियादिक सहकारी होने से प्रमिति क्रिया में मात्र साधक हैं, साधकतम नहीं इसलिए करण नहीं हैं, क्योंकि अतिशयवान साधकविशेष (असाधारण कारण) ही करण होता है। जैसा कि जैनेन्द्र व्याकरण (१/२/११३) में कहा है–''साधकतमं करणम्'' अर्थात् अतिशयविशिष्ट साधक का नाम करण

---

९२. स्वपरपरिच्छेदकम्। ९३. प्रमितिं प्रति न करणम्। ९४. ''मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते'' इति नियमात्। ९५. प्रमितिसाधकम्। ९६. अक्षादिकम्। ९७. असाधारणसाधकस्य ज्ञानस्य। ९८. अत्रातिशयो नाम नियमेन कार्योत्पादकत्वम्।

१*. 'घटवत्' इत्यधिकः पाठो म प प्रत्योः। २*. 'इति' पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

तस्मान्न लक्षणस्याक्षादावतिव्याप्तिः।

१५. अथापि[99] धारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिस्तासां सम्यग्ज्ञान-त्वात्। न च [100]तासामार्हतमते प्रामाण्याभ्युपगम इति; उच्यते; एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन[101] घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽयं घटोऽयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिक ज्ञानानि भवन्ति[1*]। न ह्ये[102]तेषां[2*] प्रमितिं प्रति साधकतमत्वम्, प्रथमज्ञानेनैव प्रमितेः सिद्धत्वात्। कथं तत्र[103] लक्षणमतिव्याप्नोति? तेषां[104] गृहीतग्राहित्वात्।

१६. ननु घटे दृष्टे पुनरन्यव्यासङ्गेन[105] पश्चात् घट एव दृष्टे

है। अतः इन्द्रियादिक में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

१५. शंका—इन्द्रियादिकों में लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पर भी धारावाहिक ज्ञानों में अतिव्याप्ति है; क्योंकि वे सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु उन्हें आर्हत मत–जैनदर्शन में प्रमाण नहीं माना है ?

समाधान—एक ही घट (घड़े) में घट विषयक अज्ञान के निराकरण करने के लिए प्रवृत्त हुए पहले घटज्ञान से घट की प्रमिति (सम्यक्परिच्छित्ति) हो जाने पर फिर ''यह घट है, यह घट है'' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं। ये ज्ञान अज्ञान–निवृत्तिरूप प्रमिति के प्रति साधकतम नहीं हैं; क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति पहले ज्ञान से ही हो जाती है। फिर उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि यह गृहीतग्राही हैं–ग्रहण किए हुए ही अर्थ को ग्रहण करते हैं।

१६. शंका—यदि गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानेंगे तो घट को जान लेने के बाद दूसरे किसी कार्य में उपयोग के लग जाने पर पीछे घट के

---

९९. अक्षलिङ्गादावतिव्याप्तिवारणेऽपि।१००. धारावाहिक बुद्धीनाम्। १०१. आद्येन घटज्ञानेन। १०२. धारावाहिकज्ञानानाम्। १०३. धारावाहिक बुद्धिषु। १०४. धारावाहिकज्ञानानाम्। १०५. अन्यस्मिन् कार्ये व्यापृते चित्तस्याभ्यासशक्तिर्व्यासङ्गः। बुद्धेरन्यत्र संचारो विषयान्तराकृष्टत्वं वा व्यासङ्गः।

१*. 'भवन्ति' म प मु प्रतिषु नास्ति। २*. 'एषा' इति म पु मु प्रतिषु पाठः।

पश्चात्तनं ज्ञानं पुनरप्रमाणं प्राप्नोति धारावाहिकवदिति चेत्; न; [१०६]दृष्टस्यापि मध्ये समारोपे[१०७] सत्यदृष्टत्वात्[१०८]। तदुक्तम्–''दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्'' (परीक्षा.१-५) इति।

१७. [१०९]एतेन निर्विकल्पके सत्तालोचनरूपे दर्शनेऽप्यतिव्याप्तिः परिहृता। [११०]तस्याव्यवसायरूपत्वेन[१११] प्रमितिं प्रति करणत्वाभावात्। निराकारस्य[१*] ज्ञानात्वाभावाच्च। ''निराकारं दर्शनं साकारं ज्ञानम्'' (सर्वार्थसि. २-९) इति प्रवचनात्[११२]। तदेवं[२*] प्रमाणस्य सम्यग्ज्ञानमिति

ही देखने पर उत्पन्न हुआ पश्चातवर्ती ज्ञान अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि धारावाहिक ज्ञान की तरह वह भी गृहीतग्राही है–अपूर्वार्थग्राहक नहीं है?

समाधान–नहीं; जाने गये भी पदार्थ में कोई समारोप-संशय आदि हो जाने पर वह पदार्थ अदृष्ट–नहीं जाने गये के ही समान है। कहा भी है–''दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्'' (परीक्षा.१-५) अर्थात् ग्रहण किया हुआ भी पदार्थ संशय आदि के हो जाने पर ग्रहण नहीं किए हुए के तुल्य है।

१७. उक्त लक्षण की इन्द्रिय, लिंग, शब्द और धारावाहिक ज्ञान में अतिव्याप्ति का निराकरण कर देने से निर्विकल्पक सामान्यावलोकन रूप दर्शन में भी अतिव्याप्ति का परिहार हो जाता है, क्योंकि दर्शन अनिश्चयस्वरूप होने से प्रमिति के प्रति करण नहीं है। दूसरी बात यह है, कि दर्शन निराकार (अनिश्चयात्मक) होता है और निराकार में ज्ञानपना नहीं होता। कारण, ''दर्शन निराकार (निर्विकल्पक) होता है और ज्ञान साकार (सविकल्पक) होता है।'' (सर्वार्थसिद्धि २-९) में ऐसा वचन है।

---

१०६. ज्ञातस्यापि। १०७. संशयविपर्ययानध्यवसायविस्मरणलक्षणे। १०८. ज्ञातपदार्थोऽपि सति संशये विपर्यये अनध्यवसाये विस्मरणे वाऽज्ञाततुल्यो भवति। अतस्तद्विषयकं ज्ञानं प्रमाणमेवेति भावः। १०९. अक्षलिङ्गशब्दधारावाहिक-बुद्धिष्वतिव्याप्तिनिराकरणेन। ११०. निर्विकल्पकदर्शनस्य। १११. अनिश्चयात्मकत्वेन। ११२. आगमात्।

१*. म प मु प्रतिषु 'दर्शनस्य' इत्यधिकः पाठः।
२*. म प मु इति प्रतिषु 'तस्मात्' इति पाठः।

लक्षणं नाऽतिव्याप्तम्। नाऽप्यव्याप्तम्, लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयो- र्व्याप्यवृत्तेः[११३]। नाऽप्यसम्भवि, [११४]लक्ष्यवृत्तेरबाधितत्वात्[११५]।

(प्रमाणस्य प्रामाण्यनिरूपणम्)

१८. किमिदं[११६] प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम? प्रतिभातविषया- ऽव्यभिचारित्वम्[१*]। [११७]तस्योत्पत्तिः कथम्? स्वत एवेति मीमांसकाः।

इस तरह प्रमाण का 'सम्यग्ज्ञान' यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं है और न अव्याप्त है; क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्षरूप अपने दोनों लक्ष्यों में व्यापक रूप से विद्यमान रहता है तथा असम्भवी भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में उसका रहना बाधित नहीं है—वहाँ वह रहता है। अतः प्रमाण का उपर्युक्त लक्षण बिल्कुल निर्दोष है।

प्रमाण के प्रामाण्य का कथन

१८. शंका—प्रमाण का यह प्रामाण्य क्या है, जिससे 'प्रमाण' प्रमाण कहा जाता है, अप्रमाण नहीं ?

समाधान—जाने हुए विषय में व्यभिचार (अन्यथापन) का न होना प्रामाण्य है अर्थात् ज्ञान के द्वारा पदार्थ जैसा जाना गया है वह वैसा ही सिद्ध हो, अन्य प्रकार का सिद्ध न हो, यही उस ज्ञान का प्रामाण्य (सच्चापन) है। इसके होने से ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और इसके न होने से अप्रमाण कहलाता है।

शंका—प्रामाण्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?

समाधान—मीमांसक कहते हैं कि 'स्वतः' होती है। 'स्वतः उत्पत्ति'

---

११३. यावल्लक्ष्येषु वर्तमानत्वं व्याप्यवृत्तित्वम्। ११४. लक्ष्ययोः प्रत्यक्ष-परोक्षयोः। ११५. तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रयशून्यमित्यभिप्रेत्य ग्रन्थकृता दोषत्रयपरिहारः कृतः। ११६. प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं परत इति मीमांसकः, अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति ताथागताः, उभयं स्वत इति सांख्याः, उभयमपि परत इति नैयायिक-वैशेषिकाः, उभयमपि कथञ्चित्स्वतः कथञ्चित्परत इति स्याद्वादिनो जैना इत्येवं वादिनां विप्रतिपत्तेः सद्भावात्संशयः स्यात्तन्निराकरणाय प्रामाण्या-प्रामाण्यविचारः प्रक्रम्यते किमिदमिति। ११७. प्रामाण्यस्य।

१*. 'प्रमाण्यं' इत्यधिकः पाठः म प्रतौ।

प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तिरिति ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रजन्यत्वमित्यर्थः[११८]। तदुक्तम्–''ज्ञानोत्पादकहेत्वनतिरिक्तजन्यत्व[११९]मुत्पत्तौ स्वतस्त्वम्'' इति। [१२०]न ते मीमांसकाः, ज्ञानसामान्यसामग्र्याः[१२१] संशयादावपि ज्ञानविशेषे[१२२] सत्त्वात्। वयं[१२३] तु ब्रूमहे ज्ञानसामान्यसामग्र्याः साम्येऽपि संशयादिरप्रमाणं सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति विभागस्तावदनिबन्धनो[१२४] न भवति। ततः संशयादौ यथा हेत्वन्तर[१२५]-मप्रामाण्ये दोषादिकमङ्गीक्रियते[१२६] तथा प्रमाणेऽपि[१*] [१२७]प्रामाण्यनिबन्धनमन्यदवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा[१२८] प्रमाणाप्रमाण-

---

कहने का मतलब यह है कि ज्ञान जिन कारणों से पैदा होता है उन्हीं कारणों से प्रामाण्य उत्पन्न होता है–उसके लिए भिन्न कारण (गुणादि) अपेक्षित नहीं होते। कहा भी है–''ज्ञान के कारणों से अभिन्न कारणों से उत्पन्न होना उत्पत्ति में स्वतस्त्व है।'' पर उनका यह कहना विचारपूर्ण नहीं है; क्योंकि ज्ञानसामान्य की उत्पादक सामग्री (कारण) संशय आदि मिथ्याज्ञानों में भी रहती है। हम तो इस विषय में यह कहते हैं कि ज्ञानसामान्य की सामग्री सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों में समान होने पर भी ''संशयादि अप्रमाण हैं और सम्यग्ज्ञान प्रमाण है'' यह विभाग (भेद) बिना कारण के नहीं हो सकता है। अतः जिस प्रकार संशयादि में अप्रमाणता को उत्पन्न करने वाले काचकामलादि दोष और चाकचिक्य आदि को ज्ञानसामान्य की सामग्री के अलावा कारण मानते हैं। उसी प्रकार प्रमाण में भी प्रमाणता के उत्पादक कारण ज्ञान की सामान्य सामग्री से भिन्न निर्मलता

---

११८. येनैव कारणेन ज्ञानं जन्यते तेनैव तत्प्रामाण्यमपि न तद्भिन्नकारणेनेति भावः। ११९. ज्ञानस्योत्पादको यो हेतुः कारणं तदतिरिक्तजन्यत्वं ज्ञानोत्पादक-कारणोत्पाद्यत्वमित्यर्थः। १२०. समाधत्ते नेति, मीमांसकाः–विचारकुशलाः। १२१. समग्राणां भावः–एक कार्यकारित्वं सामग्री–यावन्ति कारणानि एकस्मिन् कार्ये व्याप्रियन्ते तानि सर्वाणि सामग्रीति कथ्यन्ते। १२२. मिथ्याज्ञाने। १२३. जैनाः। १२४. अकारणः। १२५. एकस्माद्धेतोरन्यो हेतुः हेत्वन्तरं ज्ञानसामान्यकारणाद् भिन्नकारणमित्यर्थः। १२६. स्वीक्रियते, भवता मीमांसकेन। १२७. गुणादिकम्–नैर्मल्यादिकम्। १२८. गुणदोषकृतप्रामाण्याप्रामाण्यानभ्युपगमे।

१*. 'अपि' इति आ प्रतौ नास्ति।

विभागानुपपत्तेः[१२९]।

१९. [१३०]एवमप्यप्रामाण्यं परतः प्रामाण्यं तु स्वत इति न[१३१] वक्तव्यम्; विपर्ययेऽपि समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुमप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परत इति। तस्मादप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमपि परत[१३२] एवोत्पद्यते। न हि पटसामान्यसामग्री रक्तपटेहेतुः। तद्वन्न ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाणज्ञाने हेतुः, भिन्नकार्ययोर्भिन्नकारणप्रभवत्वावश्यम्भावादिति[१३३]।

२०. कथं तस्य[१३४] ज्ञप्तिः[१३५]? अभ्यस्ते[१३६] विषये स्वतः, अनभ्यस्ते[१३७] तु परतः। कोऽयमभ्यस्तो विषयः को वाऽनभ्यस्तः? उच्यते;

आदि गुणों को अवश्य मानना चाहिए। अन्यथा प्रमाण और अप्रमाण का भेद नहीं हो सकता है।

१९. शंका—प्रमाणता और अप्रमाणता के भिन्न कारण सिद्ध हो भी जायें तथापि अप्रमाणता पर से होती है और प्रामाणता तो स्वतः ही होती है ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात तो विपरीत पक्ष में भी समान है। हम यह कह सकते हैं कि ''अप्रमाणता तो स्वतः होती है और प्रमाणता पर से होती है।'' इसलिए अप्रमाणता की तरह प्रमाणता भी पर से ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार वस्त्र सामान्य की सामग्री लाल वस्त्र में कारण नहीं होती–उसके लिए दूसरी ही सामग्री आवश्यक होती है उसी प्रकार ज्ञान सामान्य की सामग्री प्रमाण ज्ञान में कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि दो भिन्न कार्य अवश्य ही भिन्न-भिन्न कारणों से होते हैं।

२०. शंका—प्रामाण्य का निश्चय कैसे होता है ?

समाधान—अभ्यस्त विषय में तो स्वतः होता है और अनभ्यस्त

---

१२९. इदं ज्ञानं प्रमाणमिदमप्रमाणमिति विभागो न स्यात्। १३०. प्रामाण्या-प्रामाण्ययोर्भिन्नकारणसिद्धेऽपि। १३१. जैन उत्तरयति नेति। १३२. निर्मलतादिगुणेभ्यः। १३३. ज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वादप्रामाण्यवदित्यनुमानमत्र बोध्यम्। १३४. प्रामाण्यस्य। १३५. निश्चयः। १३६. परिचिते। १३७. अपरिचिते।

परिचितस्वग्रामतडाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः। किमिदं स्वत इति? किं नाम परत इति? ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यज्ञप्तिः[१*] स्वत इति। ततोऽतिरिक्ताज्ज्ञप्तिः परत इति।

२१. तत्र तावदभ्यस्ते विषये[२*] जलमिति[३*] ज्ञाने जाते ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमय एव तद्गतं प्रामाण्यमपि ज्ञायत एव। [१३८]अन्यथोत्तर[१३९] क्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिरयोगात्[१४०]। अस्ति हि जलज्ञानोत्तरक्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिः[४*]। अनभ्यस्ते तु विषये जलज्ञाने

विषय में पर से होता है। तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति तो सर्वत्र पर से ही होती है, किन्तु प्रामाण्य का निश्चय परिचित विषय में स्वतः और अपरिचित विषय में परतः होता है।

शंका—अभ्यस्त विषय क्या है? और अनभ्यस्त विषय क्या है ?

समाधान—परिचित–कई बार जाने हुए अपने गाँव के तालाब का जल वगैरह अभ्यस्त विषय है और अपरिचित–नहीं जाने हुए दूसरे गाँव के तालाब का जल वगैरह अनभ्यस्त विषय है।

शंका—स्वतः क्या है? और परतः क्या है?

समाधान—ज्ञान का निश्चय कराने वाले कारणों के द्वारा ही प्रामाण्य का निश्चय होना 'स्वतः' है और उससे भिन्न कारणों से होना 'परतः' है।

२१. उनमें से अभ्यस्त विषय में 'जल है' इस प्रकार ज्ञान होने पर ज्ञानस्वरूप के निश्चय के समय में ही ज्ञानगत प्रामाणता का भी निश्चय अवश्य हो जाता है। नहीं तो दूसरे ही क्षण में जल में सन्देहरहित प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु जलज्ञान के बाद ही सन्देहरहित प्रवृत्ति अवश्य होती है। अतः अभ्यास दशा में तो प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है। पर

---

१३८. ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमये प्रामाण्यनिश्चयो नो चेत्। १३९. जलज्ञानानन्तर-समये। १४०. जले सन्देहरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात्।

१*. म प मु प्रतिषु 'प्रमाणयस्य' इति पाठः। २*. म मु 'अभ्यस्तविषये' इति पाठः। ३*. म प मु 'जलमिदमिति' पाठः। ४*. प मु 'निःशंका' पाठः।

जाते जलज्ञानं मम जातमिति ज्ञानस्वरूपनिर्णयेऽपि प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यत[१४१] एव, [१४२]अन्यथोत्तरकालं सन्देहानुपपत्तेः। अस्ति हि सन्देहो ''जलज्ञानं मम जातं तत्किं जलमुत मरीचिका''[१४३] इति। ततः[१४४] कमलपरिमलशिशिर[१*] मरुत्प्रचारप्रभृतिभिरवधारयति—प्रमाणं[१४५]प्राक्तनं जलज्ञानं[१४६] कमल-परिमलाद्यन्यथानुपपत्तेः'' इति।

२२. [१४७]उत्पत्तिवत्प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिरपि परत एवेति यौगाः[१४८]। तत्र[१४९] प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परत इति युक्तम्। ज्ञप्तिः पुनरभ्यस्तविषये स्वत एवेति

अनभ्यासदशा में जलज्ञान होने पर ''जलज्ञान मुझे हुआ'' इस प्रकार से ज्ञान के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर भी उसके प्रामाण्य का निश्चय अन्य (अर्थक्रियाज्ञान अथवा संवादज्ञान) से ही होता है। यदि प्रामाण्य का निश्चय अन्य से न हो–स्वतः ही हो तो जलज्ञान के बाद सन्देह नहीं होना चाहिए। पर सन्देह अवश्य होता है कि ''मुझको जो जल का ज्ञान हुआ है वह जल है या बालू का ढेर!'' इस सन्देह के बाद ही कमलों की गन्ध, ठण्डी हवा के आने आदि से जिज्ञासु पुरुष निश्चय करता है कि ''मुझे जो पहले जल का ज्ञान हुआ है वह प्रमाण है—सच्चा है, क्योंकि जल के बिना कमल की गन्ध आदि नहीं आ सकती है।'' अतः निश्चय हुआ कि अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निर्णय पर से ही होता है।

२२. नैयायिक और वैशेषिकों की मान्यता है कि उत्पत्ति की तरह प्रामाण्य का निश्चय भी पर से ही होता है। इस पर हमारा कहना है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति पर से मानना ठीक है। परन्तु प्रामाण्य का निश्चय ''परिचित विषय में स्वतः ही होता है'' यह जब सयुक्तिक निश्चित हो गया तब ''प्रामाण्य का निश्चय पर से ही होता है'' ऐसा अवधारण

---

१४१. संवादज्ञानान्तरादर्थक्रियाज्ञानाद्वा। १४२. अनभ्यस्ते–अपरिचिते विषये प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यतो न स्यात्। १४३. बालुपुञ्जः। १४४. सन्देहान्तरम्। १४५. साध्यम्। १४६. धर्मी। १४७. यथा प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परतस्तथा। १४८. यौगशब्देन नैयायिक-वैशेषिकौ गृह्येते। १४९. उत्पत्तिज्ञप्त्योर्मध्ये।

१*. 'मन्द' इत्यधिकः पाठो मुद्रितप्रतिषु।

स्थितत्वात्[१५०] ज्ञप्तिरपि परत [१५१]एवेत्यवधारणानुपपत्तिः[१*]। ततो [१५२]व्यवस्थितमेतत्प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु [१५३]कदाचित्स्वतः [१५४]कदाचित्परत इति। तदुक्तं प्रमाणपरीक्षायां ज्ञप्तिं प्रति[१५५]—

[१५६]प्रमाणा[१५७] दिष्टसंसिद्धि [१५८]रन्यथाऽतिप्रसङ्गतः[१५९]।
प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्[१६०] परतोऽन्यथा[१६१]॥ (प्र.प.पृ.६३)

२३. तदेवं सुव्यवस्थितेऽपि प्रमाणस्वरूपे दुरभिनिवेशवशंगतैः[१६२] सौगतादिभिरपि कल्पितं प्रमाणलक्षणं सुलक्षणमिति येषां[१६३] भ्रमस्ताननु-गृह्णीमः[१६४]। तथा हि—

(स्वतस्त्व का निराकरण) नहीं हो सकता है। अतः यह स्थिर हुआ कि प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है, पर ज्ञप्ति (निश्चय) कभी (अभ्यस्त विषय में) स्वतः और कभी (अनभ्यस्त विषय में) परतः होती है। यही प्रमाणपरीक्षा में ज्ञप्ति को लेकर कहा है–

"प्रमाण से पदार्थों का ज्ञान तथा अभिलषित की प्राप्ति होती है और प्रमाणाभास से नहीं होती है तथा प्रमाणता का निश्चय अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः होता है।"

२३. इस तरह प्रमाण का लक्षण सुव्यवस्थित होने पर जिन लोगों का यह भ्रम है कि बौद्धादिकों का भी माना हुआ प्रमाण का लक्षण वास्तविक लक्षण है। उनके उपकार के लिए यहाँ उनके प्रमाण लक्षणों की परीक्षा की जाती है।

---

१५०. निश्चितत्त्वात्। १५१. अन्यनिवृत्तिरूपफलजनकावधारणपरकैवकार-प्रयोगासम्भवात्। १५२. सम्यग् निश्चितम्। १५३. अभ्यासदशायाम्। १५४. अनभ्यासदशायाम्। १५५. ज्ञप्तिमभिप्रेत्य। १५६. सम्यग्ज्ञानात्। १५७. इष्टोऽर्थस्तस्य सम्यक्प्रकारेण सिद्धिर्ज्ञप्तिलक्षणाऽभिलषितप्राप्तिलक्षणा वा। उत्पत्तिलक्षणा तु सिद्धिर्नात्र विवक्षिता, ज्ञापकप्रकरणात्। १५८. प्रमाणाभासात्। १५९. इष्टसंसिद्ध्यभावः। १६०. अभ्यासदशायाम्। १६१. अनभ्यासदशायाम्। १६२. मिथ्यात्वाभिप्रायैः। १६३. जनानाम्। १६४. उपकुर्मः।

१*. 'नुपपत्तेः' इति द प्रतिपाठः।

(सौगतीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा)

२४. "अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्" (प्रमाणवा. २-१) इति बौद्धाः। तदिदमविसंवादित्वमसम्भ-वित्वादलक्षणम्।[१६५] बौद्धेन हि प्रत्यक्षमनुमान-मिति प्रमाणद्वयमेवानुमन्यते। तदुक्तं न्यायबिन्दौ[१६६]—"द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्", "प्रत्यक्षमनुमानं च" (न्यायबिन्दु पृ.१०) इति। तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्या-विसंवादित्वम्, तस्य निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोप-विरोधित्वाभावात्[१६७]। नाऽप्यनुमानस्य[१६८], तन्मतानुसारेण[१६९] [१७०]तस्याऽप्य-परमार्थभूतसामान्यगोचरत्वादिति[१७१]।

(बौद्धों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा)

२४. "जो ज्ञान अविसंवादी है– विसंवादरहित है वह प्रमाण है।" ऐसा बौद्धों का कहना है, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। इसमें असम्भव दोष आता है। वह इस प्रकार से है–बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। न्यायबिन्दु में कहा है–"सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) के दो भेद हैं–१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान"। उनमें न प्रत्यक्ष में अविसंवादीपना सम्भव है, क्योंकि वह निर्विकल्पक होने से अपने विषय का निश्चायक न होने के कारण संशयादिरूप समारोप का निराकरण नहीं कर सकता है और न अनुमान में भी अविसंवादीपना सम्भव है, क्योंकि उनके मत के अनुसार वह भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है। इस तरह बौद्धों का वह प्रमाण का लक्षण असम्भव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है।

---

१६५. न निर्दोषलक्षणम्। १६६. बौद्धतार्किकधर्मकीर्तिविरचिते न्यायबिन्दुनाम्नि ग्रन्थे। १६७. यन्न समारोपविरोधि तन्नाविसंवादि, यथा संशयादि, तथा च प्रत्यक्षम्, तस्मान्न तदविसंवादीति भावः। १६८. अविसंवादित्वमिति सम्बन्धः। १६९. बौद्ध-मतानुसारेण। १७०. अनुमानस्यापि। १७१. अयमत्राशयः–बौद्धमते हि द्विविधं प्रमेयं विशेषाख्यं स्वलक्षणमन्यापोहाख्यं सामान्यं च। तत्र स्वलक्षणं परमार्थभूतं प्रत्यक्षस्य विषयः स्वेनासाधारणेन लक्षणेन लक्ष्यमाणत्वात्, सामान्यं त्वपरमार्थभूतमनुमानस्य विषयः परिकल्पितत्त्वात्। तथा चापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वादनुमानस्य नाविसंवादित्व-मिति भावः।

(कुमारिलभट्टीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा)

२५. ''अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्'' (शास्त्रदी. पृ.१२३) इति भाट्टाः। तदप्यव्याप्तम्, तैरेव प्रमाणत्वेनाभिमतेषु [१७२]धारावाहिकज्ञानेष्वनधिगतार्थनिश्चायकत्वाभावात्। [१७३]उत्तरोत्तरक्षण-विशेषविशिष्टार्थावभासकत्वेन तेषामनधिगतार्थनिश्चायक त्वमिति [१७४]नाऽऽशङ्कनीयम्, क्षणानामतिसूक्ष्माणामाल [१७५]क्षयितुम[१*]-शक्यत्वात्।

(प्रभाकरीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा)

२६. [१७६]''अनुभूतिः प्रमाणम्'' (वृहती १-१-५) इति प्राभाकराः[१७७]।

(भाट्टों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा)

२५. ''जो पहले नहीं जाने हुए यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाला है वह प्रमाण है'' ऐसा भाट्ट-मीमांसकों की मान्यता है; किन्तु उनका भी यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रमाण रूप से माने हुए धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं है। यदि यह आशंका की जाये कि धारावाहिक ज्ञान अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को विषय करते हैं इसलिए अपूर्वार्थविषयक ही हैं। तो यह आशंका करना भी ठीक नहीं है। कारण, क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना-जानना सम्भव नहीं है। अतः धारावाहिक ज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

(प्राभाकरों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा)

२६. प्राभाकर-प्रभाकरमतानुयायी ''अनुभूति को प्रमाण का लक्षण''

---

१७२. गृहीतार्थविषयकाण्युत्तरोत्तरजायमानानि ज्ञानानि धारावाहिक ज्ञानानि, तेषु। १७३. ननूत्तरोत्तरजायमानधारावाहिकज्ञानानां तत्तत्क्षणविशिष्टघटाद्यर्थनिश्चायक-त्वेनागृहीतार्थविषयकत्वमेव, ततो न तैरव्याप्तिरिति शङ्कितुर्भावः। १७४. शंका न कार्या। १७५. आदर्शयितुम्। १७६. ''प्रमाणमनुभूतिः''-प्रकरणपञ्जि. पृ. ४२। १७७. प्रभाकर- मतानुसारिणः।

१*. द प्रतौ 'लक्षयितुम' इति पाठः।

तदप्यसंगतम्; अनुभूतिशब्दस्य [१७८]भावसाधनत्वे करणलक्षण-प्रमाणाव्याप्तेः; [१७९]करणसाधनत्वे तु भावलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः; करण-भावयोरुभयोरपि [१८०]तन्मते प्रामाण्याभ्युपगमात्। तदुक्तं शालिकानाथेन—

''यदा भावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्ममनःसन्निकर्षः''[१८१] (प्रकरणपं. प्रमाणपा. पृ. ६४) इति।

(नैयायिकानां प्रमाणलक्षणस्य समीक्षा)

२७. ''प्रमाकरणं प्रमाणम्'' (न्यायमं. प्रमा. पृ. २५) इति

मानते हैं; किन्तु उनका भी यह लक्षण युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि 'अनुभूति' शब्द को भावसाधन करने पर करणरूप प्रमाण में और करणसाधन करने पर भावरूप प्रमाण में अव्याप्ति होती है। कारण, करण और भाव दोनों को ही उनके यहाँ प्रमाण माना गया है। जैसा कि शालिकानाथ ने कहा है–

जब प्रमाण शब्द को ''प्रमितिः प्रमाणम्'' इस प्रकार भावसाधन किया जाता है उस समय 'ज्ञान' ही प्रमाण होता है और ''प्रमीयतेऽनेन'' इस प्रकार करणसाधन करने पर ''आत्मा और मन का सन्निकर्ष'' प्रमाण होता है। अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष स्पष्ट है। इसलिए यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है।

(नैयायिकों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा)

२७. 'प्रमा के प्रति जो करण है वह प्रमाण है' ऐसी नैयायिकों की

---

१७८. अनुभवोऽनुभूतिरित्येवंभूते।

१७९. अनुभूयतेऽनेनेति अनुभूतिरित्येवंरूपे। १८०. प्राभाकराणां मते।

१८१. प्रभाकर–मतानुसारिणा शालिकानाथेन यदुक्तं तत्प्रकरण पञ्जिकायामित्थं वर्तते–''**यदि प्रमितिः प्रमाणं इति भावसाधनं मानमाश्रीयते तदा संविदेव मानम्।** तस्याश्च व्यवहारानुगुणस्वभावत्वाद्धानोपादानोपेक्षाः फलम्। **प्रमीयतेऽनेनेति करण-साधने प्रमाणशब्दे आत्ममनःसन्निकर्षात्मनो ज्ञानस्य प्रमाणत्वे** तद्बलभाविनी फल(लं) संविदेव बाह्यव्यवहारोपयोगिनी सती''–प्रमाणपा. प. पृ. ६४।

नैयायिकाः[१८२]। [१८३]तदपि प्रमादकृतं[१८४] लक्षणम्; ईश्वराख्य[१८५] एव [१८६]तदङ्गीकृते[१*] प्रमाणेऽव्याप्तेः। अधिकरणं[१८७] हि महेश्वरः प्रमायाः, न[१८८] तु करणम्। न चायमनुक्तो-[१८९]पालम्भः, "तन्मे प्रमाणं शिवः[१९०]" (न्यायकुसु. ४-६) इति [१९१]यौगाग्रसरेणोदयनेनोक्तत्वात्। तत्परिहाराय[१९२]

मान्यता है। परन्तु उनका भी यह लक्षण निर्दोष नहीं है; क्योंकि उनके द्वारा प्रमाण रूप से माने गये ईश्वर में ही वह अव्याप्त है। कारण, महेश्वर प्रमा का आश्रय है, करण नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने का यह कथन हम अपनी ओर से आरोपित नहीं कर रहे हैं, किन्तु उनके प्रमुख आचार्य उदयन ने स्वयं स्वीकार किया है कि "तन्मे प्रमाणं शिवः" अर्थात् "वह महेश्वर मेरे प्रमाण हैं"। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए कोई इस प्रकार व्याख्यान करते हैं कि "जो प्रमा का साधन हो अथवा प्रमा का आश्रय हो वह प्रमाण है।" मगर उनका यह व्याख्यान युक्तिसंगत नहीं है।

---

१८२. वात्स्यायन-जयन्त-भट्टादयस्तार्किकाः। यथा हि "प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः-न्यायभा. १.१-३, "प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते-न्यायमं. प्रमाण. पृ. २५। १८३. प्रमाकरणं प्रमाणमिति नैयायिकाभिमतमपि। १८४. सदोषम्। १८५. महेश्वरे। १८६. नैयायिकै-रभ्युपगते। १८७. आश्रयः। १८८. तत्प्रमायाः नित्यत्वात्करणत्वासम्भवात्। १८९. अत्रायमाशयः-उपालम्भो दोषः (आरोपात्मकः), स च "महेश्वरः प्रमाणम्" इत्येवंरूपो नानुक्तो भवता न स्वीकृत इति न, अपितु महेश्वरस्य प्रमाणत्वं स्वीकृतमेव "तन्मे प्रमाणं शिवः" इति वचनात्, तथा चेश्वराख्यप्रमाणस्य प्रमाया अधिकरणत्वेन प्रमाकरणत्वाभावादव्याप्तिदोषकथनं ग्रन्थकृता सङ्गत- मेवेति भावः। १९०. सम्पूर्णः श्लोक स्त्वित्थं वर्तते-

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ ,
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टि - निमित्त - दुष्टिविगमप्रभ्रष्ट - शङ्कातुषः ,
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥

१९१. योगाः-नैयायिकास्तेषामग्रेसरः प्रधानः प्रमुखो वा तेन।

१९२. महेश्वरेऽव्याप्ति-दोषनिराकरणाय।

१*. 'ईश्वराख्ये तदङ्गीकृत एव' इति म प मु प्रतिषु पाठः।

केचन[193] बालिशाः ''साधनाश्रययोरन्यतरत्वे[194] सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्'' (सर्वदर्शनसं. पृ. २३५) इति वर्णयन्ति तथापि साधनाश्रयान्यतरपर्यालोचनायां[195] साधनमाश्रयो वेति फलति। [196]तथा च [197]परस्परा-व्याप्तिर्लक्षणस्य।

क्योंकि प्रमासाधन और प्रमाश्रय में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर में अव्याप्ति होती है। 'प्रमासाधन' रूप जब प्रमाण का लक्षण किया जायेगा तब 'प्रमाश्रय' रूप प्रमाणलक्ष्य में लक्षण नहीं रहेगा और जब 'प्रमाश्रय' रूप प्रमाण का लक्षण माना जायेगा तब 'प्रमासाधन' रूप प्रमाणलक्ष्य में लक्षण घटित नहीं होगा तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनों को सभी लक्ष्यों का लक्षण माना जाये तो कहीं भी लक्षण नहीं जायेगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमासाधन हैं, प्रमा के आश्रय नहीं हैं और ईश्वर केवल प्रमा का आश्रय है प्रमा का साधन नहीं है, क्योंकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमा का साधन भी हो और प्रमा का आश्रय भी हो ऐसा कोई प्रमाणलक्ष्य नहीं है। अतः नैयायिकों का भी उक्त लक्षण सुलक्षण नहीं है।

---

१९३. सायणमाधवाचार्याः। १९४. सर्वदर्शनसंग्रहे ''साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे'' इति पाठः। तट्टीकाकृता च तथैव व्याख्यातः। यथा हि–''यथार्थानुभवः प्रमा, तस्याः साधनं करणम्। आश्रय आत्मा। तदुभयापेक्षया भिन्नं यन्न भवति तथाभूतं सद्यत्प्रमया नित्यसम्बद्धं तत्प्रमाणमित्यर्थः। १९५. प्रमासाधन-प्रमाश्रययोर्मध्ये प्रमासाधनं प्रमाणं प्रमाश्रयो वेति विचारे क्रियमाणे। १९६. साधनाश्रययोरन्यतरस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे। १९७. अयं भावः– प्रमासाधनस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे प्रमाश्रये प्रमाणेऽव्याप्तिः, प्रमाश्रयस्य च प्रमाणत्वस्वीकारे प्रमासाधने प्रमाणेऽव्याप्तिः, यतो ह्यन्यतरस्य प्रमाणत्वपरिकल्पनात्। उभयपरिकल्पने चासम्भवित्वं स्पष्टमेव। न हि प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्यैकस्य (सन्निकर्षस्य महेश्वरस्य वा) कस्यचिदपि प्रमासाधनत्वं प्रमाश्रयत्वं चोभयं सम्भवि। इत्थं च नैयायिकाभिमतमपि प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं न समीचीनमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

२८. [198]अन्यान्यपि पराभिमतानि प्रमाण[1*] सामान्यलक्षणा- [199]न्य-लक्षणत्वा[2*] दुपेक्ष्यन्ते[200]। [201]तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्प-

---

२८. और भी दूसरों के द्वारा माने गये प्रमाण के सामान्य लक्षण हैं। जैसे 'सांख्य 'इन्द्रियव्यापार' को प्रमाण का लक्षण मानते हैं। जरन्नैयायिक 'कारक-साकल्य' को प्रमाण मानते हैं आदि। पर वे सब विचार करने पर सुलक्षण सिद्ध नहीं होते। अतः उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी गई है अर्थात् उनकी परीक्षा नहीं की गई।

अतः यही निष्कर्ष निकला कि अपने तथा पर का प्रकाश करने वाला सविकल्पक और अपूर्वार्थग्राही सम्यग्ज्ञान ही पदार्थों के अज्ञान को

---

१९८. ''इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्'' इति **सांख्याः**, ''अव्यभिचारिणीम-संदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री (कारक साकल्यं) प्रमाणम्'' (न्यायमं. प्रमा. पृ.१४) इति **जरन्नैयायिकाः (जयन्तभट्टादयः)** इत्यादीन्यपि परोक्तानि प्रमाणसामान्यलक्षणानि सन्ति, परं तेषां प्रमाणत्वस्यैवाघटनान्न परीक्षार्हाणि, अपि तूपेक्षार्हाण्येव। ततो न तान्यत्र परीक्षितानि ग्रन्थकृता। नन्विन्द्रियवृत्तेः कारक साकल्यादेर्वा प्रमाणत्वं कथं न घटते? इति चेत्; उच्यते; इन्द्रियाणामज्ञानरूपत्वात्तद्वृत्तेरप्यज्ञान-रूपत्वत्वेन प्रमाणत्वायोगात्। ज्ञानरूपमेव ही प्रमाणं भवितुमर्हति, तस्यैवाऽज्ञान-निवर्त्तकत्वात्प्रदीपादिवत्। इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां वृत्तिर्हि तदुद्घाटनादिव्यापारः, स च जडस्वरूपः, ततो न तेनाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति घटादिवत्। तस्मादिन्द्रियवृत्तेरज्ञान-निवृत्तिरूपप्रमां प्रति करणत्वाभावान्न प्रमाणत्वमिति भावः।

एवं कारक साकल्यस्याऽप्यबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्व-परज्ञानकरणे साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम्। अतिशयेन साधकं साधकतमम्, साधकतमं च करणम्। करणं खल्वसाधारणं कारणमुच्यते। तथा च सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य सामस्त्यस्य कथं साधकतमत्वमिति विचारणीयम्? साधकतमत्वाभावे च न तस्य प्रमाणत्वम्, स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमस्यैव प्रमाणत्वघटनात्। तेनैव ह्यज्ञाननिवृत्तिः सम्पादयितुं शक्येत्यलं विस्तरेण। ततः ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'' इत्येतदेव प्रमाणस्य सम्यक् लक्षणम्। १९९. लक्षणाभासत्वात्, लक्षणकोटौ प्रवेष्टुमयोग्यत्वादिति भावः। २००. न परीक्षाविषयीक्रियन्ते। २०१. उपसंहारे ''तस्मात्'' शब्दः।

१*. 'प्रमाणस्य' इति म प मु प्रतिषु पाठः। २*. 'न्यलक्ष्यत्वा' इति द आ प्रतिपाठः।

मगृहीतग्राहकं [२०२] सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे [२०३]निवर्त्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं[२०४] मतम्[२०५]।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचितायां न्याय-दीपिकायां प्रमाणसामान्यलक्षणप्रकाशः प्रथमः ॥१॥

दूर करने में समर्थ है। इसलिए वही प्रमाण है। इस तरह जैनमत सिद्ध हुआ।

इस प्रकार श्रीजैनाचार्य धर्मभूषण यति विरचित न्यायदीपिका में प्रमाण का सामान्य लक्षण प्रकाश करने वाला पहला प्रकाश पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

२०२. अपूर्वार्थनिश्चायकम्।

२०३. घटादिपदार्थेष्वज्ञाननिवृत्तिं कुर्वत्।

२०४. जैनम्।

२०५. शासनम्।

२. प्रत्यक्षप्रकाशः

(प्रमाणं द्विधा विभज्य प्रत्यक्षस्य लक्षणकथनम्)

१. अथ[1] प्रमाणविशेषस्वरूपप्रकाशनाय प्रस्तूयते। प्रमाणं[2] द्विविधम्[3]—प्रत्यक्षं परोक्षं चेति। तत्र विशदप्रतिभासं प्रत्यक्षम्। इह प्रत्यक्षं लक्ष्यं विशदप्रतिभासत्वं लक्षणम्। यस्य प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदस्तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः।

(प्रमाण के दो भेद करके प्रत्यक्ष का लक्षण कथन)

१. प्रमाणविशेष का स्वरूप बतलाने के लिए यह दूसरा प्रकाश प्रारम्भ किया जाता है।

प्रमाण के दो भेद हैं—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। ''विशद प्रतिभास (स्पष्ट ज्ञान) को प्रत्यक्ष कहते हैं।'' यहाँ 'प्रत्यक्ष' लक्ष्य है, ''विशद-प्रतिभासत्व'' लक्षण है। तात्पर्य यह कि जिस प्रमाणभूत ज्ञान का प्रतिभास (अर्थप्रकाश) निर्मल हो, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

---

१. प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणानन्तरमिदानीं प्रकरणकारः प्रमाणविशेष-स्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकाशं प्रारभते अथेति। २. पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम्। ३. विभागस्यावधारणफलत्वात्तेन द्विप्रकारमेव, न न्यूनं नाधिकमिति बोध्यम्। चार्वाका-द्यभिमतसकलप्रमाणभेदानामत्रैवान्तर्भावात्। तत्र प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः, प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे इति बौद्धाः वैशेषिकाश्च, प्रत्यक्षानुमानोपमानानि त्रीण्येव प्रमाणानीति सांख्याः, तानि च शाब्दं चेति चत्वार्येव इति नैयायिकाः, सहार्थापत्त्या च पञ्चेति प्राभाकराः, सहानुपलब्ध्या च षट् इति भाट्टाः वेदान्तिनश्च, सम्भवैतिह्याभ्यां सहाष्टौ प्रमाणानीति पौराणिकाः। तथा चोक्तम्—

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कारणात्सौगताः पुनः।
अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शाब्दं च ते अपि॥१॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः॥२॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥३॥

तदेतेषां सर्वेषां यथायथं प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणयोरेवान्तर्भाव इति द्विविधमित्यनेन

२. किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम? उच्यते—ज्ञानावरणस्य[४] क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा[१*] शब्दानुमानाद्य[५] सम्भवि यन्नैर्मल्यमनुभव-सिद्धम्, दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्त[६]वचनाद्धूमादि[७] लिङ्गाच्चोत्पन्नाज्-ज्ञानादय[८] मग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य[९] ज्ञानस्य विशेषः[१०]। स[११] एव नैर्मल्यम्, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभिः शब्दैरभिधीयते। तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायविनिश्चये—

---

२. शंका—'विशदप्रतिभासत्व' किसे कहते हैं?

समाधान—ज्ञानावरणकर्म के सर्वथा क्षय से अथवा विशेष क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली और शब्द तथा अनुमानादि प्रमाणों से नहीं हो सकने वाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही निर्मलता ''विशद-प्रतिभासत्व'' है। किसी प्रामाणिक पुरुष के 'अग्नि है' इस प्रकार के वचन से और ''यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि धुँआ है'', इस प्रकार के धूमादि लिंग से उत्पन्न हुए ज्ञान की अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकार के उत्पन्न इन्द्रियज्ञान में विशेषता (अधिकता) देखी जाती है। वही विशेषता निर्मलता, विशदता और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है अर्थात् ये उसी विशेषता के बोधक पर्याय नाम हैं। तात्पर्य यह कि विशेषप्रतिभासन का नाम विशद-प्रतिभासत्व है। भगवान् भट्टाकलंकदेव ने भी 'न्यायविनिश्चय' में कहा है—

सूचितम्। विद्यानन्दस्वामिनाऽप्युक्तम्—''एवं प्रमाणलक्षणं व्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं परीक्षितम्, तत्प्रत्यक्षं परोक्षं चेति संक्षेपाद् द्वितयमेवव्यवतिष्ठते, सकलप्रमाण-भेदानामत्रैवाऽन्तर्भावादिति विभावनात्।'' ''स्याद्वादिनां तु संक्षेपात्प्रत्यक्षपरोक्ष-विकल्पात्प्रमाणद्वयं सिद्ध्यत्येव, तत्र सकलप्रमाणभेदानां संग्रहादिति''—प्रमाणपरी. पृ. ६३–६४, ६७। एतच्च प्रमेयकमलमार्तंडेऽपि (२–१) प्रपञ्चतो निरूपितम्।

४. ज्ञानप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणाख्यं कर्म, तस्य सर्वथा क्षयाद्विशेषक्षयोपशमाद्वा। ५. आदिपदादुपमानार्थापत्त्यादीनां संग्रहः। ६. विश्वसनीयः पुरुष आप्तः, यथार्थवक्ता इति यावत्। ७. अत्रादिपदेन कृतकत्वशिंशपात्वादीनां परिग्रहः। ८. पुरो दृश्यमानः। ९. इन्द्रियजन्यस्य। १०. अनुमानाद्यपेक्षया विशेषप्रतिभासन रूपः। तदुक्तम्—अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्। तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः—लघीय. का. ४। ११. विशेषः।

१*. 'शाब्द' इति आ प्रतिपाठः।

''प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा[१२]।''(का.३) इति। विवृतं[१३] च स्याद्वाद-विद्यापतिना[१४]–''निर्मलप्रतिभासत्वमेव स्पष्टत्वम्, स्वानुभवप्रसिद्धं चैतत्सर्वस्यापि परीक्षकस्येति नातीव निर्बाध्यते'' (न्यायविनि. वि. का. ३) इति। तस्मात्सुष्ठूक्तं विशदप्रतिभासात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति[१५]।

(सौगतीयप्रत्यक्षस्य निरासः)

३. ''[१६]कल्पनापोढमभ्रान्तं [१७]प्रत्यक्षम्''(न्यायबिन्दु पृ.११) इति

''स्पष्ट, यथार्थ और सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है।'' इसका विवरण (व्याख्यान) स्याद्वादविद्यापति-श्रीवादिराज ने 'न्यायविनिश्चयविवरण' में इस प्रकार किया है कि-''निर्मलप्रतिभासत्व ही स्पष्टत्व है और वह प्रत्येक विचार के अनुभव में आता है। इसलिए इसका विशेष व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है।'' अतः विशद-प्रतिभासात्मक ज्ञान को जो प्रत्यक्ष कहा है वह बिल्कुल ठीक है।

(बौद्धों के प्रत्यक्ष-लक्षण का निराकरण)

३. बौद्ध ''कल्पना-पोढ़-निर्विकल्पक और अभ्रान्त-भ्रान्तिरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष'' मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ प्रत्यक्ष के लक्षण में

---

१२. अस्याः कारिकाया उत्तरार्धमिदमस्ति-''द्रव्य-पर्यायसामान्यविशेषार्थात्म-वेदनम्।'' १३. व्याख्यातं न्यायविनिश्चयविवरणे। १४. श्रीमद्वादिराजाचार्येण।

१५. तथा चोक्तम्-''विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षं यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति।''-प्रमाणपरी. पृ. ६७। १६. ''अभिलापसंसर्गयोग्य-प्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्''-न्यायबिन्दु पृ.१३। नाम-जात्यादियोजना वा कल्पना, तयाऽपोढम्, कल्पनास्वभावशून्यमित्यर्थः।''तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्'' न्यायबिन्दुटीका पृ.१२।१७.''प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्। यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादि-कल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्''-न्यायप्र. पृ. ७,''प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'' प्रमाणसं. का. ३१ अत्रेदं बोध्यम्-''कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्'' इति दिग्नागस्य प्रत्यक्षलक्षणम्, अभ्रान्तविशेषणसहितं तु धर्मकीर्त्तेः।

ताथागता:[१८]। अत्र हि कल्पनापोढपदेन सविकल्पकस्य व्यावृत्ति:[१९], अभ्रान्तमिति पदेन त्वाभासस्य[२०]। तथा च[२१] समीचीनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति; तदेतद् बालचेष्टितम्; निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यमेव दुर्लभम्, समारोपाविरोधित्वात्, कुतः प्रत्यक्षत्वम्? व्यवसायात्मकस्यैव[२२] प्रामाण्यव्यवस्थापनात्?[२३]।

४. [२४]ननु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षप्रमाणमर्थजत्वात्। तदेव[१*] हि [२५]परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यं न तु सविकल्पकम्, तस्यापरमार्थभूतसामान्य-

---

जो दो पद दिये गये हैं। उनमें 'कल्पनापोढ़' पद से सविकल्पक की और 'अभ्रान्त' पद से मिथ्या ज्ञानों की व्यावृत्ति की गई है। फलितार्थ यह हुआ कि जो समीचीन निर्विकल्पक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है, किन्तु उनका यह कथन बालचेष्टामात्र है—सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक संशयादिरूप समारोप का विरोधी (निराकरण करने वाला) न होने से प्रमाण ही नहीं हो सकता है। कारण, निश्चयस्वरूप ज्ञान में ही प्रमाणता व्यवस्थित (सिद्ध) होती है। तब वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

४. शंका—निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह अर्थ से उत्पन्न होता है। परमार्थ सत्–वास्तविक है और स्वलक्षणजन्य है। सविकल्प नहीं, क्योंकि वह अपरमार्थभूत सामान्य को विषय करने से अर्थजन्य नहीं है?

---

१८. तथागतः सुगतो बुद्ध इत्यनर्थान्तरम्, तदनुयायिनो ये ते ताथागता बौद्धाः। १९. व्यवच्छेदो निरास इति यावत्। २०. मिथ्याज्ञानस्य। २१. फलितलक्षणं प्रदर्शयति तथा चेति। २२. निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य। २३. "तन्निश्चयात्मकं समारोप विरुद्धत्वादनुमानवत्" (परीक्षा.१–३) इत्यादिना निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य प्रमाण्यं व्यवस्थापितम्। २४. बौद्धः शङ्कते नन्विति। २५. परमार्थभूतेन स्वलक्षणेन जन्यं "परमार्थोऽकृत्रिममनारोपितं रूपम्, तेनास्तीति परमार्थसत्। य एवार्थः सन्निधाना-सन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन् स एव। स एव च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षणम्"—न्यायबिन्दु टी. पृ. २३, "यदर्थक्रियासमर्थं तदेव स्वलक्षणमिति, सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम्"—प्रमाणसं. पृ. ६।

१*. 'एतदेव हि' द प्रतिपाठः।

विषयत्वेनार्थजत्वाभावादिति चेत्; न[२६]; अर्थस्यालोकवज्ज्ञान-कारणत्वानुपपत्तेः। तद्यथा–अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि[२७] कार्यकारणभावः। तत्रालोकस्तावन्न ज्ञानकारणम् [२८]तदभावेऽपि नक्तञ्चराणां मार्जारादीनां ज्ञानोत्पत्तेः, [२९]तद्भावेऽपि (च) [३०]घूकादीनां [३१]तदनुत्पत्तेः। [३२]तद्वदर्थोऽपि न ज्ञानकारणम्, [३३]तदभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः[३४]। तथा च कुतोऽर्थजत्वं ज्ञानस्य? तदुक्तं परीक्षामुखे–''नार्थालोकौ कारणम्''(२-६) इति। प्रामाण्यस्य चार्थाव्यभिचार[३५] एव [३६]निबन्धनं न त्वर्थजन्यत्वम्,

---

समाधान—नहीं; क्योंकि अर्थ प्रकाश की तरह ज्ञान में कारण नहीं हो सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है–

अन्वय (कारण के होने पर कार्य का होना) और व्यतिरेक (कारण के अभाव में कार्य का न होना) से कार्यकारण भाव जाना जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार प्रकाश ज्ञान में कारण नहीं है, क्योंकि उसके अभाव में भी रात्रि में विचरने वाले बिल्ली, चूहे आदि को ज्ञान पैदा होता है और उसके सद्भाव में भी उल्लू वगैरह को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अतः जिस प्रकार प्रकाश का ज्ञान के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है उसी प्रकार अर्थ (पदार्थ) भी ज्ञान के प्रति कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि अर्थ के अभाव में भी केशमशकादिज्ञान उत्पन्न होता है। (और अर्थ के रहने पर भी उपयोग न होने पर अन्यमनस्क या सुप्तादिकों को ज्ञान नहीं होता) ऐसी दशा में ज्ञान अर्थजन्य कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। परीक्षामुख में भी कहा है–''अर्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं है।'' दूसरी बात यह है कि प्रमाणता में कारण अर्थाव्यभिचार (अर्थ के अभाव में ज्ञान का न होना) है, अर्थजन्यता

---

२६. जैन उत्तरयति। २७. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना न कार्यकारणभावावगम इत्येतत्प्रदर्शनार्थं 'हि' शब्दः। २८. आलोकाभावेऽपि। २९. आलोक सद्भावेऽपि। ३०. उलूकादीनाम्। ३१. ज्ञानोत्पत्त्यभावात्। ३२. आलोकवत्। ३३. अर्थाभावेऽपि। ३४. केशोण्डुकादिज्ञानस्य भावात्। ३५. तदभाववद्वृत्तित्वं व्यभिचारस्तद्-भन्नोऽव्यभिचारः। तत्पदेनात्रार्थो ग्राह्यः। ३६. कारणं प्रयोजकमित्यर्थः।

स्वसंवेदनस्य विषयाजन्यत्वेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमात्[३७]। न हि किञ्चित्स्वस्मादेव जायते।

५. [३८]नन्वतज्जन्यस्य ज्ञानस्य[१*] कथं [३९]तत्प्रकाशकत्वम् ? इति चेत्; [४०]घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपस्य तत्प्रकाशकत्वं दृष्ट्वा सन्तोष्टव्य-मायुष्मता[४१]। अथ कथमयं विषयप्रतिनियमः[४२]? यदुत "घटज्ञानस्य घट एव विषयो न पटः" इति। अर्थजत्वं हि विषयप्रतिनियमकारणम्, तज्जन्यत्वात्

नहीं। कारण, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष विषयजन्य न होने पर भी प्रमाण माना गया है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चूँकि अपने से उत्पन्न होता है इसलिए वह भी विषयजन्य ही है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने से ही पैदा नहीं होती, किन्तु अपने से भिन्न कारणों से पैदा होती है।

५. शंका—यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता तो वह अर्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है?

समाधान—दीपक घटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता फिर भी वह उनका प्रकाशक है, यह देखकर आपको सन्तोष कर लेना चाहिए अर्थात् दीपक जिस प्रकार घटादिकों से उत्पन्न न होकर भी उन्हें प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थ से उत्पन्न न होकर उसे प्रकाशित करता है।

शंका—ज्ञान का विषय के साथ यह प्रतिनियम कैसे बनेगा कि घटज्ञान का घट ही विषय है, पट नहीं है? हम तो ज्ञान को अर्थजन्य होने

---

३७. बौद्धैः। ३८. अत्र बौद्धः पुनराशङ्कते नन्विति। ३९. अयं भावः—यदि ज्ञानं अर्थान्नोत्पद्यते तर्हि कथमर्थप्रकाशकं स्यात्? तदेव हि ज्ञानमर्थप्रकाशकं यदर्थजन्यम्, अजन्यत्वे तु तस्यार्थो विषयो न स्यात् "नाकारणं विषयः" इति वचनात्। ४०. उत्तरयति—घटाद्यजन्योऽपि हि यथा प्रदीपः घटादिप्रकाशको भवति तथा ज्ञानमप्यर्थाजन्यं सत् अर्थप्रकाशकमिति किमनुपपन्नम्? अर्थस्य ज्ञानकारणत्वनिरासस्तु पूर्वमेव कृतस्ततो नात्र किञ्चिद्वचनीयमस्ति। ४१. सन्तोषः करणीयो भवता। ४२. अमुक ज्ञानस्य अमुक एव विषयो नान्य इति विषयप्रतिनियमः, स न स्याद्यदि ज्ञानस्यार्थजन्यत्वं नो भवेदिति शङ्काया आशयः।

१*. आ प मु प्रतिषु 'अन्यस्य' इति पाठः।

तद्विषयमेव चैतदिति। [४३]तत्तु [४४]भवता नाऽभ्युपगम्यते इति चेत्; योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति ब्रूमः[४५]। का नाम योग्यता? इति[१*]। उच्यते—स्वावरणक्षयोपशमः। तदुक्तम्—''स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति[४६]'' (परीक्षा. २-९) इति।

६. [४७]ऐतेन ''तदाकारत्वात्तत्प्रकाशकत्वम्'' इत्यपि प्रत्युक्तम्[४८]। अतदाकारस्यापि प्रदीपादेस्तत्प्रकाशकत्वदर्शनात्। ततस्तदाकार[४९]वत्त-

---

के कारण अर्थजन्यता को ज्ञान में विषय का प्रतिनियामक मानते हैं और जिससे ज्ञान पैदा होता है उसी को विषय करता है, अन्य को नहीं, इस प्रकार व्यवस्था करते हैं, किन्तु उसे आप नहीं मानते हैं?

समाधान—हम योग्यता को विषय का प्रतिनियामक मानते हैं। जिस ज्ञान में जिस अर्थ के ग्रहण करने की योग्यता (एक प्रकार की शक्ति) होती है, वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है, अन्य को नहीं।

शंका—योग्यता किसे कहते हैं?

समाधान—अपने आवरण (ज्ञान को ढकने वाले कर्म) के क्षयोपशम को योग्यता कहते हैं। कहा भी है-''अपने आवरण कर्म के क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रत्येक पदार्थ की व्यवस्था करता है।'' तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा में घटज्ञानावरण कर्म के हटने से उत्पन्न हुआ घटज्ञान घट को ही विषय करता है, पट को नहीं। इसी प्रकार दूसरे पटादिज्ञान भी अपने-अपने क्षयोपशम को लेकर अपने-अपने ही विषयों को विषय करते हैं। अतः ज्ञान को अर्थजन्य मानना अनावश्यक और अयुक्त है।

६. ''ज्ञान अर्थ के आकार होने से अर्थ को प्रकाशित करता है।''

---

४३. अर्थजन्यत्वम्। ४४. जैनेन। ४५. जैनाः। ४६. प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूपः। तदुक्तम्–''तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गम् नार्थोत्पत्त्यादि।''–प्रमेयक. २-१०, ''योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशम विशेष एव''–प्रमाणपरीक्षा पृ. ६७। ४७. अर्थजन्यताया निराकरणेन, योग्यतायाश्च प्रति-नियतार्थव्यवस्थापकत्वसमर्थनेन। ४८. निरस्तम्।

१*. द प्रतौ 'इति' पाठो नास्ति।

ज्जन्यत्वमप्रयोजकं प्रामाण्ये। [५०]सविकल्पकविषयभूतस्य सामान्यस्य परमार्थत्वमेव, अबाधितत्वात्। प्रत्युत सौगताभिमत एव स्वलक्षणे विवादः। तस्मान्न निर्विकल्पकरूपत्वं प्रत्यक्षस्य।

(नैयायिकाभिमतस्य सन्निकर्षस्य प्रत्यक्षत्वनिरासः)

यह मान्यता भी उपर्युक्त विवेचन से खंडित हो जाती है, क्योंकि दीपक, मणि आदि पदार्थों के आकार न होकर भी उन्हें प्रकाशित करते हुए देखे जाते हैं। अतः अर्थाकारता और अर्थजन्यता ये दोनों ही प्रमाणता में प्रयोजक नहीं हैं, किन्तु अर्थाव्यभिचार ही प्रयोजक है। पहले जो सविकल्पक के विषयभूत सामान्य को अपरमार्थ बताकर सविकल्प का खण्डन किया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी प्रमाण से बाधित न होने के कारण सविकल्प का विषय परमार्थ (वास्तविक) ही है। बल्कि बौद्धों के द्वारा माना गया स्वलक्षण ही आपत्ति के योग्य है। अतः प्रत्यक्ष निर्विकल्पक रूप नहीं है– सविकल्पक रूप ही है।

---

४९. इत्थं च तदाकारत्वं तज्जन्यत्वं चोभयमपि प्रामाण्ये न प्रयोजकमिति बोध्यम्।५०. यच्चोक्तम्–सविकल्पकस्यापरमार्थभूतसामान्य विषयत्वमिति, तन्न युक्तम्; सविकल्पकस्य विषयभूतसामान्यस्य प्रमाणाबाधितत्त्वात्परमार्थत्वमेव। यद्धि न केनापि प्रमाणेन बाध्यते तत्परमार्थसत्, यथा भवदभिमतं स्वलक्षणम्, प्रमाणाबाधितं च सामान्यम्, तस्मात् परमार्थसत्। किञ्च, ''यथैव हि विशेषः (स्वलक्षणरूपः) स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासम्भविनां विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासम्भविना लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद् भिद्यते? यथा च विशेषः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणां कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् तद्बाह्यां पुनर्वाह–दोहाद्यर्थक्रियां यथा न सामान्यं कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोऽपि केवलः, सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात्। इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेदः सिद्धः।''–अष्टस. पृ. १२१। ततो यदुक्तं धर्मकीर्तिना–

''यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।
अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे॥ –प्रमाणवा. ३–३ इति।
तन्निरस्तम्; ''सामान्यलक्षण–स्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात्''–अष्टस. पृ.१२१

७.[५१] सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुतः [५२] प्रमिति-करणत्वम्? कुतस्तरां प्रमाणत्वम्? कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम्?

८.[५३] किञ्च, रूपप्रमितेरसन्निकृष्टमेव चक्षुर्जनकम्, अप्राप्य-कारित्वात्तस्य। ततः सन्निकर्षाभावेऽपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न सन्निकर्षरूपतैव प्रत्यक्षस्य। न चाप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽप्रसिद्धम्, प्रत्यक्ष-तस्तथैव[५४] प्रतीतेः। ननु [५५] प्रत्यक्षागम्यामपि चक्षुषो विषयप्राप्तिमनुमानेन साधयिष्यामः परमाणुवत्। यथा प्रत्यक्षासिद्धोऽपि, परमाणुः कार्यान्यथा-नुपपत्त्यानुमानेन[५६] साध्यते तथा ''चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं [५७] बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्'' इत्यनुमानात्

(यौगाभिमत सन्निकर्ष का निराकरण)

७. नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध) को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है। वह प्रमिति के प्रति करण कैसे हो सकता है? प्रमिति के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे?

८. दूसरी बात यह है कि चक्षु इन्द्रिय रूप का ज्ञान सन्निकर्ष के बिना ही कराती है, क्योंकि वह अप्राप्य है। इसलिए सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष में सन्निकर्षरूपता ही नहीं है। चक्षु इन्द्रिय को जो यहाँ अप्राप्यकारी कहा गया है वह असिद्ध नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष से चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता ही प्रतीत होती है।

शंका—यद्यपि चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यकारिता (पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करना) प्रत्यक्ष से मालूम नहीं होती तथापि उसे परमाणु की तरह

---

५१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। ५२. अज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमां प्रति-करणत्वं प्रमितिकरणत्वम्। तच्च सन्निकर्षस्य न सम्भवति, जडत्वात्। प्रमिति-करणत्वासम्भवे च न तस्य प्रमाणत्वम्, प्रमाकरणस्यैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। तदभावे च न प्रत्यक्षत्वमिति भावः। ५३. दोषान्तरमाह किञ्चेति। चक्षुर्हि असम्बद्धमेव रूपज्ञानस्य जनकं भवति, अप्राप्तार्थ-प्रकाशकत्वात्। न हि चक्षुः पदार्थं प्राप्य प्रकाशयति, अपितु दूरादेव। ५४. अप्राप्यकारित्वस्यैव। ५५. प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्याम्।

प्राप्तिसिद्धिः। प्राप्तिरेव हि सन्निकर्षस्ततो न सन्निकर्षस्याव्याप्तिरिति चेत्; न; अस्यानुमानाभासत्वात्[५८]। तद्यथा—

९. चक्षुरित्यत्र कः पक्षोऽभिप्रेतः[५९]? किं लौकिकं चक्षुरुता-लौकिकम्? [६०]आद्ये हेतोः [६१]कालात्यापदिष्टत्वम्, गोलकाख्यस्य[१*] लौकिकचक्षुषो विषयप्राप्तेः प्रत्यक्षबाधितत्वात्। द्वितीये[६२] त्वाश्रयासिद्धिः,

---

अनुमान से सिद्ध करेंगे। जिस प्रकार परमाणु प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी ''परमाणु है, क्योंकि स्कन्धादि कार्य अन्यथा नहीं हो सकते'', इस अनुमान से उसकी सिद्धि होती है उसी प्रकार ''चक्षु इन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाश करने वाली है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय है (बाहर से देखी जाने वाली इन्द्रिय है) जो बहिरिन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त करके ही प्रकाश करती है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय'' इस अनुमान से चक्षु में प्राप्यकारिता की सिद्धि होती है और प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। अतः चक्षु इन्द्रिय में सन्निकर्ष की अव्याप्ति नहीं है अर्थात् चक्षु इन्द्रिय भी सन्निकर्ष के होने पर ही रूपज्ञान कराती है। इसलिए सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है?

समाधान—नहीं; यह अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है—अनुमानाभास है। वह इस प्रकार है—

९. इस अनुमान में 'चक्षु' पद से कौन-सी चक्षु को पक्ष बनाया है? लौकिक (गोलकरूप) चक्षु को अथवा अलौकिक (किरणरूप) चक्षु को? पहले विकल्प में, हेतु कालात्यापदिष्ट (बाधितविषय) नाम का हेत्वाभास

---

५६. ''परमाणुरस्ति द्व्यणुकादिकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः'' इत्यनुमानेन। ५७. बहिःपदं मनोव्यवच्छेदार्थम्, मनो हि न बहिरिन्द्रियं तस्यान्तःकरणत्वात्। तच्चा-प्राप्यकारीति। अत्र व्याप्तिः—यद्बहिरिन्द्रियं तत्प्राप्तार्थप्रकाशकम्, यथा स्पर्शनेन्द्रियम्। यन्न प्राप्तार्थप्रकाशकं तन्न बहिरिन्द्रियम्, यथा मनः, बहिरिन्द्रियं चेदं चक्षुः, तस्मात्-प्राप्तार्थप्रकाशकमिति भावः। ५८. सदोषानुमानत्वमनुमानाभासत्वम्। ५९. स्वीकृतो भवता यौगेन। ६०. प्रथमे पक्षे। ६१. बाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तो हि हेतुः कालात्यापदिष्ट उच्यते।

१*. 'क्षस्य' इति म मु प्रत्योः पाठः।

अलौकिकस्य[६३] चक्षुषोऽद्याऽप्यसिद्धेः। शाखासुधादीधिति[६४] समानकाल[६५] ग्रहणा[१*]न्यथानुपपत्तेश्च[२*]चक्षुरप्राप्यकारीति निश्चीयते। तदेवं सन्निकर्षाभावेऽपि चक्षुषा रूपप्रतीतिर्जायत इति सन्निकर्षोऽव्यापक[६६] त्वात्प्रत्यक्षस्य स्वरूपं न भवतीति स्थितम्।

१०. [६७]अस्य च प्रमेयस्य प्रपञ्चः[६८] प्रमेयकमलमार्तण्डे (१-१ तथा २-४) सुलभः[६९]। संग्रहग्रन्थत्वात्तु नेह[७०] प्रतन्यते[७१]। एवं च न सौगताभिमतं निर्विकल्पं प्रत्यक्षम्, नापि यौगाभिमत इन्द्रियार्थसन्निकर्षः[७२]।

है; क्योंकि गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसकी विषय-प्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है। दूसरे विकल्प में, हेतु आश्रयासिद्ध है; क्योंकि किरणरूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण अन्यथा नहीं हो सकता है इसलिए चक्षु अप्राप्यकारी ही प्रसिद्ध होती है। अतः उपर्युक्त अनुमानगत हेतु कालात्यापदिष्ट और आश्रयासिद्ध होने के साथ ही प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) भी है। इस प्रकार सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु के द्वारा रूपज्ञान होता है। इसलिए सन्निकर्ष अव्याप्त होने से प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।

१०. इस सन्निकर्ष के आप्रमाण्य का विस्तृत विचार प्रमेयकमलमार्तंड में (१-१ तथा २-४) अच्छी तरह किया गया है। संग्रहग्रन्थ होने के कारण इस लघु प्रकरण न्याय-दीपिका में उसका विस्तार नहीं किया। इस प्रकार

---

६२. उत्तरविकल्पे-अलौकिकं चक्षुरित्यभ्युपगमे। ६३. किरणरूपस्य। ६४. सुधादीधितिः-चन्द्रमाः। ६५. शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणं दृष्टं ततो ज्ञायते चक्षुरप्राप्यकारीति। प्राप्यकारित्वे तु क्रमशः एव तयोर्ग्रहणं स्यात् न युगपत्, परं युगपत्तयोर्ग्रहणं सर्वजनसाक्षिकमिति भावः। ६६. अव्याप्तिदोषदुष्टत्वात्। ६७. एतस्य सन्निकर्षाप्रामाण्यविचारस्य। ६८. विस्तरः। ६९. सुबोधः। ७०. अत्र न्यायदीपिकायाम्। ७१. विस्तार्यते। ७२. प्रत्यक्षमिति सम्बन्धः।

१*. 'ग्रहणाद्यन्यथानु' इति आ म प मु प्रतिपाठः।
२*. आ म प मु प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति।

किं तर्हि ? विशदप्रतिभासं ज्ञानमेव प्रत्यक्षं सिद्धम्।

(प्रत्यक्षं द्विधा विभज्य सांव्यवहारिकस्य लक्षणपुरस्सरं भेदनिरूपणम्।)

११. तत्प्रत्यक्षं द्विविधम्[१*]—सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः। [७३]तच्चतुर्विधम्—अवग्रहः, ईहा, अवायः, धारणा चेति। [७४]तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तरजातिविशिष्ट वस्तुग्रही[७५] ज्ञानविशेषोऽवग्रहः—यथाऽयं पुरुष इति। नाऽयं संशयः, [७६]विषयान्तरव्युदासेन [७७]स्वविषय निश्चायकत्वात्।

न बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है और न यौगों का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष। तो फिर प्रत्यक्ष का लक्षण क्या है? विशदप्रतिभास-स्वरूप ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, यह भले प्रकार सिद्ध हो गया।

प्रत्यक्ष के दो भेद करके सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण और उसके भेदों का निरूपण—

११. वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—१. सांव्यवहारिक और २. पारमार्थिक। एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान कुछ निर्मल है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। उसके चार भेद हैं—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तरसत्ताजाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे "यह पुरुष है"। यह ज्ञान संशय नहीं है, क्योंकि विषयान्तर का निराकरण करके अपने

---

७३. सांव्यवहारिक प्रत्यक्षम्। ७४. अवग्रहादिषु मध्ये। ७५. इन्द्रियार्थयोः समवधानं सन्निपातः सम्बन्ध इति यावत्, तत्पश्चादुत्पन्नो यः सत्तालोचनरूपः सामान्यप्रतिभासस्तस्यानन्तरं जायमानः, अथ चावान्तर-सत्ताविशिष्टवस्तुग्राहको यो ज्ञानविशेषः सोऽवग्रह इति भावः। ७६. स्वविषयादन्यो विषयो विषयान्तरम्, तस्य व्युदासो व्यवच्छेदस्तेन स्वविषयातिरिक्तविषयव्यवच्छेदेन। ७७. स्वविषयभूत-परमार्थैककोटिनिश्चायकोह्यवग्रहः।

१*. 'तत्कियत्प्रकारं', तद्विविधं' इति म प्रतिपाठः।

[७८]**तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः।** [७९]**यद्राजवार्तिकम्–**[८०]**अनेकार्थानिश्चिताऽपर्युदासात्मक : संशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः'' (१-१५-९) इति।** [८१]**भाष्यं च–''संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः**[८२]**''(१-१५-१०) इति। अवग्रहग्रहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिराशाय यतनमीहा**[८३]**। तद्यथा–पुरुष इति**

विषय का ही निश्चय कराता है और संशय उससे विपरीत लक्षण वाला है। जैसा कि राजवार्तिक में कहा है–''संशय नानार्थविषयक, अनिश्चयात्मक और अन्य का अव्यवच्छेदक होता है, किन्तु अवग्रह एकार्थविषयक, निश्चयात्मक और अपने विषय से भिन्न विषय का व्यवच्छेदक होता है।'' राजवार्तिक भाष्य में भी कहा है–''संशय निर्णय का विरोधी है, परन्तु अवग्रह नहीं है।'' फलितार्थ यह निकला कि संशयज्ञान में पदार्थ का निश्चय नहीं होता और अवग्रह में होता है। अतः अवग्रह संशयज्ञान से पृथक् है।

अवग्रह से जाने हुए अर्थ में उत्पन्न संशय को दूर करने के लिए ज्ञाता का जो अभिलाषात्मक प्रयत्न होता है, उसे ईहा कहते हैं। जैसे

---

७८. अवग्रहात्सर्वथा विपरीतः संशयः। ७९. अवग्रह-संशययोर्भेदसाधकं तत्त्वार्थराजवार्तिकीयं लक्षणं प्रदर्शयति यदिति। ८०. अयमर्थः–नानार्थविषयक :, अनिश्चयात्मकः, विषयान्तराव्यवच्छेदकः संशयः। अवग्रहस्तु तद्विपरीतः–एकार्थविषयकः, निश्चयात्मकः, विषयान्तरव्यवच्छेदक श्चेति। ८१. तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्यम्। ८२. सति संशये पदार्थस्य निर्णयो न भवति, अवग्रहे तु भवत्येवेति भावः। ८३. ननु कथमीहाया ज्ञानत्वम्? यतो हीहाया इच्छारूपत्वाच्चेष्टात्मकत्वाद्वा; मैवम्; ईहा जिज्ञासा, सा च विचाररूपा, विचारश्च ज्ञानम्, नातो कश्चिद्दोषः। तथा चोक्तम्– ''ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।'' तत्त्वार्था धि. भा. १-१५, ''ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात्।''–लघीय. स्वोपज्ञवि. का. ६, ''ज्ञानेने (ज्ञानमी) हाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा। इति केचित्प्रभाषन्ते तच्च न व्यवतिष्ठते। विशेषवेदनस्येह दृढस्येहात्वसूचनात्॥ ×× अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह (हि) तस्य वा। ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च।'' तत्त्वार्थश्लोक वा. १-१५-१९, २०, २२, ''ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्याः''–प्रमाणमी.१-१-२७, ''ईहा-धारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया''–प्रमाणमी.१-१-३९।

निश्चितेऽर्थे किमयं दाक्षिणात्य[८४] उतौदीच्य[८५] इति संशये सति दाक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं ज्ञानं जायत इति। भाषादिविशेष-निर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः, यथा दाक्षिणात्य एवायमिति। [८६]कालान्त-राविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा[८७]। यद्वशादुत्तरकालेऽपि स[१*] इत्येवं स्मरणं जायते।

अवग्रह ज्ञान के द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार का निश्चय किया गया था, इससे यह 'दक्षिणी' है अथवा 'उत्तरीय' इस प्रकार के सन्देह होने पर उसको दूर करने के लिए "यह दक्षिणी होना चाहिए" ऐसा ईहा नाम का ज्ञान होता है। भाषा, वेष और भूषा आदि के विशेष को जानकर यथार्थता का निश्चय करना अवाय है। जैसे "यह दक्षिणी ही है।"

अवाय से निश्चित किये गये पदार्थ को कालान्तर में न भूलने की शक्ति से उसी का ज्ञान होना धारणा है। जिससे भविष्य में भी 'वह' इस प्रकार का स्मरण होता है। तात्पर्य यह कि पदार्थ का निश्चय होने के बाद जो उसको न भूलने रूप से संस्कार (वासना) स्थिर हो जाता है और जो स्मरण का जनक होता है वही धारणाज्ञान है। अतएव धारणा का दूसरा नाम संस्कार भी है*।

---

८४. दक्षिणदेशीयः। ८५. उत्तरदेशीयः। ८६. अनुभवकालाद्भिन्न कालः कालान्तरमागामिसमय इत्यर्थः। ८७. "स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत् लघी. स्वोपज्ञविवृ. का. ६। ननु धारणायाः कथं ज्ञानत्वम्, संस्काररूपत्वात्? न च संस्कारस्य ज्ञानरूपतेति चेत्; तन्न; उक्तमेव पूर्वम्–"ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम्, तदुपयोगविशेषात्" इति। "अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, न हि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति" (प्रमाणमी.-१-१-२९)। "अवग्रहस्य ईहा अवायस्य च धारणा व्यापारविशेषः, न च चेतनोपादानो व्यापारविशेषः अचेतनो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्" (न्यायकुमु. पृ.१७३)।

१*. 'स एवेत्येवं' द प प्रतिपाठः।

*** 'स्मृतिहेतुधारणा, संस्कार इति यावत्'–लघी. स्वोपज्ञविवृ. का. ६। वैशेषिकदर्शन में इसे (धारणा को) भावना नाम का संस्कार कहा है और उसे स्मृतिजनक माना है।**

१२. ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतार्थग्राहकत्वादेतेषां[८८] धारावाहिकवदप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्; न; विषयभेदेनागृहीतग्राहकत्वात्। तथा हि—योऽवग्रहस्य विषयो नासावीहायाः, यः पुनरीहाया नायमवायस्य, यश्चावायस्य नैष[१*] धारणाया इति परिशुद्धप्रतिभानां[८९] सुलभमेवैतत्। [९०]तदेतदवग्रहादिचतुष्टयमपि यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते, यदा पुनरनिन्द्रियेण तदाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं गीयते[९१]। इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि पञ्च, अनिन्द्रियं तु मनः। तद्द्वयनिमित्तकमिदं [९२]लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्सांव्यवहारिक [९३]प्रत्यक्षमुच्यते।

---

१२. शंका—ये ईहादिक ज्ञान पहले-पहले ज्ञान से ग्रहण किये हुए पदार्थ को ही ग्रहण करते हैं, अतः धारावाहिक ज्ञान की तरह अप्रमाण हैं?

समाधान—नहीं, भिन्न विषय होने से अगृहीतार्थग्राही हैं अर्थात् पूर्व में ग्रहण नहीं किये हुए विषय को ही ग्रहण करते हैं। यथा—जो पदार्थ अवग्रह ज्ञान का विषय है वह ईहा का नहीं है और जो ईहा का है वह अवाय का नहीं है तथा जो अवाय का है वह धारणा का नहीं है। इस तरह इनका विषयभेद बिलकुल स्पष्ट है और उसे बुद्धिमान अच्छी तरह जान सकते हैं।

ये अवग्रहादि चारों ज्ञान जब इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं तब इन्द्रियप्रत्यक्ष कहे जाते हैं और जब अनिन्द्रिय-मन के द्वारा पैदा होते हैं तब अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहे जाते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं—१. स्पर्शन, २. रसना, ३. घ्राण, ४. चक्षु और ५. श्रोत्र। अनिन्द्रिय केवल एक मन है। इन दोनों के निमित्त से होने वाला यह अवग्रहादिरूप ज्ञान लोकव्यवहार में 'प्रत्यक्ष' प्रसिद्ध है। इसलिए यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। परीक्षामुख

---

८८. अवग्रहादीनाम्। ८९. विशुद्धबुद्धीनाम्। ९०. अवग्रहादिचतुष्टयस्यापि इन्द्रियानिन्द्रियजन्यत्वेन द्विविधत्वं प्रदर्शयति तदेतदिति। ९१. कथ्यते। ९२. लोकस्य यः समीचीनो बाधारहितः प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपो व्यवहारस्तस्मिन्। ९३. संव्यवहारप्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्—अपारमार्थिक मित्यर्थः।

१*. 'नैव' इति म प्रतिपाठः।

तदुक्तं परीक्षामुखे[1*]–''इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्''(२-५) इति। इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु[९४] परोक्षमेव, मतिज्ञानत्वात्। कुतो नु खल्वेतन्मतिज्ञानं परोक्षमिति? उच्यते-''आद्ये परोक्षम्''(तत्त्वार्थसूत्र १-११) इति सूत्रणात्[2*]। आद्ये मतिश्रुतज्ञाने परोक्षमिति हि सूत्रार्थः। उपचारमूलं[९५] पुनरत्र देशतो वैशद्यमिति कृतं विस्तरेण।

(पारमार्थिकप्रत्यक्षं लक्षयित्वा तद्भेदानां प्ररूपणम्)

१३. सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं साकल्येन[९६] स्पष्टं

में भी कहा है–''इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।'' और यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य प्रत्यक्ष है–गौण रूप से प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचार से सिद्ध होता है। वास्तव में तो परोक्ष ही है। कारण वह मतिज्ञान है और मतिज्ञान परोक्ष है।

शंका–मतिज्ञान परोक्ष कैसे है?

समाधान–''आद्ये परोक्षम्'' (तत्त्वार्थसूत्र १-११) ऐसा सूत्र है–आगम का वचन है। सूत्र का अर्थ यह है कि प्रथम के दो ज्ञान–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को जो उपचार से प्रत्यक्ष कहा गया है उस उपचार में निमित्त ''एक देश स्पष्टता'' है। अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञान कुछ स्पष्ट होता है, इसलिए उसे प्रत्यक्ष कहा गया है। इस सम्बन्ध में और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इतना विवेचन पर्याप्त है।

(पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण करके उसके भेदों का कथन)

१३. सम्पूर्णरूप से स्पष्ट ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जो

---

९४. ननु यदि प्रकृतं ज्ञानममुख्यतः प्रत्यक्षं तर्हि मुख्यतः किं स्यादित्यत आह वस्तुतस्त्विति। ९५. इन्द्रियानिन्द्रयजन्यज्ञानस्योपचारतः प्रत्यक्षत्वकथने निमित्तम्। ९६. सामस्त्येन।

१*. आ म मु प्रतिषु 'परीक्षामुखे' इति पाठो नास्ति।

२*. 'सूत्रभणनाद्' इति म प्रतिपाठः।

तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षम्, मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत्। [९७]तद् द्विविधम्-विकलं सकलं च। तत्र कतिपयविषयं विकलम्।[९८]तदपि द्विविधम्-अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च[१*]। तत्रावधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तराय-क्षयोपशम-सहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम्[९९]। मनःपर्यय-ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्थं परमनोगतार्थविषयं मनःपर्ययज्ञानम्[१००]। मतिज्ञानस्येवावधिमनःपर्यययोरवान्तरभेदाः[१०१] तत्त्वार्थराजवार्तिक-

---

ज्ञान समस्त प्रकार से निर्मल है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। उसी को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

उसके दो भेद हैं–एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकल प्रत्यक्ष। उनमें से कुछ पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान विकल पारमार्थिक है। उसके भी दो भेद हैं–१. अवधिज्ञान और २. मनःपर्ययज्ञान। अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले तथा मूर्तिक द्रव्य मात्र को विषय करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए और दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान की तरह अवधि और मनःपर्ययज्ञान के भी भेद और प्रभेद हैं, उन्हें

---

९७. पारमार्थिक प्रत्यक्षम्। ९८. विकलमपि प्रत्यक्षम्। ९९. अवधिः सीमा मर्यादा इति यावत्। स विषयो यस्य ज्ञानस्य तदवधिज्ञानम्। अत एवेदं ज्ञानं सीमाज्ञानमपि कथ्यते। ''अवायन्ति ब्रजन्तीत्यवायाः पुद्गलाः, तान् दधाति जानातीत्यवधिः'' ×× ''अवधानम् अवधिः। कोऽर्थः? अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिरुच्यते, देवा खल्ववधिज्ञानेन सप्तमनरकपर्यन्तं पश्यन्ति। उपरि स्तोकं पश्यन्ति, निजविमान-ध्वजदण्डपर्यन्तमित्यर्थः।''–तत्त्वार्थवृ. श्रु. १–९। ''अवाग्धानात् (पुद्गलपरिज्ञानात्) अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा (रूपिविषयत्वाद्वा) अवधिः।'' सर्वार्थ. १–९। १००. परिकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते, साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।'' सर्वार्थ. १–९।१०१. प्रभेदाः।

१*. 'चेति' पाठो म आ मु प्रतिषु।

श्लोकवार्तिक-भाष्याभ्यामवगन्तव्याः[१०२]।

१४. सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम्[१०३]। [१०४]तच्च [१०५]घातिसंघात-निरवशेषघातन[१*]समुन्मीलितं केवलज्ञानमेव। [१०६]''सर्वद्रव्यपर्यायेषु

तत्त्वार्थराजवार्तिक और श्लोकवार्तिकभाष्य से जानना चाहिए।

१४. समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल प्रत्यक्ष, ज्ञानावरण आदि घातियाकर्मों के सम्पूर्ण नाश से उत्पन्न केवलज्ञान ही है, क्योंकि ''समस्त द्रव्यों और

१०२. तदित्थम् ''अनुगाम्यननुगामि-वर्द्धमानहीयमाना-वस्थिताऽनवस्थित-भेदात्षड्विधोऽवधिः×× पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः-देशावधिः परमावधिः, सर्वावधि-श्चेति। तत्र देशावधिस्त्रेधा-जघन्यः उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा जघन्यः उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्च)। सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव। उत्सेधांगुला-संख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्यः। उत्कृष्टः कृत्स्नलोकः। तयोरन्तराले-ऽसंख्येय-विकल्प अजघन्योत्कृष्टः। परमावधिर्जघन्य एक प्रदेशाधिकलोक क्षेत्रः। उत्कृष्टोऽ-संख्येयलोक क्षेत्रः, अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्रः। उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिर-संख्यातक्षेत्रः सर्वावधिः। वर्द्धमानः हीयमानः अवस्थितः अनवस्थितः अनुगामी, अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपातीत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति। हीयमान-प्रतिपाति-भेदवर्ज्या इतरे षड्भेदा भवन्ति परमावधेः। अवस्थितोऽनुगाम्य-ननुगाम्यप्रतिपातीत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः।''-तत्त्वार्थवा.१, २२, ४। ''अनुगाम्य-ननुगामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थित इति षड्विकल्पोऽवधिः संप्रतिपाताप्रतिपातयोर-त्रैवान्तर्भावात् देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च परमागमप्रसिद्धानां पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भावितानामत्रोपसंग्रहात्।''-तत्त्वार्थश्लो. भा. १-२२-१०। ''स मनःपर्ययो द्वेधा। कुतः? सूत्रोक्तविकल्पात्। ऋतुमतिर्विपुलमतिरिति''×× आद्य ऋतुमतिमनः पर्ययस्त्रेधा। कुतः? ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः, ऋजुकाय-कृतार्थश्चेति।... द्वितीयो विपुलमतिः षोढा भिद्यते। कुतः? ऋजुवक्रमनो-वाक्काय-विषयभेदात्। ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः, वक्र विकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः''-तत्त्वार्थवा.१, २३, ६, ८। एवमेव श्लोक वार्तिके (१-२३) मनःपर्ययभेदाः प्रोक्ताः। १०३. पारमार्थिक प्रत्यक्षमिति सम्बन्धः। १०४. सकलप्रत्यक्षम्। १०५. घातिनां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मणां संघातः समूहस्तस्य निरवशेषेण सामस्त्येन घातनात् क्षयात्समुन्मीलितं जातमित्यर्थः। १०६. ''सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। ये लोकालोक भिन्नास्त्रिकालविषया द्रव्यपर्याया अनन्ताः, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानविषयनिबन्ध

१*. म मु प्रत्योः 'घातनाद्' इति पाठः।

केवलस्य''[१०७] (तत्त्वार्थसू.१-२९) इत्याज्ञापितत्वात्[१*]।

१५.तदेवमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयं सर्वतो वैशद्यात् पारमार्थिक[२*] प्रत्यक्षम्। सर्वतो वैशद्यं [१०८]चात्ममात्रसापेक्षत्वात्।

१६. [१०९]नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वम् अवधि मनःपर्यययोस्तु न युक्तम्, विकलत्वादिति चेत्; न[११०]; साकल्यवैकल्ययोरत्र

समस्त पर्यायों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति है'', ऐसा तत्त्वार्थसूत्र का उपदेश है।

१५. इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, ये तीनों ज्ञान सब तरह से स्पष्ट होने के कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। सब तरह से स्पष्ट इसलिए हैं कि ये मात्र आत्मा की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होते हैं–इन्द्रियादिक पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं लेते।

१६. शंका–केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है, परन्तु अवधि और मनःपर्यय को पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है। कारण, वे दोनों विकल (एक देश) प्रत्यक्ष हैं?

समाधान–नहीं; सकलपना और विकलपना यहाँ विषय की अपेक्षा

इति प्रतिपत्त्यर्थं सर्वग्रहणम्। यावाल्लोकालोक स्वभावोऽनन्तस्तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युस्तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्य-परिमितमाहात्म्य केवलज्ञानं वेदितव्यम्।'' तत्त्वार्थवा. १, २९, ९। १०७. विषयनिबन्धः (सम्बन्धः) इति शेषः। १०८. आत्मानमेवापेक्ष्यैतानि त्रीणि ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, नेन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा अत्रास्ति। उक्तं च–''...अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथाऽऽलोकानपेक्षा।''–अष्टश.का. ३, ''न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः सम्भवति साक्षात्परम्परया वा। ननु चावधि-मनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया? तदावरणक्षयोपशमातिशय-वशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः।''–अष्टस. पृ. ५० ।१०९. अवधिमनः पर्यययोः पारमार्थिकत्वाभावमाशङ्कते नन्विति। ११०. समाधत्ते नेति। अयं भावः–अत्र हि केवलस्य यत्सकलप्रत्यक्षत्वमवधि-मनःपर्यययोश्च विकलप्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्विषयकृतम्। सकलरूप्यरूपिपदार्थविषयत्वेन केवलं सकलप्रत्यक्षमुच्यते, रूपिमात्रविषयत्वेन चावधिमनःपर्ययौ विकलप्रत्यक्षौ कथ्येते। ततो न तयोः पारमार्थिकत्वहानिः। पारमार्थिकत्वप्रयोजकं हि स्वविषये साकल्येन वैशद्यम्, तच्चकेवलवत्तयोरपि विद्यत एवेति।

१*. 'इत्यादिज्ञापितत्वात्' इति द प प्रतिपाठः।

२*. 'पारमार्थिकं प्रत्यक्षं' इति म मु प्रतिपाठः।

विषयोपाधिकत्वात्[१११]। तथा हि—सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलम्। अवधि मनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ। नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः[११२]। केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव[११३]।

(अवध्यादित्रयस्यातीन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रतिपादनम्)

१७. [११४]कश्चिदाह–''अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियम्, [११५]तत् प्रतीत्य [११६]यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचितम्, नान्यत''[११७][ ] इति; [११८]तदसत्;

से है, स्वरूपतः नहीं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चूँकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला है, इसलिए वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है, परन्तु अवधि और मनःपर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते हैं, इसलिए वे विकल कहे जाते हैं। लेकिन इतने से उनमें पारमार्थिकता की हानि नहीं होती, क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकलार्थ विषयता नहीं है, पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि और मनःपर्यय में भी अपने विषय में विद्यमान है। इसलिए वे दोनों भी पारमार्थिक ही हैं।

अवधि आदि तीनों ज्ञानों को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष न हो सकने की शंका और उसका समाधान—

१७. शंका—अक्ष नाम चक्षु आदि इन्द्रियों का है, उनकी सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहना ठीक है, अन्य (इन्द्रियनिरपेक्ष अवधिज्ञानादिक) को नहीं?

---

१११. विषय उपाधिर्निमित्तं ययोस्तौ विषयोपाधिकौ विषयनिमित्तकौ तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात् विषयोपाधिकत्वात् विषयनिमित्तकत्वादित्यर्थः। ११२. पारमार्थिकत्वाभावः। ११३. एवकारेणापारमार्थिकत्वव्यवच्छेदः, तेन नापारमार्थिकौ इति फलति। ११४. ''अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्, अक्षाणि इन्द्रियाणि''–प्रशस्त.भा.पृ.९४। ''अक्षमक्षं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षम्''—न्यायप्र.पृ.७। ये खलु ''इन्द्रियव्यापारजनितं प्रत्यक्षं–अक्षमक्षं प्रतियद्वर्त्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्'' (सर्वार्थ.१–१२) इति प्रत्यक्षलक्षणमामनन्ति तेषामियं शंका, ते च वैशेषिकादयः। ११५. इन्द्रियमाश्रित्य। ११६. यज्ज्ञानम्। ११७. नेन्द्रियनिरपेक्षम्, तथा च नावध्यादित्रयं प्रत्यक्षमिति शङ्कितुराशयः। ११८. तदयुक्तम्।

आत्ममात्रसापेक्षाणामवधिमनःपर्ययकेवलानामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षत्वाविरोधात्। स्पष्टत्वमेव हि प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं[११९] नेन्द्रिय-जन्यत्वम्[१२०]। अत एव[१२१]हि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां ज्ञानत्वेन [१२२]प्रतिपन्नानां मध्ये "आद्ये परोक्षम्" (तत्त्वार्थसू.१-११) "प्रत्यक्षमन्यत्" (तत्त्वार्थसू.- १-१२) इत्याद्ययोर्मतिश्रुतयोः परोक्षत्वकथनमन्येषां त्ववधि-मनःपर्ययकेवलानां [१२३]प्रत्यक्षत्ववाचोयुक्तिः।

१८. कथं पुनरेतेषां[१२४] प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्[१२५]? इति चेत्;

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा मात्र की अपेक्षा रखने वाले और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखने वाले भी अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में कोई विरोध नहीं है। कारण, प्रत्यक्षता का प्रयोजक स्पष्टता ही है, इन्द्रियजन्यता नहीं और वह स्पष्टता इन तीनों ज्ञानों में पूर्णरूप से है। इसीलिए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों को जो कि ज्ञानरूप से जाने गये हैं, इन ज्ञानों में 'आद्ये परोक्षम्' (त॰ सू॰ १-११) और 'प्रत्यक्षमन्यत्' (त॰ सू॰ १-१२) इन दो सूत्रों द्वारा प्रथम के मति और श्रुत इन दो ज्ञानों को परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा है।

१८. शंका—फिर से प्रत्यक्ष शब्द के वाच्य कैसे हैं? अर्थात् इनको प्रत्यक्ष शब्द से क्यों कहा जाता है? क्योंकि अक्ष नाम तो इन्द्रियों का है और इन्द्रियों की सहायता से होने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष शब्द से कहने योग्य है?

समाधान—हम इन्हें रुढ़ि से प्रत्यक्ष कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष शब्द के व्युत्पत्ति (यौगिक) अर्थ की अपेक्षा न करके अवधि आदि

---

११९. प्रत्यक्षतायां निबन्धनम्। १२०. यतो हि "यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते, एवं सत्याऽऽप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः। -सर्वार्थ.१-१२। १२१. स्पष्टत्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वादेव, यत एव स्पष्टत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं तत एव इत्यर्थः। १२२. अभ्युपगतानामवगतानामिति यावत्। १२३. प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं सङ्गतं सूत्रकाराणाम्। यदाह अकलंकदेवोऽपि "आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम्।"-न्यायवि. का. ४७४। १२४. अवधिमनः पर्ययकेवलानाम्। १२५. कथनयोग्यता, व्यपदेश इति यावत्।

रुढ़ित[१२६] इति ब्रूमः।

१९. अथवा[१२७] अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा,

ज्ञानों में प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति में निमित्त* स्पष्टता है और वह उक्त तीनों ज्ञानों में मौजूद है। अतः जो ज्ञान स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।

१९. अथवा, व्युत्पत्ति अर्थ भी इनमें मौजूद है। ''अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा'' अर्थात् जो व्याप्त करे, जाने, उसे अक्ष कहते हैं

---

१२६. अक्षमक्षं प्रतियद्वर्त्तते तत्प्रत्यक्षमितीमं प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थम-नाश्रित्यार्थसाक्षात्कारित्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्। ''अक्षाश्रितत्त्व च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य), न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्। अनेन त्वक्षाश्रितत्त्वेन एकार्थ समवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते तदेव च शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य) प्रवृत्तिनिमित्तम्। ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते। यदि चाक्षाश्रितत्त्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति''–न्यायबिन्दु टी. पृ. ११। तथा प्रकृतेऽपि अक्ष–जन्येऽनक्षजन्ये च ज्ञाने प्रत्यक्षशब्दः प्रवर्त्तते। अतो युक्तमेवावध्यादित्रयाणामिन्द्रिय–निरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्, स्पष्टत्वापरनामार्थसाक्षात्कारित्वस्य तत्र प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावादिति भावः। १२७. यद्ययमाग्रहः स्याद्यद्व्युत्पत्तिनिमित्तेनैव भाव्यमिति तदा तदप्याह अथवेति। यथोक्तं श्रीप्रभाचन्द्रैरपि–''यदि वा, व्युत्पत्तिनिमित्तमप्यत्र विद्यत एव। तथा हि–अक्षशब्दो-ऽयमिन्द्रियवत् आत्मन्यपि वर्त्तते, अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा इति व्युत्पत्तेः। तमेव क्षीणोपशान्तावरणं क्षीणावरणं वा प्रति नियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्ष-शब्दातिशयता सुघटैव।''–न्यायकु. पृ. २६।

*** व्युत्पत्तिनिमित्त से प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हुआ करता है। जैसे गो शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त 'गच्छतीति गौः' जो गमन करे वह गौ है, इस प्रकार 'गमन क्रिया' है और प्रवृत्तिनिमित्त 'गोत्व' है। यदि व्युत्पत्तिनिमित्त (गमनक्रिया) को ही प्रवृत्ति में निमित्त माना जाये तो बैठी या खड़ी गाय में गो शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और गमन कर रहे मनुष्यादि में भी व्युत्पत्ति निमित्त से भिन्न 'गोत्व' है। उसी प्रकार प्रकृति में प्रत्यक्ष शब्द की प्रवृत्ति में व्युत्पत्ति निमित्त 'अक्षाश्रितत्व' से भिन्न 'स्पष्टत्व' है। अतः अवधि आदि तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहने में कोई बाधा नहीं है।**

तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति [१२८]किमनुपपन्नम्[१*]? तर्हि इन्द्रियजन्यम-प्रत्यक्षं प्राप्तमिति चेत्; हन्त विस्मरणशीलत्वं वत्सस्य[१२९]। अवोचाम खल्वौपचारिकं प्रत्यक्षत्वमक्षजज्ञानस्य[१३०]। ततस्तस्या[१३१]प्रत्यक्षत्त्वं कामं[१३२] प्राप्नोतु, का नो[१३३] हानिः। [१३४]एतेन "अक्षेभ्यः परावृत्तं[१३५] परोक्षम्" [ ] इत्यपि [१३६]प्रतिविहितम्, अवैशद्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात्[१३७]।

और वह आत्मा है। इस व्युत्पत्ति को लेकर अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा भी होता है। इसलिए उस अक्ष–आत्मा मात्र की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में क्या बाधा है? अर्थात् कोई बाधा नहीं है।

शंका—यदि ऐसा माना जाये तो इन्द्रियजन्य ज्ञान अप्रत्यक्ष कहलायेगा?

समाधान—हमें खेद है कि आप भूल जाते हैं। हम कह आये हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान उपचार से प्रत्यक्ष है। अतः वह वस्तुतः अप्रत्यक्ष हो, इसमें हमारी कोई हानि नहीं है।

इस उपर्युक्त विवेचन से "इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान को परोक्ष" कहने की मान्यता का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि अविशदता (अस्पष्टता) को ही परोक्ष का लक्षण माना गया है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार इन्द्रियसापेक्षता प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है। उसी प्रकार इन्द्रियनिरपेक्षता परोक्षता में भी प्रयोजक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षता में स्पष्टता की तरह परोक्षता में अस्पष्टता कारण है।

---

१२८. नायुक्तमिति भावः। १२९. बालस्य, विस्मरणशीलः प्रायो बाल एव भवति, अत उक्तं वत्सस्येति। १३०. इन्द्रियजन्यज्ञानस्य। १३१. इन्द्रियजज्ञानस्य। १३२. यथेष्टम्। १३३. अस्माकम्–जैनानाम्। १३४. "अक्षमक्षं प्रतीत्य यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं" इति, "अक्षमक्षं प्रति वर्त्तत इति प्रत्यक्षम्" इति वा प्रत्यक्षलक्षणनिरसनेन। १३५. व्यावृत्तं रहितमति यावत्। "अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षम्"–तत्त्वार्थश्लो. पृ. १८३। १३६. निरस्तम्। १३७. यदाहाऽकलङ्कदेवः–"इतरस्य (अविशदनिर्भासिनो ज्ञानस्य) परोक्षता"–लघी. स्वो. वि. का ३।

१*. आ प्रतौ 'किमनुपपन्नम्' इति पाठो नास्ति।

२०. [१३८]स्यादेतत् अतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीत्यतिसाहसम्; [१३९]असम्भावितत्वात्। यद्यसम्भावितमपि कल्प्येत, गगनकुसुमादिकमपि कल्प्यं स्यात्; न[१*] स्यात्; गगन- कुसुमादे[२*]रप्रसिद्धत्वात्, [१४०]अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षस्य तु प्रमाणसिद्धत्वात्। तथा हि-केवलज्ञानं तावत्किञ्ज्ञानां कपिलादीनामसम्भवदप्यर्हतः सम्भवत्येव। सर्वज्ञो हि स भगवान्।

---

२०. शंका—''अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है'' यह कहना बड़े साहस की बात है; क्योंकि वह असम्भव है। यदि असम्भव की भी कल्पना करें तो आकाश के फूल आदि की भी कल्पना होनी चाहिए?

समाधान—नहीं; आकाश के फूल आदि अप्रसिद्ध हैं, परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। वह इस प्रकार से है–'केवलज्ञान' जो कि अतीन्द्रिय है, अल्पज्ञानी कपिल आदि के असम्भव होने पर भी अरहन्त के अवश्य सम्भव है; क्योंकि अरहन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं।

---

१३८. अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षाभावमाशङ्कते स्यादेतदिति। १३९. लोके खलु इन्द्रियैरुत्पन्नमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते प्रसिद्धं च, नत्विन्द्रियनिरपेक्षम्, तदन्तरेण तदुत्पत्तेरसम्भवादिति भावः।

१४०. इन्द्रियनिरपेक्षस्यापि प्रत्यक्षज्ञानस्योत्पत्तेः सम्भवात्। न हि सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थविषयकं ज्ञानमिन्द्रियैः सम्भवति, तेषां सन्निहितदेशविषयकत्वात्सम्बद्ध-वर्तमानाग्राहकत्वाच्च। ''सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'' (मी. श्लो. सू. ४ श्लो. ८४) इति भावत्कवचनात्। न च तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमेव नास्ति, चोदनाप्रभवत्वात्। ''चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान्'' (शाबरभा.१-१-२) इति वाच्यम्, तज्ज्ञानस्यावैशद्येन परोक्षत्वात्। न हि शब्दप्रभवं ज्ञानं विशदं साक्षाद्रूपं च। प्रत्यक्षज्ञानं तु विशदं साक्षाद्रूपं च। अत एव तयोः साक्षात्वेनासाक्षात्वेन भेदः। तथा चोक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः– ''स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च...'' आप्तमी.१०५। सम्भवति च सूक्ष्मादीनां साक्षाद्रूपं ज्ञानम्। साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति (केवलाख्येन प्रत्यक्षेण केवली), नान्यतः (नागमात्) इति'' (अष्टश. का.१०५) इति वचनात्। अतोऽतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीति युज्यते।

१*. आ प्रतौ 'इति चेन्न' इति पाठः। २*. म मु प्रत्योः 'गगनकुसुमादि' पाठः।

(प्रासङ्गिकी सर्वज्ञसिद्धिः)

२१. [१४१]ननु सर्वज्ञत्वमेवाप्रसिद्धं किमुच्यते[१४२] सर्वज्ञोऽर्हन्निति, क्वचिदप्यप्रसिद्धस्य[१४३] विषयविशेषे[१४४] व्यवस्थापयितुमशक्तेरिति चेत्; न; सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्, इत्यनुमानात्सर्वज्ञत्वसिद्धेः। तदुक्तं [१४५]स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसा-प्रस्तावे[१४६]—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ [का. ५] इति[१*]।

(प्रसंगवश शंका—समाधान पूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि)

२१. शंका—सर्वज्ञता ही जब अप्रसिद्ध है तब आप यह कैसे कहते हैं कि ''अर्हन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं''? क्योंकि जो सामान्यतया कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है उसका किसी खास जगह में व्यवस्थापन नहीं हो सकता है?

समाधान—नहीं; सर्वज्ञता अनुमान से सिद्ध है। वह अनुमान इस प्रकार है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि अनुमान से जाने जाते हैं। जैसे अग्नि आदि पदार्थ। स्वामी समन्तभद्र ने भी महाभाष्य* के प्रारम्भ में आप्तमीमांसा प्रकरण में कहा है—

''सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जैसे अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ भले प्रकार सिद्ध होता है।''

---

१४१. सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकश्चार्वाकश्चात्र शङ्कते नन्विति। १४२. भवता जैनेन। १४३. कपिलादीनां मध्ये कस्मिंश्चिदपि अप्रतीतस्य सर्वज्ञत्वस्य। १४४. व्यक्तिविशेषे अर्हति। १४५. समन्तभद्राचार्यैः। १४६. देवागमाभिधाप्त–मीमांसाप्रकरणे।

१*. द म मु प्रतिषु 'इति' पाठो नास्ति।

*** महाभाष्य से सम्भवतः ग्रन्थकार का आशय गन्धहस्तिमहाभाष्य से जान पड़ता है, क्योंकि अनुश्रुति ऐसी है कि स्वामी समन्तभद्र ने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' नाम की कोई बृहद् टीका लिखी है और आप्तमीमांसा जिसका आदिम प्रकरण है। पर उसके अस्तित्व में विद्वानों का मतभेद है। इसका कुछ विचार प्रस्तावना में किया है। पाठक वहाँ देखें।**

२२. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः, [१४७]अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा रामादयः, दूरा[१*]देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः। एते स्वभाव-कालदेशविप्रकृष्टाः पदार्था धर्मित्वेन विवक्षिताः। तेषां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यम्। [१४८]इह प्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्, विषयिधर्मस्य[१४९] विषयेऽप्युपचारोपपत्तेः। अनुमेयत्वादिति हेतुः। अग्न्यादिर्दृष्टान्तः। अग्न्यादावनुमेयत्वं कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन सहोपलब्धं परमाण्वादावपि

---

२२. सूक्ष्म पदार्थ वे हैं जो स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं–दूर हैं, जैसे परमाणु आदि। अन्तरित वे हैं जो काल से विप्रकृष्ट हैं, जैसे राम आदि। दूर वे हैं जो देश से विप्रकृष्ट हैं, जैसे मेरु आदि। ये ''स्वभाव, काल और देश से विप्रकृष्ट पदार्थ'' यहाँ धर्मी (पक्ष) हैं। ''किसी के प्रत्यक्ष हैं'' यह साध्य है। यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ ''प्रत्यक्षज्ञान के विषय'' यह विवक्षित है, क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में भी उपचार होता है। ''अनुमान से जाने जाते हैं'' यह हेतु है। ''अग्नि आदि'' दृष्टान्त है। ''अग्नि आदि'' दृष्टान्त में ''अनुमान से जाने जाते हैं'' यह हेतु ''किसी के प्रत्यक्ष हैं'' इसे साध्य के साथ पाया जाता है। अतः वह परमाणु वगैरह सूक्ष्मादि पदार्थों में भी किसी की प्रत्यक्षता को अवश्य

---

१४७. व्यवहिताः कालापेक्षयेत्यर्थः। १४८. अत्रानुमाने। १४९. ज्ञानधर्मस्य प्रतिभासस्य, अयमाशयः–''सूक्ष्मादयाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः'' इत्यत्र सूक्ष्मादीनां यत्प्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्धि प्रत्यक्षज्ञानवृत्तिर्धर्मो न तु सूक्ष्मादिपदार्थवृत्तिस्तत्कथं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणां सङ्गतम्? अस्येदं समाधानम्–प्रत्यक्षत्वमत्र प्रत्यक्षज्ञान-विषयत्वं विवक्षितम्, तथा च सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वेनोपचारतस्तेषां प्रत्यक्षत्वमुक्तं ''घटः प्रतिभासते, पटः प्रतिभासते, घटज्ञानम्, पटज्ञानम्'' इति भवति हि व्यवहारो न च घटस्य प्रतिभासः पटस्य वा प्रतिभासः, तस्य ज्ञानधर्मत्वात्। एवं न घटस्य ज्ञानं पटस्य वा ज्ञानम्, तस्यात्मनिष्ठत्वेन घटपटादिनिष्ठत्वासम्भवात्, आत्मनो हि तद् गुणस्तथापि तथा व्यवहारो भवत्येव। एवं प्रकृतेऽपि बोध्यम्।

१*. म मु प्रत्योः 'दूरार्थाः' पाठः।

कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साधयत्येव। न चाण्वादावनुमेयत्वमसिद्धम्[1*], [150]सर्वेषामप्यनुमेयमात्रे[151] विवादाभावात्।

२३. [152]अस्त्वेवं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वसिद्धिद्वारेण कस्यचिद-शेषविषयं प्रत्यक्षज्ञानम्। तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्? इत्थम् यदि [153]तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं[154] स्यात् अशेषविषयं न स्यात्, इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः। सूक्ष्मादीनां च [155]तदयोग्यत्वादिति। तस्मात्सिद्धं

सिद्ध करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अग्नि आदि अनुमान से जाने जाते हैं। अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि हम लोगों के द्वारा अनुमान से जाने जाते हैं अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वहीं सर्वज्ञ है। परमाणु आदि में ''अनुमान से जाने जाते हैं'' यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि उनको अनुमान से जानने में किसी को विवाद नहीं है अर्थात् सभी मत वाले इन पदार्थों को अनुमेय मानते हैं।

२३. शंका—सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के द्वारा किसी के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान हो, यह हम मान सकते हैं। परन्तु वह अतीन्द्रिय है–इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, यह कैसे?

समाधान—इस प्रकार से यदि वह ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला नहीं हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय* (सन्निहित और वर्तमान अर्थ) में ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। अतः वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अनैन्द्रियिक ही है–इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित

---

१५०. वादिप्रतिवादिनाम्। १५१. अण्वादेरनुमानविषयतायाम्। १५२. पुनरपि अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते अस्त्वेवमिति। १५३. सर्वज्ञज्ञानम्। १५४. इन्द्रियजम्। १५५. इन्द्रियायोग्यविषयत्वात्, न हीन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलम्, सम्बद्धवर्तमानार्थ विषयत्वात्। किञ्च, इन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थसाक्षात्करणे बाधकान्येव

१*. म मु प्रत्योः 'प्रसिद्धं' पाठः।

*** ''सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना''—मी.श्लो.सूत्र ४ श्लोक ८४।**

तदशेषविषयं ज्ञानमनैन्द्रियकमेव[१५६] इति[१*]। अस्मिंश्चार्थे[१५७] सर्वेषां सर्वज्ञवादिनां न विवादः। यद् बाह्या[१५८] अप्याहुः[१५९]–''[१६०]अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्।'' [ ] इति।

अतीन्द्रिय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सर्वज्ञ के मानने में किसी भी सर्वज्ञवादी को विवाद नहीं है। जैसा कि दूसरे भी कहते हैं– ''पुण्य–पापादिक किसी के प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे प्रमेय हैं।''

आवरणनिबन्धनत्वात्। तदुक्तम्–''भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कात्स्र्न्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः। न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः, कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः'' अष्टस. पृ. ४५। श्रीमाणिक्यनन्द्यप्याह–''सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात्'' परीक्षा. २–१३। अकलंकदेवैरप्युक्तम्–

कथंचित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता।संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथाऽऽवरणात्यये?।सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति॥
न्यायवि. ३६१, ३६२

अथ ''न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते; इत्यपि न शंका श्रेयसी; तस्य भवभृतां प्रभुत्वात्। न हि भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्त्वात्''? (अष्टस. पृ. ४५)। कथं संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतोऽसौ? इत्यत आह–

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः॥ स्वयंभूस्तोत्र का. ७५।

ततस्तदशेषविषयं ज्ञानमतीन्द्रियमेव, अशेषविषयत्वान्यथानुपपत्तेरिति ध्येयम्। प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकं ''प्रत्यक्षत्वात्'' इति वत् ''विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्य हेतुं ब्रुवतां दोषासम्भवात्'' (प्रमाण प. पृ. ६७)। १५६. इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्तम्–अतीन्द्रियमित्यर्थः। १५७. विषये, अनुमेयत्वादिहेतुना सूक्ष्मादीनां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधने इति यावत्। १५८. जैनेतरा नैयायिकादयः। १५९. यथा हि–''स्वर्गादयः कस्यचित्–प्रत्यक्षा...वस्तुत्वादागमविषयत्वत्वात् यद्वस्तु यच्च कथ्यते तत्कस्यचित्प्रत्यक्षं भवति, यथा घटादि''–न्यायवा. १–१–७, ''धर्मः कस्यचित्प्रत्यक्षः प्रमेयत्वात् वासोवदिति, यस्य प्रत्यक्षः स योगी''–प्रमाणसं. पृ. ९। १६०. अदृष्टशब्देन पुण्यपापद्वयमुच्यते, अदृष्टमादिर्येषां ते अदृष्टादयः पुण्यपापादयोऽतीन्द्रियार्थाः।

१*. म मु 'अतीन्द्रियकमेव' इति पाठः।

(सामान्यतः प्रसिद्धस्य सार्वज्ञस्यार्हति प्रसाधनम्)

२४. नन्वस्त्वेवमशेषविषयसाक्षात्कारित्वलक्षणमतीन्द्रिय-प्रत्यक्षज्ञानम्, तच्चार्हत इति कथम्? कस्यचिदित सर्वनाम्नः सामान्य-ज्ञापकत्वादिति चेत्; सत्यम्; [१६१]प्रकृतानुमानात्सामान्यतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः। अर्हत[१६२] एतदिति[१*] पुनरनुमानान्तरात्[१६३]। [१६४]तथा हि अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति, निर्दोषत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोषः, यथा रथ्यापुरुष इति [१६५]केवलव्यतिरेकि-लिङ्गकमनुमानम्।

(सामान्य से सर्वज्ञ को सिद्ध करके अर्हन्त के सर्वज्ञता की सिद्धि)

२४. शंका—सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान सामान्यतया सिद्ध हो; परन्तु वह अरहन्त के हैं यह कैसे? क्योंकि 'किसी के' यह सर्वनाम शब्द है और सर्वनाम शब्द सामान्य का ज्ञापक होता है?

समाधान—सत्य है। इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि की है। ''अरहन्त सर्वज्ञ हैं'' यह हम अन्य अनुमान से सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है–''अरहन्त सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं है, जैसे रथ्यापुरुष (पागल)।'' यह केवलव्यतिरेकी हेतुजन्य अनुमान है।

---

१६१. ''सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्'' इत्यस्मादनुमानात्। १६२. सर्वज्ञत्वम्। १६३. वक्ष्यमाणादन्यस्मादनुमानात्। १६४. अनुमानान्तरमेव प्रदर्शयति तथा हीति। १६५. व्यतिरेक व्याप्तिकाल्लिङ्गात् यदनुमानं क्रियते तद्व्यतिरेकिलिङ्ग-कानुमानमुच्यते। साध्याभावे साधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेक व्याप्तिः। तथा च प्रकृतेऽनुमाने सर्वज्ञत्वरूपसाध्याभावे निर्दोषत्वरूपसाधनाभावः प्रदर्शितः। तत इदं व्यतिरेकि लिङ्गकानुमानम्। नन्वाशुबोधजनकमन्वयिलिङ्गकमेवानुमानं वाच्यम्, न केवलव्यतिरेकि लिङ्गकम्, तस्य वक्रत्वेनाशु बोधजनकत्वाभावात् ''ऋजुमार्गेण सिद्ध्यन्तं को हि वक्रेण साधयेत्'' (वैशे. सूत्रोप. २-१-१) इति वचनात्। किञ्च, व्यतिरेकिणि लिङ्गिनि बहूनि दूषणानि सम्भवन्ति। तथा हि–

''साध्याप्रसिद्धिर्वैषम्यं व्यर्थतोपनयस्य च। अन्वयेनैव सिद्धिश्च व्यतिरेकिणि दूषणम्॥''

–वैशे. सूत्रोप. २-१-१ इति।

१*. 'एव तदिति' इति द प्रतिपाठः।

२५. आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्। [१६६]तत्खलु सर्वज्ञत्वमन्तरेण[१*] नोपपद्यते, किञ्चिज्ज्ञस्यावरणादिदोष-रहितत्वविरोधात्। ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमानं सार्वज्ञं साधयत्येव। निर्दोषत्वं पुनरर्हत्परमेष्ठिनि युक्तिशास्त्राविरोधि-वाक्त्वात्सिद्ध्यति। युक्तिशास्त्रा-विरोधिवाक्त्वं च [१६७]तदभिमतस्य मुक्ति-संसारतत्कारण- [त]त्त्वस्यानेक धर्मात्मक चेतनाचेतन[२*] तत्त्वस्य च[३*] [१६८]प्रमाणा-बाधितत्वात्सुव्यवस्थितमेव।

---

२५. आवरण और रागादि ये दोष हैं और इनसे रहित का नाम निर्दोषता है। वह निर्दोषता सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकती है, क्योंकि जो किञ्चिज्ज्ञ है–अल्पज्ञानी है उसके आवरणादि दोषों का अभाव नहीं है। अत: अरहन्त में रहने वाली यह निर्दोषता उनमें सर्वज्ञता को अवश्य सिद्ध करती है और यह निर्दोषता अरहन्त परमेष्ठी में उनके युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन होने से सिद्ध होती है। युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन भी उनके द्वारा माने गये मुक्ति, संसार और मुक्ति तथा संसार के कारण तत्त्व और अनेक धर्मयुक्त चेतन तथा अचेतन तत्त्व के प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित न होने से अच्छी तरह सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि अरहन्त के द्वारा उपदेशित तत्त्वों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है। अत: वे यथार्थवक्ता हैं और यथार्थवक्ता होने से निर्दोष हैं तथा निर्दोष होने से सर्वज्ञ हैं।

ततो न तल्लिङ्गकमनुमानं युक्तमिति चेत्; न; व्याप्तिमद्व्यतिरेकिणोऽपि लिङ्गस्यान्वयिवदाशु-बोधजनक त्वात्। व्याप्तिशून्यस्य तूभयस्याऽप्यगमकत्वात्। अत एवान्तर्व्याप्त्यैव सर्वत्र साध्यसिद्धेरभ्युपगमात्स्याद्वादिभि:। यदुक्तम्–''बहिर्व्याप्ति-मन्तरेणान्तर्व्याप्त्या सिद्धम्। यत इयमेवान्यत्रापि प्रधाना''–आप्तमी. वृ. ६। सा च प्रकृते केवलव्यतिरेकि लिङ्गकानुमानेऽपि विद्यत एव। ततो नोक्तदोष:।

१६६. निर्दोषत्वम्। १६७. अर्हदभिमतस्य। १६८. प्रमाणेन बाधितुमशक्यत्वात्। तथा हि–तत्र तावद्भगवतोऽभिमतं मोक्षतत्त्वं न प्रत्यक्षेण बाध्यते, तस्य तदविषयत्वेन

१*. आ म मु 'सर्वज्ञमन्तरेण' पाठ:। २*. आ म मु प्रतिषु 'चेतनाचेतनात्मक' पाठ:। ३*. आ म प मु प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति।

२६. [१६९]एवमपि सर्वज्ञत्वमर्हत एवेति कथम्? कपिलादीनामपि सम्भाव्यमानत्वादिति चेत्; उच्यते—कपिलादयो न सर्वज्ञाः सदोषत्वात्। सदोषत्वं तु तेषां [१७०]न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। [१७१]तच्च [१७२]तदभिमत-मुक्त्यादितत्त्वस्य सर्वथैकान्तस्य[१७३] च [१७४]प्रमाणबाधितत्वात्।

---

२६. शंका—इस प्रकार अरहन्त के सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर भी वह अरहन्त के ही है, यह कैसे? क्योंकि कपिल आदि के भी वह सम्भव है?

समाधान—कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि वे सदोष हैं और सदोष इसलिए हैं कि वे युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले हैं। युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले भी इस कारण हैं कि उनके द्वारा माने गये मुक्ति आदिक तत्त्व और सर्वथा एकान्त तत्त्व प्रमाण से

तद्बाधकत्वायोगात्। नाऽप्यनुमानेन ''नास्ति कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाण-पञ्चकाविषयत्वात्, कूर्मरोमादिवत्'' इत्यादिरूपेण, तस्य मिथ्यानुमानत्वात्, मोक्षस्यानु-मानागमाभ्यामस्तित्वव्यस्थापनात्। तद्यथा—''क्वचिदात्मनि दोषावरणयोर्निश्शेषा हानिरस्ति, अतिशायनात् क्वचित् कनकपाषाणादौ किट्टिमादिमलक्षयवत्'' इत्यनुमानात्सकलकर्मक्षयस्वभावस्य मोक्षस्य प्रसिद्धेः। ''बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'' इत्यागमाच्च तत्सिद्धेः। तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षाप्रतीतेस्तेन तद्बाधनायोगात्। नाऽप्यनुमानेन, तस्य मोक्षकारणस्यैव प्रसाधकत्वात्। सकारणको मोक्षः प्रतिनियतकालादित्वात् पटादिवदिति। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र तत्सद्भावप्रसङ्गः स्यात्, परापेक्षारहितत्त्वात्। आगमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं न बाध्यते, प्रत्युत तस्य तत्साधकत्वात्। ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' (तत्त्वार्थसू.१-१) इति वचनात्। एवं संसारतत्त्वं संसारकारणतत्त्व-मनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वं च प्रमाणेनाबाध्यमानं बोद्धव्यमिति संक्षेपः। विस्तरतस्त्वष्ट-सहस्र्यां (देवागमालङ्कारे) विद्यानन्दस्वामिभिर्निरूपितम्। १६९. निर्दोषत्वेन हेतुना अर्हतः सर्वज्ञत्वसिद्धावपि। १७०. न्यायोऽनुमानम्, आगमः शास्त्रम्, ताभ्यां विरुद्धभाषिणो विपरीतवादिनः, तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात्। ''ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः, यथा दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये कपिलादयः, अष्टस. पृ.६६। १७१. न्यायागमविरुद्धभाषित्वं च। १७२. कपिलाद्यभिमतमुक्तिसंसारतत्कारणतत्त्वस्य। १७३. नित्याद्यैकान्तस्य। १७४. प्रमाणेन बाध्यत्वात्, तद्यथा—कपिलस्य तावत् ''तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'' (योगसू. १-३) स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतम्, तत्प्रमाणेन बाध्यते;

[175]**तदुक्तं** [176]**स्वामिभिरेव–**

[177]**स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्।**
अविरोधो [178]**यदिष्टं ते** [179]**प्रसिद्धेन न** [180]**बाध्यते॥**

बाधित हैं। अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं। अरहन्त ही सर्वज्ञ हैं। स्वामी समन्तभद्र ने भी कहा है–

अर्थ–''हे अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं। निर्दोष इसलिए हैं कि युक्ति और आगम से आपके वचन अविरुद्ध हैं, युक्ति तथा आगम से उनमें कोई विरोध नहीं आता और वचनों में विरोध इस कारण नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाण से बाधित नहीं है।

चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादौ स्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रसाधनात्। न हि अनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। अथ सर्वज्ञत्वादि प्रधानस्य स्वरूपम्, नात्मन इति चेन्न; तस्याचेतनत्वान्न सर्वज्ञत्वादि तत्स्वरूपम्, आकाशवत्। ज्ञानादयश्च नाचेतनधर्माः, स्वसंवेदनस्वरूपत्वादनुभववदिति न चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक्षः, अपि त्वनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः। एतेन बुद्ध्यादिगुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिकाः, अनन्तसुखमेव मुक्तस्य न ज्ञानादिकमित्यानन्दैक स्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति वेदान्तिनः, निरास्रवचित्तसन्तत्युत्पादो मोक्ष इति बौद्धाः, तेषां सर्वेषामपि मोक्षतत्त्वं प्रमाणेन बाधितं ज्ञेयम्; अनन्तज्ञानादिस्वरूपोपलब्धेरेव मोक्षत्वसिद्धेः। एवमेव कपिलादिभिर्भाषितं मोक्षकारणतत्त्वं संसारतत्त्वं संसारकारणतत्त्वं च न्यायागमविरुद्धं बोद्धव्यम्। इत्यष्टसहस्र्याः संक्षेपो विस्तरतस्तु तत्रैव दृष्टव्यः।

१७५. प्रकरणसारः स्वोक्तमेव समन्तभद्राचार्यस्य कथनेन सह सङ्गमयति तदुक्तमिति। १७६. समन्तभद्राचार्यैः। १७७. ''प्रमाणबलात् सामान्यतो यः सर्वज्ञो वीतरागश्च सिद्धः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्, यो यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु, तस्मान्निर्दोष इति'' अष्टस. पृ. ६२। अविरोधश्च यस्मादिष्टं मोक्षादिकं तत्त्वं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि– ''यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् यथा रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे भिषग्वरः, न बाध्यते च भगवतोऽभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम्, तस्मात्तत्र त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् इति विषयस्य (भगवतो

मुक्त्यादितत्त्वस्य) युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वसाधनं (समर्थितं प्रतिपत्तव्यम्)''–अष्टस. पृ.७२।

ननु इष्टं इच्छाविषयीकृतमुच्यते, इच्छा च वीतमोहस्य भगवतः कथं सम्भवति? तथा च नासौ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ; तन्न; इष्टं मतं शासनमित्युपचर्यते, तथा च उपचारेण सयोगिध्यानवत्तदभ्युपगमे दोषाभावात्। अनुपचारतोऽपि भगवतोऽप्रमत्तेच्छास्वीकारे न दोषः। तदुक्तम्–

अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात्। इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम्?॥
–न्यायवि. का. ३५६

वस्तुतस्तु भगवतो वीतमोहत्वान्मोहपरिणामरूपाया इच्छायास्तत्रासम्भवात्। तथा हि–''नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं प्रणष्टमोहत्वात्। यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः, प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्।'' अष्टस. पृ.७२। न चेच्छामन्तरेण वाक् प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति वाच्यम्, नियमाभावात्। ''नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादिहेतुरिच्छास्ति'' अष्टस. पृ. ७३, ततो न वाक् प्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वनियमः, तस्य सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्, अपितु ''चैतन्य–करणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्'' (अष्टश., अष्टस. पृ. ७३) वाक् प्रवृत्तौ, संवित्करणपाटवयोः सत्त्वे एव वाक् प्रवृत्तेः सत्त्वं तदभावे चासत्त्वम्। ''तस्माच्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात्''। किञ्च, इच्छा वाक् प्रवृत्तिहेतुर्न ''तत्प्रकर्षाप्रकर्षानुविधानाभावाद् बुद्ध्यादिवत्। न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते तथा दोषजातेः (इच्छायाः) अपि, तत्प्रकर्षे वाचोऽपकर्षात् तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्, यतो वक्तुर्दोषजातिः (इच्छा) अनुमीयेत''। ×× ''विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा। तदुक्तम्–

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥ –अष्टस. पृ. ७३।

अन्यच्चोक्तम्–

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥
प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः। विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते॥
–न्यायवि. ३५४–५५।

१७८. ततः साधूक्तं तत्रेष्टं शासनं मतमिति। १७९. प्रमाणेन अनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण वा। १८०. अनेकान्तात्मकं तवेष्टं तत्त्वं नानित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बाध्यते तस्यासिद्धत्वात्, प्रमाणतः सिद्धमेव हि कस्यचिद् बाधकं भवति। न चानित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वं प्रमाणतः सिद्धम् ततो न तत्तवानेकान्तशासनस्य बाधकमिति भावः।

[181]**त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।**
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥

(आप्तमी. का.६-७)

२७. इति कारिकाद्वयेन एतयोरेव ''परात्माभिमततत्त्वबाधाबाधयोः''[182] समर्थनं [183]प्रस्तुत्य ''भावैकान्ते''[184] (का.९) इत्युपक्रम्य

अर्थ—''किन्तु तुम्हारे अनेकान्त मतरूप अमृत का पान नहीं करने वाले तथा सर्वथा एकान्त तत्त्व का कथन करने वाले और अपने को आप्त समझने के अभिमान से दग्ध हुए एकान्तवादियों का इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्ष से बाधित है।''

२७. इस तरह इन दो कारिकाओं के द्वारा पराभिमत तत्त्व में बाधा और स्वाभिमत तत्त्व में अबाधा इन्हीं दो के समर्थन को लेकर 'भावैकान्ते' इस कारिका के द्वारा प्रारम्भ करके ''स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः'' इस कारिका तक आप्तमीमांसा की रचना की गई है अर्थात् अपने द्वारा माने तत्त्व में कैसे बाधा नहीं है? और एकान्तवादियों के द्वारा माने गये तत्त्व में किस प्रकार बाधा है? इन दोनों का विस्तृत विवेचन स्वामी समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में 'भावैकान्ते' इस कारिका ९ से लेकर 'स्यात्कारः

---

१८१. त्वन्मतं त्वदीयमनेकान्तात्मकं तत्त्वं तज्ज्ञानं च, तदेवामृतं ततो बाह्या बहिष्कृतास्तेषाम्, सर्वथैकान्तवादिनां सर्वप्रकारैर्नित्यत्वानित्यत्वाद्येकधर्मं स्वीकुर्वताम्, ''वयमाप्ताः'' इत्यभिमानेन दग्धानां भस्मीभूतानां कपिलादीनां स्वेष्टं सदाद्येकान्ततत्त्वं प्रत्यक्षेणैव बाध्यते, अतः किमनुमानादिविहित बाधाप्रदर्शनेन? सकलप्रमाणज्येष्ठत्वात्प्रत्यक्षस्य।''न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टं नाम''। ततः प्रत्यक्षबाधाप्रदर्शनेनैवानुमानादिबाधा प्रदर्शिता भवतीत्यवसेयम्।

१८२. पराभिमते कपिलाद्यभिमते तत्त्वे सर्वथैकान्तरूपे बाधा, आत्माभिमते जैनाभिमते तत्त्वेऽनेकान्तरूपेऽबाधा बाधाभावस्तयोः। १८३. प्रस्तावभूतं कृत्वा।

१८४. भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्॥९॥

"स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः"[१८५] (का.११२) इत्यन्त आप्तमीमांसासन्दर्भ इति कृतं[१८६] विस्तरेण।

२८. तदेवमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत [१*]एवेति सिद्धम्। [१८७]तद्वचनप्रमाण्याच्चावधिमनःपर्यययोर-तीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रिय-प्रत्यक्षमनवद्यम्। ततः स्थितं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति द्विविधं प्रत्यक्षमिति।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचितायां न्याय-दीपिकायां प्रत्यक्षप्रकाशो द्वितीयः॥२॥

सत्यलाञ्छनः' इस कारिका ११२ तक किया है। अतः यहाँ और अधिक विस्तार नहीं किया जाता है।

२८. इस प्रकार अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्त के ही है, यह सिद्ध हो गया और उनके वचनों के प्रमाण होने से उनके द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय अवधि और मनःपर्ययज्ञान भी सिद्ध हो गये। इस तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष निर्दोष (निर्बाध) है—उसके मानने में कोई दोष या बाधा नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद सिद्ध हुए।

इस प्रकार श्रीजैनाचार्य धर्मभूषणयति विरचित न्यायदीपिका में प्रत्यक्षप्रमाण का प्रकाश करने वाला द्वितीय प्रकाश पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

---

१८५. सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्था मृषा हि सा।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः॥११२॥

इति सम्पूर्णे कारिके। १८६. अलम्। १८७ "वक्तुः प्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यम्" इति न्यायादर्हतः प्रामाण्यसिद्धेः तदुपदिष्टावतीन्द्रियाववधिमनःपर्ययावपि सिद्धाविति प्रतिपत्तव्यम्।

१*. द प प्रत्योः 'एव' पाठो नास्ति।

३. परोक्षप्रकाशः

[परोक्षप्रमाणस्य लक्षणम्]

१. [1]अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणं प्रक्रम्यते। अविशदप्रतिभासं परोक्षम्। अत्र परोक्षं लक्ष्यम्, अविशदप्रतिभासत्वं लक्षणम्। यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षप्रमाणमित्यर्थः। वैशद्यमुक्तलक्षणम्[2]। [3]ततोऽ[4]न्यदवैशद्यमस्पष्टत्वम्। [5]तदप्यनुभवसिद्धमेव।

२. सामान्यमात्रविषयत्त्वं परोक्षप्रमाणलक्षणमिति केचित्[6], तन्न, प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्यविशेषात्मक वस्तुविषयत्वेन तस्य[7] लक्षणस्याऽसम्भवित्वात्[8]। [9]तथा हि—घटादिविषयेषु प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं

[परोक्ष प्रमाण का लक्षण]

१. दूसरे प्रकाश में प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण करके इस प्रकाश में परोक्ष प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ किया जाता है।

अविशद प्रतिभास को परोक्ष कहते हैं। यहाँ 'परोक्ष' लक्ष्य है, 'अविशदप्रतिभासत्व' लक्षण है। तात्पर्य यह कि जिस ज्ञान का प्रतिभास विशद–स्पष्ट नहीं है वह परोक्ष प्रमाण है। विशदता का लक्षण पहले बतला आये हैं, उससे भिन्न अविशदता है। उसी को अस्पष्टता कहते हैं। यह अविशदता भी विशदता की तरह अनुभव से जानी जाती है।

२. "जो ज्ञान केवल सामान्य को विषय करे वह परोक्ष है" ऐसा कोई (बौद्ध) परोक्ष का लक्षण करते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष भी सामान्य और विशेषरूप वस्तु को विषय करता है और इसलिए वह लक्षण असम्भव दोष युक्त है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष घटादि पदार्थों में प्रवृत्त होकर उनके घटत्वादिक सामान्याकार को और

---

१. द्वितीयप्रकाशे प्रत्यक्षप्रमाणं निरूप्येदानीमिह परोक्षप्रमाणस्य निरूपणं प्रारभते अथेति। २. स्पष्टत्वं वैशद्यं तदेव नैर्मल्यमित्युक्तं पूर्वं वैशद्यलक्षणम्। ३. वैशद्यात्। ४. विपरीतम्। ५. अवैशद्यमपि, यथा नैर्मल्यं स्पष्टत्वमनुभवसिद्धं तथाऽस्पष्टत्वमनैर्मल्य–मप्यनुभवसिद्धमेवेति भावः। ६. बौद्धाः। ७. सामान्यमात्रविषयत्वमिति परोक्षलक्षणस्य। ८. असम्भवदोषदुष्टत्वात्, तथा च तस्य लक्षणाभासत्वमिति भावः। ९. परोक्षस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वमेव, न सामान्यमात्रविषयत्वमिति प्रदर्शयति तथा हीति।

प्रमाणं तद्गतं[१०] सामान्याकारं[११] घटत्वादिकं [१२]व्यावृत्ताकारं व्यक्तिरूपं[१*] च [१३]युगपदेव प्रकाशयदुपलब्धं[१४], तथा परोक्षमपीति[१५] न सामान्यमात्र-विषयत्वं परोक्षलक्षणम्, अपि त्ववैशद्यमेव[२*]। सामान्यविशेषयोरेकतर-विषयत्वे तु प्रमाणत्वस्यैवाऽ[१६]नुपपत्तिः[३*], सर्वप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मक-वस्तु-विषयत्वाभ्यनुज्ञानात्[१७]। तदुक्तम्-''सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः''—(परीक्षा.४-१) इति। तस्मात्सुष्ठूक्तं ''अविशदावभासनं परोक्षम्'' इति[१८]।

घट व्यक्तिरूप व्यवच्छेदात्मक विशेषाकार को एक साथ ही विषय करता हुआ उपलब्ध होता है उसी प्रकार परोक्ष भी सामान्य और विशेष दोनों आकारों को विषय करता हुआ उपलब्ध होता है। इस कारण ''केवल सामान्य को विषय करना'' परोक्ष का लक्षण नहीं है, अपितु अविशदता ही परोक्ष का लक्षण है। सामान्य और विशेष में से किसी एक को विषय करने वाला मानने पर तो प्रमाणता ही नहीं बन सकती है, क्योंकि सभी प्रमाण सामान्य और विशेष दोनों स्वरूप वस्तु को विषय करने वाले माने गये हैं। कहा भी है–''सामान्य और विशेषरूप वस्तु प्रमाण का विषय है।'' अतः अविशद (अस्पष्ट) प्रतिभास को जो परोक्ष का लक्षण कहा है, वह बिलकुल ठीक है।

---

१०. घटादिनिष्ठम्। ११. अनुगताकारम्। १२. अघटादिभ्यो व्यवच्छेदात्मकम्। १३. सहैव। १४. अनुवृत्ताकारव्यावृत्ताकारोभयं विषयीकुर्वत् दृष्टम्। १५. इति शब्दोऽत्र हेत्वर्थे वर्त्तते, तथा च इति हेतोरित्यस्मात् कारणादित्यर्थः। १६. असम्भवः। १७. अभ्युपगमात्। १८. अत्रेदं बोध्यम्–''परोक्षमविशदज्ञानात्मकं परोक्षत्वात्, यन्नाविशद-ज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम्, यथाऽतीन्द्रियप्रत्यक्षम्, परोक्षं च विवादाध्यासितं ज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकम्''–प्रमाण प. पृ. ६९। ''कुतोऽस्य परोक्षत्वम्? परायत्तत्वात्.... पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यं निमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्म-क्षयोपशमापेक्षस्यात्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षमित्याख्यायते''–सर्वार्थ.१-११, न च परोक्षेण प्रमेयं न प्रमीयते परोक्षत्वादिति वाच्यम्, तस्यापि प्रत्यक्षस्येव सामान्य-

---

१*. 'च विशेषरूप' इति आ प्रतिपाठः।

२*. द प्रतौ 'एव' इति पाठो नास्ति। ३*. द प्रतौ 'त्तेः' इति पाठः।

[परोक्षप्रमाणं पञ्चधा विभज्य तस्य प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वप्रतिपादनम्]

३. [१९]तत् पञ्चविधम्–स्मृतिः प्रत्यभिज्ञानम् तर्कः अनुमानम् आगमश्चेति। पञ्चविधस्याऽप्यस्य[१*]परोक्षस्य [२०]प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वे-नैवोत्पत्तिः[२*]। तद्यथा–स्मरणस्य प्राक्तनानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभव-स्मरण-प्रत्यभिज्ञानापेक्षा, अनुमानस्य लिङ्गदर्शनाद्य[२१]पेक्षा, आगमस्य च शब्दश्रवण-सङ्केतग्रहणाद्यपेक्षा, प्रत्यक्षस्य[३*] तु न तथा [२२]स्वातन्त्र्येणैवोत्पत्तेः। स्मरणादीनां प्रत्ययान्तरापेक्षा तु [२३]तत्र तत्र निवेदयिष्यते।

[परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद और उनमें ज्ञानान्तर की सापेक्षता का कथन]

३. उस परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं–१. स्मृति, २. प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क, ४. अनुमान और ५. आगम। ये पाँचों ही परोक्ष प्रमाण ज्ञानान्तर की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। वह इस प्रकार–स्मरण में पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और अनुभव की, तर्क में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान में लिंगदर्शन, व्याप्ति स्मरण आदि की और आगम में शब्दश्रवण, संकेतग्रहण (इस शब्द का यह अर्थ है, इस प्रकार के संकेत के ग्रहण) आदि की अपेक्षा होती है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वतन्त्र रूप से–ज्ञानान्तर निरपेक्ष ही उत्पन्न होता है। स्मरण आदि की यह ज्ञानान्तरापेक्षा उनके अपने–अपने निरूपण के समय बतलायी जायेगी।

विशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात्। नाऽप्यस्याज्ञानरूपताऽप्रमाणता वा,‘‘तत्प्रमाणे’’ (तत्त्वार्थ सू. १-१०) इति वचनेन प्रत्यक्षपरोक्षयोर्द्वयोरपि प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तम्–

‘‘ज्ञानानुवर्त्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता। प्रमाणस्यानुवृत्तेर्न परोक्षस्याप्रमाणता॥’’

–तत्त्वार्थश्लो.१, ११, ६।

१९. परोक्षप्रमाणम्। २० ज्ञानान्तरापेक्षत्वेन। २१ आदिपदेन व्याप्तिग्रहणा-देर्परिग्रहः। २२ प्रत्ययान्तरनिरपेक्षत्वेनैव। २३ यथावसरम्।

१*. द प्रतौ ‘अस्य’ इति पाठो नास्ति। २*. द ‘त्तेः’ पाठः।
३*. ‘प्रत्यक्षं’ इति मुद्रितप्रतिषु पाठः।

[स्मृतेर्निरूपणम्]

४. तत्र च[१*] का नाम स्मृतिः? तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः, यथा स देवदत्त इति। अत्र हि प्रागनुभूत एव देवदत्तस्तत्तया[२४] प्रतीयते। तस्मादेषा प्रतीतिस्तत्तोल्लेखिन्यनुभूतविषया च, अननुभूते विषये तदनुत्पत्तेः। [२५]तन्मूलं चानुभवो धारणारूप एव[२६] अवग्रहाद्यनुभूतेऽपि धारणाया अभावे स्मृतिजननायोगात्। धारणा हि तथाऽऽत्मानं संस्करोति, यथाऽसावात्मा कालान्तरेऽपि तस्मिन् विषये ज्ञानमुत्पादयति। तदेतद्धारणा-विषये समुत्पन्नं तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मृतिरिति सिद्धम्।

[स्मृति का निरूपण]

४. स्मृति किसे कहते हैं? 'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाले और पहले अनुभव किये हुए पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे ''वह देवदत्त''। यहाँ पहले अनुभव किया हुआ ही देवदत्त 'वह' शब्द के द्वारा जाना जाता है। इसलिए यह ज्ञान 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला और अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाला है। जिसका अनुभव नहीं किया उसमें यह ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान का जनक अनुभव है और वह अनुभव धारणारूप ही कारण होता है; क्योंकि पदार्थ में अवग्रहादिक ज्ञान हो जाने पर भी धारणा के अभाव में स्मृति उत्पन्न नहीं होती। कारण, धारणा आत्मा में उस प्रकार का संस्कार पैदा करती है, जिससे वह कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देती है। इसलिए धारणा के विषय में उत्पन्न हुआ 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला यह ज्ञान स्मृति है, यह सिद्ध होता है।

---

२४ तदोर्भावस्तत्ता तया, 'तत्' शब्दोल्लेखेन। २५ स्मृतेः कारणम्। २६ एवकारेणावग्रहाद्यनुभवत्रयस्य व्यवच्छेदः, अवग्रहादयो ह्यदृढ़ात्मकाः। धारणा तु दृढ़ात्मिका, अतः सैव स्मृतेः कारणं नावग्रहादयः ''स्मृतिहेतुर्धारणा'' इति वचनादिति भावः।

१*. 'च' इति मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

५. नन्वेवं धारणागृहीत एव स्मरणस्योत्पत्तौ [२७]गृहीतग्राहित्वाद-प्रामाण्यं प्रसज्यत[२८] इति चेत् ; न[२९]; [३०]विषयविशेषसद्भावादीहादिवत्। यथा ह्यवग्रहादिगृहीतविषयाणामीहादीनां विषयविशेषसद्भावात्स्वविषय-समारोपव्यवच्छेदकत्वेन[३१] प्रामाण्यं तथा स्मरणस्यापि धारणागृहीतविषय-प्रवृत्तावपि प्रामाण्यमेव। धारणाया हीदन्ताऽवच्छिन्नो[३२] विषयः, स्मरणस्य तु तत्ताऽवच्छिन्नः[३३]। तथा च स्मरणं स्वविषयास्मरणादिसमारोप व्यवच्छेदकत्वात्प्रमाणमेव[३४]। तदुक्तं प्रमेयकमलमार्त्तण्डे—''विस्मरण-

---

५. शंका—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये विषय में ही स्मरण उत्पन्न होता है तो गृहीतग्राही होने से उसके अप्रमाणता का प्रसंग आता है?

समाधान—नहीं; ईहा आदिक की तरह स्मरण में भी विषयभेद मौजूद है। जिस प्रकार अवग्रहादिक के द्वारा ग्रहण किये हुए अर्थ को विषय करने वाले ईहादिक ज्ञानों में विषयभेद होने से अपने विषय-सम्बन्धी संशयादिरूप समारोप को दूर करने के कारण प्रमाणता है उसी प्रकार स्मरण में भी धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में प्रवृत्त होने पर भी प्रमाणता ही है। कारण, धारणा का विषय इदन्ता से युक्त अर्थात् 'यह' है–'यह' शब्द के प्रयोग पूर्वक उल्लिखित होता है और स्मरण का तत्ता से युक्त अर्थात् 'वह' है–'वह' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि धारणा का विषय तो वर्तमानकालीन है और स्मरण का विषय भूतकालीन है। अतः स्मरण अपने विषय में उत्पन्न हुए अस्मरण आदि समारोप को दूर करने के कारण प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी कहा है–''विस्मरण, संशय और विपर्ययरूप

---

२७ गृहीतस्यैव ग्रहणात्। २८ प्रसक्तं भवति। २९ समाधत्ते नेति। ३० विषयभेदस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि–''न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया वस्तुप्रतिभासः तथैव स्मृतौ, तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याप्रतीतेः''–प्रमेयक. ३–४ ''किञ्च, स्मृतेः वर्तमानकालावच्छेदेनाधिगतस्यार्थस्यातीतकालावच्छेदेनाधिगतेरपूर्वांशाधि-गमोपपत्तेः।'' स्याद्वादर. ३–४। अतो न गृहीतग्राहित्वं स्मरणस्येति भावः। ३१. स्वेषा-मीहादीनां विषयोज्ञेयस्तस्मिन्नुत्पन्नो यः संशयादिलक्षणः समारोपस्तद्–व्यवच्छेदकत्वेन तन्निराकारकत्वेन। ३२ वर्त्तमानकालावच्छिन्नः। ३३ भूतकाला–वच्छिन्नः। ३४ अत्रेदमनुमानं बोध्यम्–स्मृतिः प्रमाणं समारोपव्यवच्छेदकत्वात्, यदेवं तदेवं यथा प्रत्यक्षम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणमिति।

संशयविपर्यासलक्षणः समारोपोऽस्ति, तन्निराकरणाच्चास्याः स्मृतेः प्रामाण्यम्'' (३-४) इति।

६. [३५]यदि चानुभूते प्रवृत्तमित्येतावता स्मरणमप्रमाणं स्यात् तर्हि अनुमितेऽग्नौ पश्चात्प्रवृत्तं [३६]प्रत्यक्षमप्यप्रमाणं स्यात्।

७. [३७]अविसंवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिः प्रत्यक्षादिवत्। न हि स्मृत्वा [३८]निक्षेपादिषु प्रवर्त्तमानस्य[३९] विषयविसंवादोऽस्ति[४०]। [४१]यत्र त्वस्ति

समारोप है और उस समारोप को दूर करने से यह स्मृति प्रमाण है।''

६. ''स्मरण अनुभूत विषय में प्रवृत्त होता है'' इतने से यदि वह अप्रमाण हो तो अनुमान से जानी हुई अग्नि को जानने के लिए पीछे प्रवृत्त हुआ प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ठहरेगा। अतः स्मरण किसी भी प्रकार अप्रमाण सिद्ध नहीं होता।

७. प्रत्यक्षादिक की तरह स्मृति अविसंवादी है-विसंवाद रहित है, इसलिए भी वह प्रमाण है, क्योंकि स्मरण करके यथास्थान रखी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को स्मरण के विषय (पदार्थ) में विसंवाद-भूल जाना या अन्यत्र प्रवृत्ति करना नहीं होता। जहाँ

---

३५. अत्र स्मृतेरप्रामाण्यवादिनो नैयायिकादयः कथयन्ति-''अतीतः पूर्वानुभूत इत्यतीतविषया स्मृतिः, अत एव सा न प्रमाणमर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्'' इति कन्दलीकारः, ''न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्। स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राचीं प्रतीतिमनुरुद्ध्यमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम्''-प्रकरण-पञ्जि.पृ. ४२। ३६. ''अनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्याः प्रामाण्यानभ्युपगमेऽनुमाने-नाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यात्।''-प्रमेयक. ३-४, स्याद्वादर. ३-४, ''अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः। अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्य-मनिवार्यं स्यात्। स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्यविशिष्टमिति।'' प्रमेयर.२-२, प्रमाणमी. १-२-३। ३७. ''न च तस्या विसंवादा-दप्रामाण्यम्, दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः।'' प्रमेयर. २-२, ''सा च प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत्।'' प्रमाणप.पृ. ६९, प्रमाणमी.१-२-३, न चासावप्रमाणम्, संवादकत्वात्, यत्संवादकं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि संवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्,-प्रमेयक. ३-४। ३८. भूगर्भादि-स्थापितेष्वर्थेषु। ३९. जनस्य। ४०. विषयाप्राप्तिः। ४१. ''यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत्।'' प्रमाणप. पृ. ६९, स्याद्वादर. ३-४।

विसंवादस्तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत्। तदेवं [४२]स्मरणाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति सिद्धम्।

[प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्]

८.अनुभवस्मृतिहेतुकं सङ्कलनात्मकं[४३] ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। इदन्तोल्लेखिज्ञानमनुभवः, तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मरणम्। तदुभयसमुत्थं पूर्वोत्तरैक्यसादृश्यवैलक्षण्यादिविषयं यत्सङ्कलनरूपं ज्ञानं जायते तत्प्रत्यभिज्ञानमिति ज्ञातव्यम्। यथा स एवाऽयं जिनदत्तः[४४], गोसदृशो गवयः[४५], गोविलक्षणो महिष[४६] इत्यादि।

९. [४७]अत्र हि पूर्वस्मिनुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापक

विसंवाद होता है वह प्रत्यक्षाभास की तरह स्मरणाभास है। उसे हम प्रमाण नहीं मानते। इस तरह स्मरण नाम का पृथक्प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

[प्रत्यभिज्ञान का लक्षण और उसके भेदों का निरूपण]

८. अनुभव और स्मरणपूर्वक होने वाले जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'यह' का उल्लेख करने वाला ज्ञान अनुभव है और 'वह' का उल्लेखी ज्ञान स्मरण है। इन दोनों से पैदा होने वाला तथा पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में वर्तमान एकत्व, सादृश्य और वैलक्षण्य आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। जैसे वही यह जिनदत्त है, गौ के समान गवय (जंगली पशुविशेष) होता है, गाय से भिन्न भैंसा होता है, इत्यादिक प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

९. यहाँ पहले उदाहरण में, जिनदत्त की पूर्व और उत्तर रूप दोनों

---

४२. किञ्च, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमान-वार्त्ताऽपि दुर्लभा, तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगादिति। तत इदं वक्तव्यम्-"स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति।"-प्रमेयर. २-२, प्रमाणमी. १-२-३। ४३. सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन वस्तुनः प्रत्यवमर्शनम्, यथा-

"रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारयेः॥"

४४. इदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। ४५. इदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। ४६. इदं वैलक्षण्य-प्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। ४७. एषूदाहरणेषु।

[48] मेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। तदिदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। द्वितीये[49] तु पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं[50] गवयनिष्ठं[51] सादृश्यम्[52]। तदिदं सादृश्य-प्रत्यभिज्ञानम्। तृतीये तु पुनः प्रागनुभूतगोप्रति-योगिकं महिषनिष्ठं वैसा-दृश्यम्[53]। तदिदं वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञानम्। एवमन्येऽपि[54] प्रत्यभिज्ञानभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्प्रेक्ष्याः[55]। अत्र[56] सर्वत्राऽप्यनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्धेतु-कत्वम्।

अवस्थाओं में रहने वाली एकता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इसी को एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। दूसरे उदाहरण में, पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर गवय में रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तीसरे उदाहरण में, पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर भैंसा में रहने वाली विसदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस तरह का ज्ञान वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभिज्ञान के भेद अपने अनुभव से स्वयं विचार लेना चाहिए। इन सभी प्रत्यभिज्ञानों में अनुभव और स्मरण की अपेक्षा होने से उन्हें अनुभव और स्मरणहेतुक माना जाता है।

---

४८. व्याप्त्या वर्तमानम्। ४९. उदाहरणे। ५०. गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकम्। ५१. गवयो वन्यपशुविशेषः, तस्मिन् वर्तमानम्, गवयत्वावच्छिन्नानुयोगिताकमित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्–यन्निरूपणाधीनं निरूपणं यस्य तत्तत्प्रतियोगि अथवा यस्य सादृश्यादिकं प्रदर्श्यते स प्रतियोगी, यस्मिंश्च प्रदर्श्यते सोऽनुयोगी इति भावः। ५२. प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति शेषः। ५३. अत्रापि प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति सम्बन्धनीयम्।

५४. तदित्थम्–

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा। व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम्॥
–लघी.का. २१।

''इदमस्माद् दूरम्'' ''वृक्षोऽयमित्यादि''–परीक्षा. ३, ९–१०। अन्यच्च–
पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः। सप्तपर्णैस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छदः॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी। युवतिश्चैकशृंगोऽपि गण्डकः परिकीर्त्तितः॥
शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः।

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम् दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात्।'' प्रमेयर. ६–१०। ५५. चिन्तनीयाः। ५६. प्रत्यभिज्ञानभेदेषु।

१०. [५७]केचिदाहुः—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति; तदसत्; अनुभवस्य वर्त्तमानकालवर्त्ति[५८] विवर्त्तमात्र प्रकाशकत्वम्, स्मृतेश्चातीतविवर्त्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगतिः कथं नाम तयोरतीत-वर्त्तमानसङ्कलितैक्य-सादृश्यादिविषयावगाहित्वम्? तस्मादस्ति स्मृत्यनु-भवातिरिक्तं तदनन्तरभाविसङ्कलनज्ञानम्। तदेव प्रत्यभिज्ञानम्।

११. अपरे[५९] त्वेकत्वप्रत्यभिज्ञानमभ्युपगम्यापि तस्य [६०]प्रत्यक्षे-

---

१०. किन्हीं का कहना है कि अनुभव और स्मरण से भिन्न प्रत्यभिज्ञान नहीं है। (क्योंकि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं को विषय करने वाला एक ज्ञान नहीं हो सकता है। कारण, विषय भिन्न है। दूसरी बात यह है कि 'वह' इस प्रकार से जो ज्ञान होता है वह तो परोक्ष है और 'यह' इस प्रकार से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। इसलिए भी प्रत्यक्ष और परोक्षरूप एक ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु वे अनुभव और स्मरणरूप दो ज्ञान हैं।) यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव तो वर्तमानकालीन पर्याय को ही विषय करता है और स्मरण भूतकालीन पर्याय का द्योतन करता है। इसलिए ये दोनों अतीत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाली एकता, सदृशता आदि को कैसे विषय कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते हैं। अतः स्मरण और अनुभव से भिन्न उनके बाद में होने वाला तथा उन एकता, सदृशता आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है, वही प्रत्यभिज्ञान है।

११. अन्य (दूसरे वैशेषिकादि) एकत्व प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव कल्पित करते हैं। वह इस प्रकार से

---

५७. बौद्धाः। तेषामयमाशयः—''ननु पूर्वापरावस्थाविषयं परामर्शज्ञानं कथमेकम्? विषयभेदात्, परोक्षापरोक्षलक्षण-विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च। तथा हि—तदिति परोक्षमिदमिति साक्षात्कारः''—न्यायवा. तात्पर्य टी. पृ. १४०, ''तस्माद् द्वे एते ज्ञाने स इति स्मरणम्, अयम् इत्यनुभवः''—न्यायमं. पृ. ४४९। अत्र बौद्धानां पूर्वपक्षत्वे-नोल्लेखः। ''ननु तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यां विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानाख्यं वयं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमुपलभामहे''— प्रमेयर. २-२।५८. विवर्त्तः पर्यायः। ५९. वैशेषिकादयः। ६०. यदुक्तम्—''यस्तु भवतामस्य मानसत्वे प्रयासः स वरमिन्द्रियजत्वे एव भवतु ×× पश्चाज्जायमानपीन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवतया प्रत्यक्षं

ऽन्तर्भावं कल्पयन्ति। तद्यथा—यदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्प्रत्यक्ष-मिति तावत्प्रसिद्धम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि चेदं प्रत्यभिज्ञानम्, तस्मात्प्रत्यक्षमिति; तन्न; इन्द्रियाणां वर्त्तमानदशापरामर्शमात्रोपक्षीणत्वेन वर्त्तमानातीतदशाव्यापकैकत्वागाहित्वाघटनात्। न ह्यविषयप्रवृत्तिरिन्द्रि-याणां युक्तिमती, चक्षुषा रसादेरपि प्रतीतिप्रसङ्गात्।

१२. [६१]ननु सत्यमेतदिन्द्रियाणां वर्त्तमानदशावगाहित्वमेवेति तथापि तानि सहकारि [६२]समवधानसामर्थ्याद्दशा[६३]द्वयव्यापिन्येकत्वेऽपि [६४]प्रतीतिं

है—जो इन्द्रियों के साथ अन्वय और व्यतिरेक रखता है वह प्रत्यक्ष है अर्थात् जो इन्द्रियों के होने पर होता है और उनके अभाव में नहीं होता वह प्रत्यक्ष है, यह प्रसिद्ध है और इन्द्रियों का अन्वय तथा व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है, इस कारण वह प्रत्यक्ष है। उनका भी यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ वर्तमान पर्याय मात्र के विषय करने में ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाने से वर्तमान और अतीत अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व को विषय नहीं कर सकती हैं। इन्द्रियों की अविषय में प्रवृत्ति मानना योग्य नहीं है। अन्यथा चक्षु के द्वारा रसादि का भी ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा।

१२. शंका—यह ठीक है कि इन्द्रियाँ वर्तमान पर्याय मात्र को ही विषय करती हैं तथापि वे सहकारियों की सहायता से वर्तमान और अतीत रूप दोनों अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व में भी ज्ञान करा सकती हैं। जिस प्रकार अञ्जन के संस्कार से चक्षु व्यवधान प्राप्त (ढके हुए) पदार्थ को भी जान लेती है। यद्यपि चक्षु के व्यवहित पदार्थ को जानने की सामर्थ्य

भवत्येव ×× विवादाध्यासिता विकल्पाः (प्रत्यभिज्ञानरूपाः) प्रत्यक्षाः अव्यभिचारित्वे सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्''—न्यायवा. तात्पर्य टी. पृ.१४३, ''एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा''—न्यायमं. पृ. ४६१, ''तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः। विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्॥'' मी. श्लो. सू. ४ श्लो.२३७। ६१. त एव वैशेषिकादयः पुनराशङ्कन्ते नन्विति। ६२. समवधान सन्निपात एकत्र मेलनं इति यावत्। ६३. दशाद्वयं पूर्वोत्तरावस्थे व्याप्य वर्तमाने। ६४. ज्ञानम्।

जनयन्तु, अञ्जनसंस्कृतं चक्षुरिव [६५]व्यवहितेऽर्थे। न हि चक्षुषो व्यवहितार्थ[१*]प्रत्यायन[६६] सामर्थमस्ति, अञ्जनसंस्कारवशात्तु[६७] तथात्वमुपलब्धम्[६८]। [६९]तद्वदेव स्मरणादि[७०] सहकृतानीन्द्रियाण्येव दशाद्वयव्यापकमेकत्वं [७१]प्रत्याययिष्यन्तीति किं [७२]प्रमाणान्तरकल्पनाप्रयासेनेति। तदप्यसत्; सहकारिसहस्र- [७३]समवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तेरयोगात्। चक्षुषो हि अञ्जनसंस्कारादिः सहकारी स्वविषये रूपादावेव प्रवर्त्तको न त्वविषये रसादौ। [७४]अविषयश्च पूर्वोत्तरावस्थाव्यापकमेकत्वमिन्द्रियाणाम्। तस्मात्तत्प्रत्यायनाय[७५] [७६]प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमेव, [७७]सर्वत्रापि विषय-विशेषद्वारेण प्रमाण-भेदव्यवस्थापनात्।

(शक्ति) नहीं है। परन्तु अञ्जन संस्कार की सहायता से वह उसमें देखी जाती है। उसी प्रकार स्मरण आदि की सहायता से इन्द्रियाँ ही दोनों अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व को जान लेंगी। अतः उसको जानने के लिए एकत्व-प्रत्यभिज्ञान नाम के प्रमाणान्तर की कल्पना करना अनावश्यक है?

समाधान—यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि हजार सहकारियों के मिल जाने पर भी अविषय में-जिसका जो विषय नहीं है, उसकी उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। चक्षु के अञ्जन संस्कार आदि सहायक उसके अपने विषय रूपादि में ही उसको प्रवृत्त करा सकते हैं, रसादिक अविषय में नहीं और इन्द्रियों का अविषय है पूर्व तथा उत्तर अवस्थाओं में रहने वाला एकत्व। अतः उसे जानने के लिए पृथक् प्रमाण मानना ही होगा। सभी जगह विषय-भेद के द्वारा ही प्रमाण के भेद स्वीकार किये गये हैं।

---

६५. अन्तरिते। ६६. प्रत्यायनं ज्ञापनम्। ६७. व्यवहितार्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्। ६८. दृष्टम्। ६९. चक्षुरिव। ७०. आदिपदेन पूर्वानुभवस्य परिग्रहः। ७१. ज्ञापयिष्यन्ति। ७२. प्रमाणान्तरं प्रत्यभिज्ञानाख्यम्। ७३. मिलितेऽपि। ७४. इन्द्रियाणामविषयमेव प्रदर्शयति अविषयश्चेति। ७५. एकत्वज्ञापनाय। ७६. प्रत्यभिज्ञाननामकम्। ७७. सर्वेष्वपि दर्शनेषु, सर्वैरपि वादिभिः। स्व-स्वदर्शने विषयभेदमाश्रित्यैव प्रमाणभेदव्यवस्था कृतेति भावः।

१*. द 'र्थे' पाठः।

§ ३. [78]किञ्च, अस्पष्टैवेयं तदेवेदमिति प्रतिपत्तिः, तस्मादपि न तस्याः प्रत्यक्षान्तर्भाव इति। अवश्यं चैतदेवं[1*] विज्ञेयं चक्षुरादेरैक्य-प्रतीतिजननसामर्थ्यं नास्तीति। [79]अन्यथा लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणादिसहकृतं चक्षुरादिकमेव वह्न्यादिलिङ्गिज्ञानं जनयेदिति नानुमानमपि पृथक् प्रमाणं स्यात्। [80]स्वविषयमात्र एव चरितार्थत्वाच्चक्षुरादिकमिन्द्रियं न लिङ्गिनि

---

§ ३. दूसरी बात यह है कि ''वही यह है'' यह ज्ञान अस्पष्ट ही है–स्पष्ट नहीं है। इसलिए भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है और यह निश्चय ही जानना चाहिए कि चक्षु आदिक इन्द्रियों में एकत्व ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। अन्यथा लिंगदर्शन (धूमादि का देखना) और व्याप्ति के स्मरण आदि की सहायता से चक्षुरादिक इन्द्रियाँ ही अग्नि आदिक लिंगि (साध्य) का ज्ञान उत्पन्न कर दें। इस तरह अनुमान भी पृथक् प्रमाण न हो। यदि कहा जाये कि चक्षुरादिक इन्द्रियाँ तो अपने विषय धूमादि के देखने मात्र में ही चरितार्थ हो जाती हैं, वे अग्नि आदि परोक्ष अर्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकती, अतः अग्नि आदि परोक्ष अर्थों का

---

७८. युक्त्यन्तरेण प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भावं निराकरोति किञ्चेति–स एवायमिति हि ज्ञानमस्पष्टमेव, प्रत्यक्षं तु न तथा, तस्य स्पष्टत्वात्। ततोऽपि न तस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भाव इति भावः। ७९. चक्षुरादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यस्वीकरणे। ८०. ननु चक्षुरादेः स्वविषय एव पुरोदृश्यमाने धूमादौ प्रवृत्तेर्न परोक्षे वह्न्यादौ लिङ्गिनि प्रवर्त्तितुं सामर्थ्यमस्ति, ततोऽनुमानं पृथगेव प्रमाणमिति चेत्; प्रत्यभिज्ञानेऽप्येतत् समानम्, तत्रापि हि इदन्तोल्लिखित एवार्थे देवदत्तादौ चक्षुरादेः प्रवृत्तिर्न परोक्षे एकत्वे कुमार-युवावृद्धावस्थाव्यापिनी देवदत्तत्वादौ। तदुक्तम्–

''तया (द्रव्यसंवित्त्या) यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति संस्मृतिः।
केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते॥
बालकोऽहं य एवासं स एव च कुमारकः।
युवानो मध्यमो वृद्धोऽधुनाऽस्मीति प्रतीतितः॥''

–तत्त्वार्थश्लोक वा. १, १३, ४५–४६।

एतदेवाह स्वविषये।

१*. द प 'ज्ञेयं' पाठः।

प्रवर्त्तितुं [८१]प्रगल्भमिति चेत् प्रकृतेन[८२] किमपराद्धम् ? ततः स्थितं प्रत्यभिज्ञानाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति।

१४. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमुपमानाख्यं पृथक् प्रमाणमिति केचित्[८३]

ज्ञान करने के लिए अनुमान प्रमाण को पृथक् मानना आवश्यक है, तो प्रत्यभिज्ञान ने क्या अपराध किया? एकत्व को विषय करने के लिए उसको भी पृथक् मानना जरूरी है। अतः प्रत्यभिज्ञान नाम का पृथक् प्रमाण है, यह स्थिर हुआ।

१४. सादृश्यप्रत्यभिज्ञान उपमान नाम का पृथक् प्रमाण है, ऐसा किन्हीं (नैयायिक और मीमांसकों) का कहना है। पर वह ठीक नहीं हैं;

---

८१. समर्थम्। ८२. प्रत्यभिज्ञानेन। ८३. नैयायिकाः मीमांसकाश्च, तत्र तावन्मीमांसकाः–''ननु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता। सादृश्यविशिष्टो हि विशेषो (गोलक्षणो धर्मी) विशेषविशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्यैव प्रमेयम्–प्रमेयक. ३–१०। उक्तं च–

दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते। सादृश्योपाधिवत्तज्ज्ञैरूपमानमिति स्मृतम्॥
तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥
प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्यान्यतः सिद्धेरूपमानप्रमाणता॥
–मी. श्लो. उ. ३६–३८।

इति प्रत्यभिज्ञानस्योपमानरूपतां निरूपयन्ति, ''तदसमीक्षिताभिधानम्, एकत्व-सादृश्यप्रतीत्योः सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात्। ''स एवायम्'' इति हि यथा उत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायेणैकताप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा, तथा सादृश्यप्रतीतिरपि ''अनेन सदृशः'' इति (प्रत्यभिज्ञा), अविशेषात्, –प्रमेयक. ३–१०। कथमन्यथा वैलक्षण्य–प्रतीतिरपि प्रमाणान्तरं न स्यात्? नैयायिकास्तु ''आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्य–ज्ञानमुपमानम्। यदा ह्यनेन श्रुतं भवति ''यथा गौरेवं गवयः'' इति। प्रसिद्धे गो–गवय–साधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवत्ययं गवय इति समाख्यासम्बन्ध-प्रतिपत्तिः''–न्यायवा. १–१–६। समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिश्चोपमानमिति प्रतिपादयन्ति; तन्न; वैलक्षण्यादिप्रत्ययानामपि प्रमाणान्तरत्वानुषङ्गात्। तथा चोक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः–

उपमानं प्रसिद्धार्थ साधर्म्यात् साध्यसाधनम्। तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम्॥
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः। तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा॥
–लघीय.का.१९–२०।

कथयन्ति; तदसत्; स्मृत्यनुभवपूर्वक सङ्कलनज्ञानत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वानतिवृत्तेः। अन्यथा गोविलक्षणो महिष इत्यादिविसदृशत्वप्रत्ययस्य, इदमस्माद् दूरमित्यादेश्च प्रत्ययस्य सप्रतियोगिकस्य पृथक् प्रमाणत्वं स्यात्। ततो [१*]वैसादृश्यादिप्रत्ययवत् सादृश्यप्रत्ययस्यापि प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वमेवेति प्रामाणिकपद्धतिः।

[तर्कस्य निरूपणम्]

१५. अस्तु प्रत्यभिज्ञानम्, कस्तर्हि तर्कः? व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्यगमक-भावप्रयोजको[८४] [८५]व्यभिचारगन्धासहिष्णुः

क्योंकि स्मरण और अनुभवपूर्वक जोड़रूप ज्ञान होने से उसमें प्रत्यभिज्ञानता (प्रत्यभिज्ञानपना) का उल्लंघन नहीं होता–वह उसमें रहती है। अतः वह प्रत्यभिज्ञान ही है। अन्यथा (यदि सादृश्यविषयक ज्ञान को उपमान नाम का पृथक् प्रमाण माना जाये तो) ''गाय से भिन्न भैंसा है'' इत्यादि विसदृशता को विषय करने वाले वैसादृश्यज्ञान को और ''यह इससे दूर है'' इत्यादि आपेक्षिक ज्ञान को भी पृथक्प्रमाण होना चाहिए। अतः जिस प्रकार वैसादृश्यादिज्ञानों में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वे प्रत्यभिज्ञान हैं उसी प्रकार सादृश्यविषयक ज्ञान में भी प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वह प्रत्यभिज्ञान ही है, उपमान नहीं। यही प्रामाणिक परम्परा है।

[तर्क प्रमाण का निरूपण]

१५. प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हो। तर्क का क्या स्वरूप है? व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य और गमक (बोध्य और

अतः ''यथैव हि एकदा घटमुपलब्धवतः पुनस्तस्यैव दर्शने ''स एवायं घटः'' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा तथा ''गोसदृशो गवयः'' इति सङ्केतकाले गोसदृश-गवयाभिधानयोर्वाच्यवाचक सम्बन्धं प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते?''–प्रमेयक. .३–१०।

८४. प्रसाधकः। ८५. व्यभिचारशून्यः।

१*. 'वैसदृश्य' द प्रतिपाठः।

सम्बन्धविशेषो[८६] व्याप्तिरविनाभाव इति च[१*] व्यपदिश्यते। [८७]तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादिं धूमादिरेव [८८]गमयति न तु घटादिः, [८९]तदभावात्। तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्याः[२*] व्याप्तेः प्रमितौ यत्साधकतमं तदिदं तर्काख्यं प्रमाणमित्यर्थः। तदुक्तं श्लोकवार्तिकभाष्ये—''साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृतिरूपे हि फले साधकतमस्तर्कः''[९०] (१-१३-११५) इति। ऊह इति तर्कस्यैव [९१]व्यपदेशान्तरम्। स च तर्कस्तां व्याप्तिं [९२]सकलदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति।

१६. किमस्योदाहरणम्? उच्यते-यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति। अत्र[९३] हि धूमे सति भूयोऽग्न्युपलम्भे अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे[३*]

बोधक) भाव का साधक और व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है उसे व्याप्ति कहते हैं। उसी को अविनाभाव भी कहते हैं। उस व्याप्ति के होने से अग्न्यादिक को धूमादिक ही जनाते हैं, घटादिक नहीं। क्योंकि घटादिक की अग्न्यादिक के साथ व्याप्ति (अविनाभाव) नहीं है, इस अविनाभाव रूप व्याप्ति के ज्ञान में जो साधकतम है वह यह तर्क नाम का प्रमाण है। श्लोकवार्तिक भाष्य में भी कहा है—''साध्य और साधन के सम्बन्ध विषयक अज्ञान को दूर करने रूप फल में जो साधकतम है वह तर्क है।'' 'ऊहा' भी तर्क का ही दूसरा नाम है। वह तर्क उक्त व्याप्ति को सर्वदेश और सर्वकाल की अपेक्षा से विषय करता है।

१६. शंका—इस तर्क का उदाहरण क्या है?

समाधान—''जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है'' यह तर्क का उदाहरण है। यहाँ धूम के होने पर अनेक बार अग्नि की

---

८६. नियमरूपः। ८७. व्याप्तिबलात्। ८८. ज्ञापयति। ८९. व्याप्तेरभावात्। ९०. श्लोकवार्तिक भाष्ये यदुक्तं तत्किञ्चित्शब्दभेदनेत्थं वर्त्तते-''प्रमाणं तर्कः साक्षात्परम्परया च स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमत्वात्प्रत्यक्षवत्। स्वविषयभूतस्य साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात्स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्कः, परम्परया तु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेति।''९१. नामान्तरम्। ९२. सर्वदेशकालावच्छेदेन। ९३. अस्मिन्नुल्लेखे।

१*. द प्रतौ 'च' नास्ति। २*. 'नाम्नो' इति द आ प म प्रतिपाठः।
३*. 'अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

''सर्वत्र सर्वदा धूमोऽग्निं न व्यभिचरति''[९४] इत्येवं सर्वोपसंहारेणाविनाभाविज्ञानं पश्चादुत्पन्नं तर्काख्यं प्रत्यक्षादेः पृथगेव। [९५]प्रत्यक्षस्य[१*] [९६]सन्निहितदेश एव [९७]धूमाग्निसम्बन्धप्रकाशनान्न व्याप्ति-प्रकाशकत्वम्। सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः।

१७. ननु यद्यपि [९८]प्रत्यक्षमात्रं व्याप्तिविषयीकरणे [९९]शक्तं न भवति तथापि विशिष्टं प्रत्यक्षं तत्र[१००] शक्तमेव। तथा हि-महानसादौ तावत्प्रथमं धूमाऽग्न्योर्दर्शनमेकं प्रत्यक्षम्, तदनन्तरं भूयो[१०१] भूयः प्रत्यक्षाणि प्रवर्त्तन्ते, तानि च प्रत्यक्षाणि न सर्वाणि व्याप्ति-विषयीकरणसमर्थानि, अपितु

उपलब्धि और अग्नि के अभाव में धूम की अनुपलब्धि पाई जाने पर ''सब जगह और सब काल में धुँआ अग्नि का व्यभिचारी नहीं है—अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के अभाव में नहीं होता'' इस प्रकार का जो सर्वदेश और सर्वकालरूप से अविनाभाव को ग्रहण करने वाला ज्ञान बाद में उत्पन्न होता है वह तर्क नाम का प्रत्यक्षादिक से भिन्न ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष निकटवर्ती ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, अतः वह व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता। कारण, व्याप्ति सर्वदेश और सर्वकाल को लेकर होती है।

१७. शंका—यद्यपि प्रत्यक्षसामान्य (साधारण प्रत्यक्ष) व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं है तथापि विशेष प्रत्यक्ष उसको विषय करने में समर्थ है ही। वह इस प्रकार से—रसोईशाला आदि में धूम और अग्नि को सबसे पहले देखा, यह एक प्रत्यक्ष हुआ। इसके बाद अनेकों बार और कई

---

९४. धूमोऽग्न्यभावे न भवति, अपि त्वग्निसद्भाव एव भवति, इति भावः। ९५. ''न हि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पादकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहितविषयबलोत्पत्ते-रविचारकत्वात् लघी. स्वोपज्ञवि. का. ११, अष्टस. पृ. २८०, प्रमाणप. पृ. ७०, प्रमेयक. ३-१३। ९६. समीपवर्त्तिनि योग्यदेश एव महानसादौ, न दूरवर्त्तिनि परोक्षे देशे। ९७. नियत-धूमाग्न्योः सम्बन्धज्ञापनात्। ९८. प्रत्यक्षसामान्यम्। ९९. समर्थम्। १००. व्याप्ति-विषयीकरणे। १०१. पुनः पुनः।

१*. 'प्रत्यक्षस्य हि' इति म प प्रतिपाठः।

पूर्वपूर्वानुभूतधूमाग्निस्मरणतत्सजातीयत्वानुसन्धानरूपप्रत्यभिज्ञान-सहकृतः कोऽपि[१०२] प्रत्यक्षविशेषो व्याप्तिं सर्वोपसंहारवतीमपि[१*] गृह्णाति। तथा च स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहकृते प्रत्यक्षविशेषे व्याप्तिविषयीकरणसमर्थे किं तर्काख्येन पृथक् प्रमाणेनेति केचित्[१०३]; [१०४]तेऽपि न्यायमार्गानभिज्ञाः; [१०५]सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तिर्न घटत इत्युक्तत्वात्। तस्मात्प्र-

---

प्रत्यक्ष हुए, पर वे सब प्रत्यक्ष व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं हैं। लेकिन पहले-पहले के अनुभव किये धूम और अग्नि का स्मरण तथा तत्सजातीय के अनुसन्धानरूप प्रत्यभिज्ञान से सहित होकर कोई प्रत्यक्ष-विशेष सर्वदेश-काल को भी लेकर होने वाली व्याप्ति को ग्रहण कर सकता है और इसलिए स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान से सहित प्रत्यक्ष-विशेष ही जब व्याप्ति को विषय करने में समर्थ है, तब तर्क नाम के पृथक् प्रमाण के मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—ऐसा कथन उनकी न्याय-मार्ग की अनभिज्ञता को प्रकट करता है; क्योंकि ''हजार सहकारियों के मिल जाने पर भी अविषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है'' यह हम पहले कह आये हैं। इस कारण प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण बतलाना संगत नहीं है, किन्तु यह संगत प्रतीत होता है कि स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बार का हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक वैसे ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति के ग्रहण करने में समर्थ है और वही तर्क है। अनुमान आदि के द्वारा तो व्याप्ति का ग्रहण होना सम्भव ही नहीं है। तात्पर्य यह कि अनुमान से यदि व्याप्ति का ग्रहण माना जाये तो यहाँ दो विकल्प उठते हैं-जिस अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण करना है उसी अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण होता है या अन्य दूसरे

---

१०२. अनिर्दिष्टनामा। १०३. नैयायिकादयः। १०४. समाधत्ते तेऽपीति। १०५. प्रत्यक्षस्य पुरोवर्त्तिधूमवह्निव्यक्ति-विषयत्वेऽपि नापुरोवर्त्तिसकलधूमवह्नि-व्यक्तिविषयत्वम्, तासां तदयोग्यत्वात्। सहकारिणामविषये प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तक-त्वाघटनाच्च।

१*. 'सर्वोपसंहारवतीमपि' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

त्यक्षेण व्याप्तिग्रहणमसञ्जसम्। इदं तु समञ्जसम्-स्मरणम् प्रत्यभिज्ञानम् भूयोदर्शनरूपं प्रत्यक्षं च मिलित्वा तादृशमेकं ज्ञानं जनयन्ति यद्व्याप्ति-ग्रहणसमर्थमिति। तर्कश्च स एव। अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव[१०६]।

अनुमान से? पहले विकल्प में अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान जब हो जाये, तब अनुमान अपना स्वरूप लाभ करे और अनुमान जब स्वरूप लाभ कर ले, तब व्याप्ति का ज्ञान हो, इस तरह दोनों परस्परापेक्ष हैं। अन्य दूसरे अनुमान से व्याप्ति का ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि दूसरे अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य तृतीय अनुमान से मानना होगा, तृतीय अनुमान की व्याप्ति का ज्ञान अन्य चौथे अनुमान से माना जायेगा, इस तरह कहीं भी व्यवस्था न होने से अनवस्था नाम का दोष प्रसक्त होता है। इसलिए अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है और न आगमादिक प्रमाणों से भी सम्भव है, क्योंकि उन सबका विषय भिन्न-भिन्न है और विषयभेद से प्रमाणभेद की व्यवस्था होती है। अतः व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए तर्क प्रमाण का मानना आवश्यक है।

---

१०६. न ह्यनुमानादिना व्याप्तिग्रहणं सम्भवति, अन्योन्याश्रयादिदोषात्। अनुमानेन हि व्याप्तिग्रहणं चेत्तर्हि प्रकृतानुमानेनानुमानान्तरेण वा? प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयः। तथा हि-सत्यां व्याप्तिप्रतिपत्ता-वनुमानस्यात्मलाभस्तदात्मलाभे च सति व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति। अनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्ता-वनुमानान्तरीयव्याप्ति-प्रतिपत्तिरप्यनुमानान्तरेणेत्येवमनवस्था स्यात्। ततो नानुमानाद्व्याप्तिग्रहणम्। नाऽप्या-गमादेः, तस्य भिन्नविषयत्वात्। यदुक्तम्-"नाऽप्यनुमानेन (व्याप्तिग्रहणम्), प्रकृता-परानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थाऽवतारात्। आगमादेरपि भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वान्न ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिरिति"-प्रमेयर. ३-१८।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैरप्युक्तम्-

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते।
नानुमानादसिद्धत्वात्प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥

-लघीय.का.११

अतः सुष्ठूक्तं ग्रन्थकृता "अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव" इति।

१८. बौद्धास्तु [१०७]प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पः व्याप्तिं गृह्णातीति मन्यन्ते। त एवं पृष्टव्याः—स हि विकल्पः किमप्रमाणमुत प्रमाणमिति? यद्यप्रमाणम्, कथं नाम तद्गृहीतायां व्याप्तौ [१०८]समाश्वासः? अथ प्रमाणम्, किं प्रत्यक्षमथवाऽनुमानम्? न तावत्प्रत्यक्षम्, अस्पष्टप्रतिभासत्त्वात्। नाप्यनुमानम्, लिङ्गदर्शनाद्यनपेक्षत्वात्। [१०९]ताभ्यामन्यदेव किञ्चित्प्रमाण-मिति चेदागतस्तर्हि तर्कः। तदेवं तर्काख्यं प्रमाणं निर्णीतम्।

[अनुमानस्य निरूपणम्]

१९. इदानीमनुमानमनुवर्ण्यते। साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्[११०]। इहानुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, साधनात्साध्य-विज्ञानमिति लक्षणकथनम्। साधनाद्धूमादेर्लिङ्गात्साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं जायते तदनुमानम्,

---

१८. ''निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर जो विकल्प पैदा होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है'' ऐसा बौद्ध मानते हैं; उनसे हम पूछते हैं कि वह विकल्प अप्रमाण है अथवा प्रमाण? यदि अप्रमाण है तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति में प्रमाणता कैसे? और यदि प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह अस्पष्ट ज्ञान है और अनुमान भी नहीं हो सकता; कारण उसमें लिंगदर्शन आदि की अपेक्षा नहीं होती। यदि इन दोनों से भिन्न ही कोई प्रमाण है तो वही तो तर्क है। इस प्रकार तर्क नाम के प्रमाण का निर्णय हुआ।

[अनुमान प्रमाण का निरूपण]

१९. अब अनुमान का वर्णन करते हैं। साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। यहाँ 'अनुमान' यह लक्ष्य-निर्देश है और साधन से साध्य का ज्ञान होना, यह उसके लक्षण का कथन है। तात्पर्य यह कि साधन—धूमादि लिंग से साध्य—अग्नि आदिक लिंगी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है, क्योंकि वह साध्य-ज्ञान ही अग्नि आदि के

---

१०७. निर्विकल्पक प्रत्यक्षानन्तरं जायमानः। १०८. प्रामाण्यम्। १०९. प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ११०. ''साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं...'' –न्यायवि. का. १७०, ''साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्''–परीक्षामु. ३-१४, ''साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः''।–तत्त्वार्थश्लो–१-१३-१२०।

[१११]तस्यैवाऽग्नाद्यव्युत्पत्तिविच्छित्तिकरणत्वात्[११२]। न पुनः साधनज्ञान-मनुमानम्, [११३]तस्य [११४]साधनाव्युत्पत्ति-विच्छेदमात्रोपक्षीणत्वेन साध्याज्ञान-निवर्त्तकत्वायोगात्। [११५]ततो यदुक्तं नैयायिकैः—"लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्" (न्यायवा. १-१-५ उद्धृतम्)[११६] इत्यनुमानलक्षणम् तद[११७]विनीतविलसित-मिति निवेदितं भवति। [११८]वयं त्वनुमानप्रमाणस्वरूपलाभे व्याप्तिस्मरण-सहकृतो लिङ्गपरामर्शः[११९] कारण[१*]मिति मन्यामहे, स्मृत्यादि [१२०]स्वरूप-लाभेऽनुभवादिवत्। तथा हि—धारणाख्योऽनुभवः स्मृतौ हेतुः। तादात्वि-

---

अज्ञान को दूर करता है। साधनज्ञान अनुमान नहीं है, क्योंकि वह तो साधन सम्बन्धी अज्ञान के ही दूर करने में चरितार्थ हो जाने से साध्य सम्बन्धी अज्ञान को दूर नहीं कर सकता है। अतः नैयायिकों ने अनुमान का जो लक्षण कहा है कि "लिंगज्ञान अनुमान है" वह संगत नहीं है। हम तो स्मरण आदि की उत्पत्ति में अनुभव आदि की तरह व्याप्ति स्मरण से सहित लिंगज्ञान को अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण मानते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है— जिस प्रकार धारणा नाम का अनुभव स्मरण में कारण होता है, तात्कालिक अनुभव तथा स्मरण प्रत्यभिज्ञान में और

---

१११. साध्यज्ञानस्यैव। ११२. अग्न्यादेरव्युत्पत्तिरज्ञानं तस्या विच्छित्ति-र्निरासस्तत्करणत्वात् साध्यज्ञानस्य, अतः साधनाज्जायमानं साध्यज्ञानमेवानुमानमिति भावः। ११३. साधनज्ञानस्य। ११४. साधनसम्बन्ध्यज्ञाननिराकरणमात्रेणैव कृतार्थत्वेन। ११५. यतश्च साधनज्ञानं नानुमानं ततः। ११६. "अपरे तु मन्यन्ते लिङ्गपरामर्शो-ऽनुमानमिति। वयं तु पश्यामः सर्वमनुमानमनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात् प्रधानोपसर्जनता-विवक्षायां लिङ्गपरामर्श इति न्याय्यम्। कः पुनरत्र न्यायः? आनन्तर्यप्रतिपत्तिः। यस्माल्लिङ्गपरामर्शादनन्तरं शेषार्थप्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिङ्ग-परामर्शो न्याय्य इति।"-न्यायवा.पृ. ४५। लिङ्गपरामर्शो लिङ्गज्ञानमित्यर्थः। ११७. अविनीतैरविचारिभि-र्विलसितं परिकल्पितमत एव तदयुक्तमिति भावः। ११८. जैनाः। ११९. लिङ्गज्ञानमनुमानस्योत्पत्तौ कारणम्, न तु स्वयमनुमानमित्यर्थः। १२०. आदिपदेन प्रत्यभिज्ञानादीनां ग्रहणम्।

१*. 'करणं' इति मु प्रतिपाठः।

कानुभवस्मृती प्रत्यभिज्ञाने। स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुभवाः साध्यसाधनविषया-स्तर्के। [१२१]तद्वल्लिङ्गज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धन-मित्येतत्सुसङ्गतमेव[१२२]।

२०. [१२३]ननु [१२४]भवतां मते साधनमेवानुमाने [१*]हेतुर्न तु साधनज्ञानं ''साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्'' इति [१२५]वचनादिति चेत्; न; साधनादित्यत्र निश्चयपथप्राप्ताद्धूमादेरिति विवक्षणात्[१२६], अनिश्चयपथप्राप्तस्य धूमादेः साधनत्वस्यैवाघटनात्। तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोक वार्त्तिके [२*]—''साधना-त्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः'' (१-१३-१२०) इति। साधनाज्ज्ञाय-

---

साध्य तथा साधनविषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्क में कारण होते हैं, उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि से सहित होकर लिंगज्ञान अनुमान की उत्पत्ति में कारण होता है– वह स्वयं अनुमान नहीं है। यह कथन सुसंगत ही है।

२०. शंका—आपके मत में–जैनदर्शन में साधन को ही अनुमान में कारण माना है, साधन के ज्ञान को नहीं, क्योंकि ''साधन से साध्य के ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं।'' ऐसा पहले कहा गया है?

समाधान—नहीं; 'साधन से' इस पद का अर्थ ''निश्चय पथ प्राप्त धूमादिक से'' यह विवक्षित है, क्योंकि जिस धूमादिक साधन का निश्चय नहीं हुआ है अर्थात् जिसे जाना नहीं है वह साधन ही नहीं हो सकता है। इसी बात को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है–''साधन से साध्य के ज्ञान होने को विद्वानों ने अनुमान कहा है।'' इस वार्तिक का अर्थ यह है कि

---

१२१. स्मृत्यादिवत्। १२२. अस्मदीयं कथनं सुयुक्तमेव। १२३. नैयायिकः शङ्कते नन्विति। १२४. जैनानाम्। १२५. पूर्वं निरूपणात्।

१२६. अत एवाकलङ्कदेवैरुक्तम्–

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥

–लघीय. का. १२।

१*. 'अनुमायनहेतुः' इति द प प्रत्योः पाठः।
२*. 'श्लोकवार्त्तिके' इति मुद्रितप्रतिषु पाठः।

मानाद्धूमादेः साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं तदनुमानम्। अज्ञायमानस्य [१२७]तस्य साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीना[१२८]मप्यग्न्यादि-ज्ञानोत्पत्ति[१*]प्रसङ्गः। तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्य[१२९]साध्य-ज्ञानस्यैव साध्याव्युत्पत्तिनिरासकत्वेनानुमानत्वम् न तु [१३०]लिङ्गपरामर्शादेरिति बुधाः

साधन से अर्थात् जाने हुए धूमादिक लिंग से साध्य में अर्थात् अग्नि आदिक लिंगी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है, क्योंकि जिस धूमादिक लिंग को नहीं जाना है उसको साध्य के ज्ञान में कारण मानने पर सोये हुए अथवा जिन्होंने धूमादिक लिंग को ग्रहण नहीं किया उनको भी अग्नि आदि का ज्ञान हो जायेगा। इस कारण जाने हुए साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान ही साध्यविषयक अज्ञान को दूर करने से अनुमान है, लिंगज्ञानादिक नहीं। ऐसा अकलंकादि प्रामाणिक विद्वान् कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञायमान साधन को अनुमान में कारण प्रतिपादन करने से यह

---

१२७. साधनस्य। १२८. जनानाम्। १२९. ज्ञायमानं लिङ्गं कारणं यस्य तज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकं तस्य, साध्याविनाभावित्वेन निर्णीतसाधनहेतुकस्येत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्–न हि वयं केवलं लिङ्गमनुमाने कारणं मन्यामहे, अपि त्वन्यथानुपपन्नत्वेन निश्चितमेव, अज्ञायमानस्य लिङ्गस्यानुमितिकारणत्वासम्भवात्। अन्यथा यस्य कस्याप्यनुमितिः स्यात्। एतेन यदुक्तं नैयायिकैः–

अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु कारणं न हि। अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा॥

यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेन [इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति, भाविधूमात्। इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीत्, भूतधूमात् (सिद्धान्तमु. टिप्पण) इत्येवंरूपेण] अनुमितिर्न स्यादनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात्''-सिद्धान्तमुक्तावली ६७; तन्निरस्तम्; लिङ्गस्य ज्ञायमानस्य करणत्वानभ्युपगमे-ऽज्ञायमानादपि लिङ्गादनुमितिप्रसङ्गात्। किञ्च, वर्तमानत्वेन प्रतीतस्यैव लिङ्गस्यानु-मितिहेतुत्वम्, न भविष्यत्वेनातीतत्त्वेन वा भाव्यतीतयोर्लिङ्गत्वस्यैवाघटनात्। न हि कश्चित्प्रेक्षावान् भाविधूमात्भाविवह्निमतीतधूमादतीतवह्निं वाऽनुमिनोति। तस्माज्ज्ञा-यमानलिङ्गकारणकस्यैव साध्यज्ञानस्यानुमानत्वमिति ध्येयम्।

१३०. नैयायिकाद्यभिमतस्य।

१*. 'ज्ञानोत्पाद' इति द प्रतिपाठः।

प्रामाणिका[१३१] विदुरिति [१३२]वार्तिकार्थः।

[साधनस्य लक्षणकथनम्]

२१. किं तत्साधनं [१३३]यद्धेतुकं साध्यज्ञानमनुमानम्? इति चेत्; उच्यते—निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य [१३४]साध्याभावा-सम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्ति-स्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः। तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः—

स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन में साधन को अनुमान में कारण नहीं माना, अपितु साधनज्ञान को ही कारण माना है।

[साधन का लक्षण]

२१. वह साधन क्या है, जिससे होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है? अर्थात् साधन का क्या लक्षण है? इसका उत्तर यह है— जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है उसे साधन कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिसकी साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यान्यथानुपपत्ति–साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना—तर्क नाम के प्रमाण द्वारा निर्णीत है, वह साधन है। श्री कुमारनन्दी भट्टारक ने भी कहा है—

---

१३१. अकलंकदेवा न्यायविनिश्चये (का. १७०)। १३२. साधनात्साध्य-विज्ञानमित्यादितत्त्वार्थश्लोकवार्तिकीयवार्तिकस्यार्थः। वार्तिकलक्षणं तु–

> ''उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते।
> तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥
>
> —पराशरोपपुराण अ. १८।
>
> ''उक्तानुक्तद्विरुक्तानां विचारस्य निबन्धनम्।
> हेतुभिश्च प्रमाणैश्च एतद्वार्त्तिकलक्षणम्॥''

× × ×

''उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ताकारि तु वार्तिकम्।''—हैमकोश।

''वार्त्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्।''

—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ. २।

१३३. साधनस्य। १३४. साध्याभावे न भवतीति नियमरूपा।

"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते"[१*] ([१३५]वादन्याय...) इति।

[साध्यस्य लक्षणकथनम्]

२२. किं तत्साध्यं यदविनाभावः साधनलक्षणम्? उच्यते शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम्[१३६]। यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्[१३७], [१३८]सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धं, तदेव साध्यम्। [१३९]अशक्यस्य साध्यत्वे [१४०]वह्न्यनुष्णत्वादेरपि साध्यत्वप्रसङ्गात्।

"अन्यथानुपपत्तिमात्र जिसका लक्षण है, उसे लिंग कहा गया है।"

[साध्य का लक्षण]

२२. वह साध्य क्या है, जिसके अविनाभाव को साधन का लक्षण प्रतिपादन किया है? अर्थात् साध्य का क्या स्वरूप है? सुनिये–शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य कहते हैं। शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित न होने से सिद्ध किया जा सकता है। अभिप्रेत वह है जो वादी को सिद्ध करने के लिए अभिमत है–इष्ट है और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिक से युक्त होने से अनिश्चित है, इस तरह जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है वही साध्य है।

यदि अशक्य (बाधित) को साध्य माना जाये, तो अग्नि में अनुष्णता (उष्णता का अभाव) आदि भी साध्य हो जायेगी। अनभिप्रेत को साध्य

---

१३५. यद्यपि कुमारनन्दिनोऽयं वादन्यायो नेदानीमुपलभ्यते तथापीयं कारिका सहोत्तरार्द्धेन विद्यानन्द-स्वामिना प्रमाणपरीक्षायां 'कुमारनन्दिभट्टारकैः' पत्रपरीक्षायां च "कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदित्वात्" इति नामोल्लेखपुरस्सर-मुद्धृताऽस्ति।

१३६. श्रीमाणिक्यनन्दिभिरप्युक्तम्- "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्-परीक्षा. ३-२०। १३७. इष्टम्। १३८. अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्य इति भावः। "सन्दिग्ध-विपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्"-परीक्षा. ३-२१। १३९. बाधितस्य। १४०. "वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्" इत्यादौ वह्नावुष्ण-स्पर्शग्राहिणा प्रत्यक्षेण बाधितस्यानुष्णत्वादेरपि साध्यत्वं स्यात्।

१*. 'लिङ्गमभ्यत' इति मुद्रितप्रतिषु पाठः।

अनभिप्रेतस्य साध्यत्वे त्वतिप्रसङ्गात्[१४१]। प्रसिद्धस्य साध्यत्वे पुनरनुमान-वैयर्थ्यात्[१४२]।

तदुक्तं न्यायविनिश्चये—

"साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्[१४३]।

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः"॥१७२॥ इति[१*]।

२३. अयमर्थः[२*]—यच्छक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं तत्साध्यम्। ततोऽपरं साध्याभासम्। किं तत्[३*]? विरुद्धादि। विरुद्धं प्रत्यक्षादिबाधितम्। आदिशब्दादनभिप्रेतं प्रसिद्धं चेति। कुत एतत्? साधनाविषयत्वतः—

माना जाये, तो अतिप्रसंग नाम का दोष आयेगा तथा प्रसिद्धि को साध्य माना जाये तो अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि साध्य की सिद्धि के लिए अनुमान किया जाता है और वह साध्य पहले से प्रसिद्ध है। अतः शक्यादिरूप ही साध्य है। न्यायविनिश्चय में भी कहा है—

२३. इसका अर्थ यह है कि जो शक्य है, अभिप्रेत है और अप्रसिद्ध है वह साध्य है और जो इससे विपरीत है वह साध्याभास है। वह साध्याभास कौन है? विरुद्धादिक हैं। प्रत्यक्षादि से बाधित को विरुद्ध कहते हैं। 'आदि' शब्द से अनभिप्रेत और प्रसिद्ध का ग्रहण करना चाहिए। ये तीनों साध्याभास क्यों हैं? क्योंकि ये तीनों ही साधन के विषय नहीं हैं अर्थात्

---

१४१. स्वेष्टसाधना-योगात्। अत एवाह– "अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधित-वचनम्"–परीक्षा. ३-२२। १४२. साधनार्हं हि साध्यम्, साधनं चासिद्धस्यैव भवति न सिद्धस्य, पिष्टपेषणानुषङ्गात्। तथा चासिद्धस्य साधनमेवानुमानफलम्, सिद्धस्य तु साध्यत्वे तस्य प्रागेव सिद्धत्वेनानुमानवैफल्यं स्यादेवेति भावः। यदुक्तं स्याद्वादविद्यापतिना–"प्रसिद्धादन्यदप्रसिद्धम् तदेव साध्यम्। न प्रसिद्धम्, तत्र साधनवैफल्यात्। प्रसिद्धिरेव हि साधनस्य फलम्, सा च प्रागेव सिद्धेति"–न्यायवि. वि. २, पृ. ८। १४३. शक्यादिलक्षणात्साध्याद्विपरीतम्।

१*. आ द प्रत्योः 'इति' पाठो नास्ति। २*. 'अस्यायमर्थः' इति आ प्रतिपाठः। ३*. 'किं तत्?' इति द प प्रत्योर्नास्ति।

साधनेन गोचरीकर्त्तुमशक्यत्वादित्यकलङ्कदेवानामभिप्रायलेशः[१४४]। तदभिप्रायसाकल्यं[१४५] तु [१४६]स्याद्वादविद्यापतिर्वेद[१*]। साधनसाध्यद्वयमधिकृत्य[१४७] [१४८]श्लोकवार्तिकं च[२*]—

[१४९]अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्।
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम्॥ (१-१३-२२१) इति।

२४. तदेवमविनाभावनिश्चयैकलक्षणात्साधनाच्छक्याभिप्रेताप्रसिद्धरूपस्य साध्यस्य ज्ञानमनुमानमिति सिद्धम्।

साधन के द्वारा ये विषय नहीं किये जाते हैं। इस प्रकार यह अकलंकदेव के अभिप्राय का संक्षेप है। उनके सम्पूर्ण अभिप्राय को तो स्याद्वादविद्यापति श्री वादिराज जानते हैं अर्थात् अकलंकदेव की उक्त कारिका का विशद एवं विस्तृत व्याख्यान श्री वादिराज ने न्यायविनिश्चय के व्याख्यानभूत अपने न्यायविनिश्चय विवरण में किया है। अतः अकलंकदेव के पूरे आशय को तो वे ही जानते हैं। यहाँ सिर्फ उनके अभिप्राय के अंश मात्र को दिया है। साधन और साध्य दोनों को लेकर श्लोकवार्तिक में भी कहा है–''जिसका अन्यथानुपपत्तिमात्र लक्षण है अर्थात् जो न त्रिलक्षणरूप है और न पंचलक्षणरूप है, केवल अविनाभाव विशिष्ट है वह साधन है। तथा जो शक्य है, अभिप्रेत है और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहा गया है।''

२४. इस प्रकार अविनाभाव निश्चयरूप एक लक्षण वाले साधन से शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धरूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, यह सिद्ध हुआ।

---

१४४. अभिप्रायस्य संक्षेपः। १४५ अकलङ्कदेवानामभिप्रायसामस्त्यम्।

१४६ श्रीमद्वादिराजाचार्यो न्यायविनिश्चयविवरणकारः।

१४७. आश्रित्य। १४८. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकम्।

१४९. अन्यथानुपपत्तिरविनाभावः, सा एवैका लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथा साधनम्, न पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणं पञ्चलक्षणं वा बौद्ध–नैयायिकाभिमतम्।

१*. 'विवेद' इति मु प्रतिपाठः। २*. 'च' इति द प्रतौ नास्ति।

[अनुमानं द्विधा विभज्य स्वार्थानुमानस्य निरूपणम्]

२५. [१५०]तदनुमानं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वयमेव [१५१]निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्। [१५२]परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरण[१५३]सहकृताद्धूमादेः साधना-दुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः। यथा-पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वादिति। [१५४]अयं हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूप-स्यापि शब्देनोल्लेखः। यथा ''अयं घटः'' इति शब्देन प्रत्यक्षस्य[१५५]।

[अनुमान दो प्रकार का है, स्वार्थानुमान का निरूपण]

२५. वह अनुमान दो प्रकार का है–१. स्वार्थानुमान और २. परार्थानुमान। उनमें स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान होने को स्वार्थानुमान कहते हैं अर्थात् दूसरे के उपदेश (प्रतिज्ञादिवाक्यप्रयोग) की अपेक्षा न करके स्वयं ही निश्चित किये और पहले तर्क प्रमाण से जाने गये तथा व्याप्ति के स्मरण से सहित धूमादिक साधन से पर्वत आदिक धर्मी में अग्नि आदि साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है। जैसे–यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि धूम पाया जाता है। यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है तथापि समझाने के लिए उसका यह शब्द द्वारा उल्लेख किया गया है। जैसे ''यह घट है'' इस शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष का उल्लेख किया

---

१५०. उक्तलक्षणलक्षितम्। १५१. प्रत्यक्षादिना ज्ञातात्। १५२. प्रतिज्ञादि-वाक्यप्रयोगम्। १५३. ''हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणपूर्वकं जायमानं साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्, यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य ''पर्वतो वह्निमान्'' इति ज्ञानम्। अत्र हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्वावसेयम्''–जैनतर्क भा. पृ. १२.। अनुमाता हि पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा महानसादौ गृहीतव्याप्तिं स्मृत्वा च ''पर्वतोऽयं वह्निमान्'' इत्यनुमिनोति। यत्रेयमनुमितिः परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्साधनाद्भवति तत्स्वार्थानुमानमिति भावः। १५४. ननु स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपत्वात्कथं तस्य ''पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्'' इति शब्देनोल्लेखः? इत्यत आह अयमिति। अनुमाता येन प्रकारेण स्वार्थानुमानं करोति तत्प्रकारप्रदर्शनार्थमेव ज्ञानरूपस्यापि तस्य शब्द-विधयोल्लेखः। भवति हि यथा ''इदं मदीयं पुस्तकम्'' इति शब्देन प्रत्यक्ष-स्याप्युल्लेखः। ततो न कोऽपि दोष इति। १५५. उल्लेख इति पूर्वेण सम्बन्धः।

"पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्" इत्यनेन प्रकारेण प्रमाता जानातीति स्वार्थानुमानस्थितिरित्यव-गन्तव्यम्[१*]।

[स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनम्]

२६. अस्य च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि-[१५६]धर्मी साध्यम् साधनं च। तत्र साधनं [१५७]गमकत्वेनाङ्गम्। साध्यं तु गम्यत्वेन[१५८]। धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन। [१५९]आधारविशेषनिष्ठतया हि साध्यसिद्धिरनुमान-प्रयोजनम्, धर्ममात्रस्य तु व्याप्तिनिश्चयकाल एव सिद्धत्वात् "यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वम्" इति।

जाता है। "यह पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि धूम पाया जाता है" इस प्रकार अनुमाता जानता है-अनुमिति करता है, इस तरह स्वार्थानुमान की स्थिति है अर्थात् स्वार्थानुमान इस प्रकार प्रवृत्त होता है, ऐसा समझना चाहिए।

[स्वार्थानुमान के अंगों का कथन]

२६. इस स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं-१. धर्मी, २. साध्य और ३. साधन। उनमें साधन साध्य का गमक (ज्ञापक) होता है, इसलिए वह गमक रूप से अंग है। साध्य साधन के द्वारा गम्य होता है-जाना जाता है, इसलिए वह गम्यरूप से अंग है और धर्मी साध्यधर्म का आधार होता है, इसलिए वह साध्यधर्म के आधार रूप से अंग है, क्योंकि किसी आधारविशेष में साध्य की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। केवल धर्म की सिद्धि तो व्याप्तिनिश्चय के समय में ही हो जाती है। कारण, "जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है" इस प्रकार की व्याप्ति के ग्रहण समय में साध्यधर्म-अग्नि ज्ञात हो ही जाती है। इसलिए केवल धर्म की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन नहीं है, किन्तु "पर्वत अग्नि वाला है" अथवा "रसोईशाला अग्नि वाली है" इस प्रकार 'पर्वत' या 'रसोईशाला' में वृत्तिरूप से अग्नि का ज्ञान अनुमान से ही होता है। अतः आधारविशेष (पर्वतादिक) में रहने रूप से साध्य (अग्न्यादिक) की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। इसलिए धर्मी भी स्वार्थानुमान का अंग है।

१५६.पक्षः। १५७.ज्ञापकत्वेन। १५८. ज्ञाप्यत्वेन। १५९.धर्मिणः स्वार्थानुमानाङ्गत्वे युक्तिः।

१*. म मु प्रतिषु 'स्थितिरवगन्तव्या' इति पाठः।

२७.[१६०]अथवा[१*], पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात्। तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मिसाध्यसाधनभेदात् त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं वेति सिद्धम्, [१६१]विवक्षाया [१६२]वैचित्र्यात्। [१६३]पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा, [१६४]उत्तरत्र तु[२*] [१६५]तत्समुदायविवक्षा। स एष धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव। तदुक्तमभियुक्तैः—''प्रसिद्धो धर्मी'' (परीक्षा ३-२७) इति।

[धर्मिणस्त्रिधा प्रसिद्धेर्निरूपणम्]

२८. प्रसिद्धत्वं च धर्मिणः [१६६]क्वचित्प्रमाणात्, क्वचिद्विकल्पात्[१६७], क्वचित्प्रमाण विकल्पाभ्याम्। तत्र [१६८]प्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं

---

२७. अथवा स्वार्थानुमान के दो अंग हैं–१. पक्ष और २. हेतु, क्योंकि साध्यधर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहा गया है। इसलिए पक्ष के कहने से धर्म और धर्मी दोनों का ग्रहण हो जाता है। इस तरह स्वार्थानुमान के धर्मी, साध्य और साधन के भेद से तीन अंग अथवा पक्ष और साधन के भेद से दो अंग हैं, यह सिद्ध हो गया। यहाँ दोनों जगह विवक्षा का भेद है। जब स्वार्थानुमान के तीन अंग कथन किये जाते हैं तब धर्मी और धर्म के भेद की विवक्षा है और जब दो अंग कहे जाते हैं तब धर्मी और धर्म के समुदाय की विवक्षा है। तात्पर्य यह कि स्वार्थानुमान के तीन या दो अंगों के कहने में कुछ भी विरोध अथवा अर्थभेद नहीं है। केवल कथन का भेद है। उपर्युक्त यह धर्मी प्रसिद्ध ही होता है, अप्रसिद्ध नहीं। इसी बात को दूसरे विद्वानों ने कहा है–''प्रसिद्धो धर्मी'' अर्थात् धर्मी प्रसिद्ध होता है।

[धर्मी की तीन प्रकार से प्रसिद्धि का निरूपण]

२८. धर्मी की प्रसिद्धि कहीं तो प्रमाण से, कहीं विकल्प से और कहीं प्रमाण तथा विकल्प दोनों से होती है। प्रत्यक्षादिक प्रमाणों में से

---

१६०. प्रकारान्तरेण स्वार्थानुमान-स्याङ्गप्रतिपादनार्थमाह अथवेति। १६१. प्रतिपादनेच्छायाः। १६२. भिन्नत्वात्। १६३. अंगत्रयप्रतिपादने। १६४. अंगद्वयवचने। १६५. धर्मधर्मिणोरैक्यविवक्षा, यतो हि तत्समुदायस्य पक्षत्ववचनात्। १६६. अनुमाने। १६७. प्रतीतेः। १६८. प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनावधृतत्वम्, निश्चितत्वमित्यर्थः।

१*. 'अथवा' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति। २*. द प्रतौ 'तु' स्थाने 'च' पाठः।

प्रमाणप्रसिद्धत्वम्। अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्यय[१*]गोचरत्व विकल्प-प्रसिद्धत्वम्। [१६९]तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम्।

२९. [१७०]प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा—धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः। [१७१]स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते। विकल्पसिद्धो धर्मी यथा—अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः। अथवा, खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम्। सर्वज्ञो ह्यस्तित्वसिद्धेः प्राग् न प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः, अपितु [१७२]प्रतीतिमात्रसिद्ध

किसी एक प्रमाण से धर्मी का निश्चय होना प्रमाणसिद्ध धर्मी है। जिसकी प्रमाणता या अप्रमाणता का निश्चय नहीं हुआ है ऐसे ज्ञान से जहाँ धर्मी की सिद्धि होती है उसे विकल्पसिद्ध धर्मी कहते हैं और जहाँ प्रमाण तथा विकल्प दोनों से धर्मी का निर्णय किया जाता है वह 'प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मी' है।

२९. प्रमाणसिद्ध धर्मी का उदाहरण–''धूम से अग्नि की सिद्धि करने में पर्वत'' है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष से जाना जाता है।

विकल्पसिद्ध धर्मी का उदाहरण इस प्रकार है–''सर्वज्ञ है, क्योंकि उसके सद्भाव के बाधक प्रमाणों का अभाव अच्छी तरह निश्चित है, अर्थात् उसके अस्तित्व का कोई बाधक प्रमाण नहीं है।'' यहाँ सद्भाव सिद्ध करने में सर्वज्ञरूप धर्मी विकल्पसिद्ध धर्मी है अथवा खरविषाण नहीं है, क्योंकि उसको सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव निश्चित है यहाँ अभाव सिद्ध करने में खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी है। सर्वज्ञ सद्भाव सिद्ध करने के पहले प्रत्यक्षादिक किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, किन्तु केवल प्रतीति (कल्पना) से सिद्ध है, इसलिए वह विकल्पसिद्ध धर्मी है।

---

१६९. प्रमाणविकल्पोभयविषयत्वम्।

१७०. उक्तानां त्रिविधधर्मिणां क्रमेणोदाहरणानि प्रदर्शयति प्रमाणेति।

१७१. पर्वतः।

१७२. सम्भावनामात्रसिद्धः, सम्भावना प्रतीतिर्विकल्प इत्येकार्थकाः।

१*. 'अनिश्चितप्रामाण्यप्रत्यय' इति द प्रतिपाठः।

इति विकल्प-सिद्धोऽयं धर्मी। तथा खरविषाणमपि नास्तित्वसिद्धेः प्राग्विकल्प-सिद्धम्[१७३]। [१७४]उभयसिद्धो धर्मी यथा-[१७५]शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः। स हि वर्त्तमानः प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः। स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाण-विकल्पसिद्धो धर्मी। प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः[१७६]। विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि [१७७]सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः। तदुक्तम्-''विकल्पसिद्धे [१७८]तस्मिन् सत्तेतरे[१७९] साध्ये[१८०]'' (परीक्षा ३-२८) इति।

इसी प्रकार खरविषाण असद्भाव सिद्ध करने के पहले केवल कल्पना से सिद्ध है, अतः वह भी विकल्पसिद्ध धर्मी है।

उभयसिद्ध धर्मी का उदाहरण-''शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह किया जाता है-तालु आदि की क्रिया से उत्पन्न होता है।'' यहाँ शब्द है। कारण, वर्तमान शब्द तो प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं, परन्तु भूतकालीन और भविष्यत्कालीन शब्द केवल प्रतीति से सिद्ध हैं और वे समस्त शब्द यहाँ धर्मी हैं, इसलिए 'शब्द' रूप धर्मी प्रमाण तथा विकल्प दोनों से सिद्ध अर्थात् उभयसिद्ध धर्मी है। प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य यथेच्छ होता है-उसमें कोई नियम नहीं होता, किन्तु विकल्पसिद्ध धर्मी में सद्भाव और असद्भाव ही साध्य होते हैं, ऐसा नियम है। कहा भी है-विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दो ही साध्य होते हैं।

---

१७३. तथा चाहुः श्रीमाणिक्यनन्दिनः-''विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेत्तरे साध्ये'' ''अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम्''-परीक्षा. २-२८, २९। १७४. प्रमाण-विकल्पसिद्धः। १७५. अत्र शब्दत्वेन निखिलशब्दानां ग्रहणम्, तेषु वर्तमानशब्दाः श्रावणप्रत्यक्षेण गम्याः सन्ति, भूता भविष्यन्तश्च प्रतीतिसिद्धाः सन्ति, अतः शब्द-स्योभयसिद्धधर्मित्वमिति भावः। १७६. अनियमः। १७७. सत्ता अस्तित्वम्, असत्ता नास्तित्वम्, ते द्वे एवात्र विकल्पसिद्धे धर्मिणि साध्ये भवतः, ''अस्ति सर्वज्ञः'' इत्यादौ सत्ता साध्या, ''नास्ति खरविषाणम्'' इत्यादौ चासत्ता साध्या इत्येवं नियम एव, न प्रमाणोभयसिद्ध-धर्मिवत्कामचारस्तत्रेत्यवसेयम्। १७८. धर्मिणि। १७९. सत्तासत्ते। १८०. भवत इति क्रियाध्याहारः।

३०. तदेवं परोपदेशानपेक्षिणः[१*] साधनाद् [१८१]दृश्यमानाद्धर्मिनिष्ठ-तया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम्। तदुक्तम्-

"परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम्।
यद्द्रष्टु[१८२]र्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते॥" [ ] इति।

(परार्थानुमानस्य निरूपणम्)

३१. परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्। [१८३]प्रतिज्ञा हेतुरूपपरोपदेशवशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनात् साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वा-न्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं [१८४]पर्यालोचयतः [१८५]स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते।

---

३०. इस प्रकार दूसरे के उपदेश की अपेक्षा से रहित स्वयं जाने गये साधन से पक्ष में रहने रूप से साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है, यह दृढ़ हो गया। कहा भी है—"परोपदेश के बिना भी दृष्टा को साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।"

[परार्थानुमान का निरूपण]

३१. दूसरे के उपदेश की अपेक्षा लेकर जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेश की सहायता से श्रोता को जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है, वह परार्थानुमान है। जैसे—"यह पर्वत अग्नि वाला होने के योग्य है, क्योंकि धूम वाला है।" ऐसा किसी के वाक्य प्रयोग करने पर उस वाक्य के अर्थ का विचार और पहले ग्रहण की हुई व्याप्ति का स्मरण करने वाले श्रोता को अनुमान ज्ञान होता है और ऐसे अनुमान ज्ञान का ही नाम परार्थानुमान है।

---

१८१ एतत्पदप्रयोगात् साधनस्य वर्तमानकालिकत्वं प्रकटितं बोद्धव्यम्, तेन भूतभाविधूमादेर्भूतभाविवह्न्यादिसाध्यम् प्रति साधनत्वं निरस्तम्। १८२. अनुमातुः। १८३. कोऽसौ परोपदेश इत्याह प्रतिज्ञाहेतुरूपेति। १८४. विचारयतः। १८५. महानसे पूर्वगृहीतव्याप्तिं स्मरतः।

१*. 'परोपदेशानपेक्षेण' इति आ प्रतिपाठः।

३२. परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्[१८६]; त एवं प्रष्टव्याः तत् किं मुख्यानुमानम् अथ[१*] [१८७]गौणानुमानम् इति? न तावन्मुख्यानुमानम्, वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात्। गौणानुमानं [१८८]तद्वाक्यमिति त्वनुमन्यामहे[१८९], [१९०]तत्कारणे [१९१]तद्व्यपदेशोपपत्तेरायु[२*]र्घृतमित्यादिवत्।

[परार्थानुमानप्रयोजकवाक्यस्य प्रतिज्ञा-हेतुरूपावयवद्वयस्य प्रतिपादनम्]

३३. तस्यैतस्य परार्थानुमानस्याङ्गसम्पत्तिः स्वार्थानुमानवत्।

---

३२. ''परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान है अर्थात् जिस प्रतिज्ञादि पंचावयवरूप वाक्य से सुनने वाले को अनुमान होता है वह वाक्य ही परार्थानुमान है।'' ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर उनका यह कहना ठीक नहीं है। हम उनसे पूछते हैं कि वह वाक्य मुख्य अनुमान है अथवा गौण अनुमान? मुख्य अनुमान तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप है। यदि वह परोपदेश वाक्य गौण अनुमान है तो उसे हम मानते हैं, क्योंकि परार्थानुमान ज्ञान के कारण परार्थानुमान वाक्य में परार्थानुमान का व्यपदेश हो सकता है। जैसे-''घी आयु है'' इत्यादि व्यपदेश होता है। तात्पर्य यह कि परार्थानुमान वाक्य परार्थानुमान ज्ञान के उत्पन्न करने में कारण होता है, अतः उसको उपचार से परार्थानुमान माना गया है।

[परार्थानुमान की अंगसम्पत्ति और उसके अवयवों का प्रतिपादन]

३३. इस परार्थानुमान के अंगों का कथन स्वार्थानुमान की तरह जानना चाहिए अर्थात् उसके भी धर्मी, साध्य और साधन के भेद से तीन

---

१८६. नैयायिकादयः। १८७. औपचारिकानुमानम्। १८८. परोपदेशवाक्यम्। १८९. वयं जैनाः। १९०. परार्थानुमानकारणे परोपदेशवाक्ये। १९१. परार्थानुमान-व्यपदेशघटनात्, तत उपचारादेव परोपदेशवाक्यं परार्थानुमानम्। परमार्थतस्तु तज्जन्यं ज्ञानमेव परार्थानुमानमिति। यदाह श्रीमाणिक्यनन्दी-''परार्थं तु तदर्थपरामर्शि-वचनाज्जातम्''- परीक्षा. ३-५५, ''तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्''-परीक्षा. ३-५६, श्रीहेमचन्द्राचार्योऽप्याह-''यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्'' ''वचनमुपचारात्''-प्रमाणमी. २, १, १-२।

१*. म मु 'अथवा' इति पाठः। २*. म मु 'रायुवै धृतं' इति पाठः।

परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य[1*] द्वाववयवौ–प्रतिज्ञा हेतुश्च। तत्र धर्म-धर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा–"पर्वतोऽयमग्निमान् इति"। साध्याविनाभाविसाधनवचनहेतुः। यथा–"धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः" इति "तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः"–इति वा[2*]। अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्ति-वैचित्र्यमात्रम्[192]। [193]पूर्वत्र धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमर्थः–धूमवत्त्वस्या-ग्निमत्त्वाभावेऽनुपपत्तेरिति निषेधमुखेन कथनम्[3*]। द्वितीये[194] तु धूमवत्त्वोपपत्ते-रित्ययमर्थः–अग्निमत्वे सत्येव धूमवत्त्वस्योपपत्तेरिति विधिमुखेन प्रतिपादनम्[4*]। अर्थस्तु[5*] न भिद्यते, [195]उभयत्राऽप्यविनाभावि-साधनाभिधानाविशेषात्। अतस्तयोर्हेतुप्रयोगयोरन्यतर [196] एव वक्तव्यः, उभयप्रयोगे पौनरुक्त्यात्। तथा चोक्तलक्षणा प्रतिज्ञा, एतयोरन्यतरो

अथवा पक्ष और हेतु के भेद से दो अंग हैं और परार्थानुमान में कारणीभूत वाक्य के दो अवयव हैं–१. प्रतिज्ञा और २. हेतु। धर्म और धर्मी के समुदायरूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे–"यह पर्वत अग्नि वाला है।" साध्य के अविनाभावी साधन के बोलने को हेतु कहते हैं। जैसे–"धूम वाला अन्यथा नहीं हो सकता" अथवा "अग्नि के होने से ही धूम वाला है।" इन दोनों हेतु-प्रयोगों में केवल कथन का भेद है। पहले हेतु-प्रयोग में तो "धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता" इस तरह निषेधरूप से कथन किया है और दूसरे हेतु-प्रयोग में "अग्नि के होने पर ही धूम होता है" इस तरह सद्भावरूप से प्रतिपादन किया है। अर्थ में भेद नहीं है। दोनों ही जगह अविनाभावी साधन का कथन समान है। इसलिए उन दोनों हेतु प्रयोगों में से किसी एक को ही बोलना चाहिए। दोनों के प्रयोग करने में पुनरुक्ति आती है। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रतिज्ञा और इन दोनों

---

१९२. केवलं कथनभेदः। १९३. हेतुप्रयोगे। १९४. हेतुप्रयोगे। १९५. हेतुप्रयोगद्वयेऽपि। १९६. एकतर एव।

१*. द प प्रत्योः 'च वाक्यस्य' इति पाठो नास्ति।

२*. द प प्रत्योः 'च' पाठः। ३*. आ मु म प्रतिषु 'प्रतिपादनम्' इति पाठः।

४*. आ मु म प्रतिषु 'कथनम्' पाठः। ५*. 'अर्थतस्तु' इति द प्रतिपाठः।

हेतुप्रयोगश्चेत्यवयवद्वयं परार्थानुमानवाक्यस्येति स्थितिः, व्युत्पन्नस्य श्रोतुस्ताव[१९७]न्मात्रेणैवानुमित्युदयात्।

[नैयायिकाभिमतपञ्चावयवानां निरासः]

३४. [१९८]नैयायिकास्तु परार्थानुमानप्रयोगस्य यथोक्ताभ्यां द्वाभ्याम-वयवाभ्यां सममुदाहरणमुपनयो निगमनं चेति पञ्चावयवानाहुः। तथा च ते सूत्रयन्ति ''प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'' (न्यायसू.१-१-३२)

हेतु-प्रयोगों में से कोई एक हेतु-प्रयोग, ये दो ही परार्थानुमान वाक्य के अवयव हैं-अंग हैं; क्योंकि व्युत्पन्न (समझदार) श्रोता को प्रतिज्ञा और हेतु इन दो से ही अनुमिति-अनुमान ज्ञान हो जाता है।

[नैयायिकाभिमत पाँच अवयवों का निराकरण]

३४. नैयायिक परार्थानुमान वाक्य के उपर्युक्त प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों के साथ उदाहरण, उपनय तथा निगमन इस तरह पाँच अवयव कहते हैं। जैसा कि वे सूत्र द्वारा प्रकट करते हैं-

''**प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः** (न्याय सू.१/१/३२)

---

१९७. प्रतिज्ञाहेतुद्वयेनैव। १९८. अवयवमान्यतामभिप्रेत्य दार्शनिकानां मतभेदो वर्त्तते। तथा हि नैयायिकास्तावत् मूले प्रदर्शितान् प्रतिज्ञादीन् पञ्चावयवान् प्रतिपेदिरे। नैयायिकैकदेशिनः ''पूर्वोक्ताः पञ्च जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनम् संशयव्युदासः'' (न्यायभा.१-१-३२) इति दशावयवान् वाक्ये संचक्षते। मीमांसकाः ''तत्राबाधित इति प्रतिज्ञा, ज्ञातसम्बन्धनियमस्येत्यनेन दृष्टान्तवचनम्, एकदेशदर्शनादिति हेत्वभिधानम्, तदेवं त्र्यवयवसाधनम्'' (प्रकरणपञ्जि. पृ. ८३) इत्येतान् त्र्यवयवान् मन्यन्ते। सांख्याः ''पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवं साधनम्'' (सांख्य. माठरवृ. का. ५) प्रतिपादयन्ति। बौद्धतार्किक दिग्नागः ''पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते ××× एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते'' (न्याय. पृ. १४, १९) इति प्ररूपयति। केचिन्मीमांसकाः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयान् चतुरोऽवयवान् कथयन्ति (प्रमेयर. ३-३६)। धर्मकीर्तिस्तन्मतानुसारिणो बौद्धाश्च हेतुदृष्टान्ताविति द्वाववयवौ (प्रमाणवा. १-२८, वादन्या. पृ. ६१), ''हेतुरेव हि केवलः''-(प्रमाणवा.१-२८) इति केवलं हेतुरूपमेकमवयवमपि च निरूपयन्ति। वैशेषिकाश्च ''अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेश-निदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः'' (प्रशस्तपादभा. पृ. ११४) इत्युक्तान् पञ्चावयवान् मेनिरे। स्याद्वादिनो जैनास्तु ''एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्'' (परीक्षा. ३-३७) इति प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयमेव मन्यन्त इति विवेकः।

इति। तांश्च ते लक्षणपुरस्सरमुदाहरन्ति च[1*]। तद्यथा–पक्षवचनं प्रतिज्ञा, यथा–पर्वतोऽयमग्निमानिति। साधनत्वप्रकाशार्थं[2*] पञ्चम्यन्तं लिङ्गवचनं हेतुः, यथा धूमवत्त्वादिति। व्याप्तिपूर्वक-दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, यथा-यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम्। यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रद इति वैधर्म्यो-दाहरणम्। पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोरन्वयव्याप्तिः[199] प्रदर्श्यते, द्वितीये तु व्यतिरेक व्याप्तिः[200]। तद्यथा-अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः[201]

अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन; ये पाँच अवयव हैं। उनके वे लक्षणपूर्वक उदाहरण भी देते हैं–पक्ष के प्रयोग करने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे–यह पर्वत अग्नि वाला है। साधनता (साधनपना) बतलाने के लिए पंचमी विभक्ति रूप से लिंग के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे–क्योंकि धूम वाला है। व्याप्ति को दिखलाते हुए दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे–जो-जो धूम वाला है वह-वह अग्नि वाला है। जैसे–रसोई घर। यह साधर्म्य उदाहरण है। जो-जो अग्नि वाला नहीं होता वह-वह धूम वाला नहीं होता। जैसे–तालाब। यह वैधर्म्य उदाहरण है। उदाहरण के पहले भेद में हेतु की अन्वयव्याप्ति (साध्य की मौजूदगी में साधन की मौजूदगी) दिखाई जाती है और दूसरे भेद में व्यतिरेक व्याप्ति (साध्य की गैर मौजूदगी में साधन की गैर मौजूदगी) बतलाई जाती है। जहाँ अन्वयव्याप्ति प्रदर्शित की जाती है, उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं और

---

१९९. साधनसद्भावपूर्वकसाध्यसद्भाव-प्रदर्शनमन्वयव्याप्तिः।

२००. साध्या-भावपूर्वकसाधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेक व्याप्तिः। २०१. ''यत्र प्रयोज्यप्रयोजक भावेन साध्यसाधनयोर्धर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः। यद्यत् कृतकं तत्तदनित्यं दृष्टम्, यथा घट इति''–न्यायक लि. पृ. ११।

१*. मुद्रितप्रतिषु 'च' पाठो नास्ति।

२*. मु म 'प्रकाशनार्थं'।

व्यतिरेक-व्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेक दृष्टान्तः[२०२]। एवं दृष्टान्तद्वैविध्या-त्तद्वचनस्योदाहणस्यापि द्वैविध्यं बोध्यम्। अनयोश्चोदाहरणयोरन्यतरप्रयोगेणैव पर्याप्तत्वादितराप्रयोगः। दृष्टान्तापेक्षया पक्षे[१*]हेतोरुपसंहारवचनमुपनयः[२०३], तथा चायं धूमवानिति। हेतुपूर्वकं पुनः[२*] पक्षवचनं निगमनम्[२०४], तस्मादग्नि-मानेवेति। एते पञ्चावयवाः परार्थानुमानप्रयोगस्य[२०५]। [२०६]तदन्यतमाभावे वीतराग-कथायां[२०७] विजिगीषुकथायां च[३*] नानुमितिरुदेतीति नैयायिकानामभिमतिः[४*]।

जहाँ व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई जाती है, उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त के दो भेद होने से दृष्टान्त के कहने रूप उदाहरण के भी दो भेद जानना चाहिए। इन दोनों उदाहरणों में से किसी एक का ही प्रयोग करना पर्याप्त (काफी) है, अन्य दूसरे का प्रयोग करना अनावश्यक है। दृष्टान्त की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे-इसीलिए यह पर्वत धूमवाला है। हेतुपुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते हैं। जैसे-धूम वाला होने से वह अग्नि वाला है। ये पाँचों अवयव परार्थानुमान प्रयोग के हैं। इनमें से कोई भी एक न हो तो वीतराग कथा में और विजिगीषुकथा में अनुमिति उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नैयायिकों का मानना है।

---

२०२. "यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभावः ख्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः। यत्रानित्यत्वं नास्ति तत्र कृतकत्वमपि नास्ति, यथा आकाश इति" (न्यायक लि. पृ. ११) एतदुभयमधिकृत्य कैश्चिदुक्तम्-"साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता इति" (न्यायवार्तिक पृ.१३७)। २०३. "साधर्म्यवैधर्म्योदाहरणानुसारेण तथेति, न तथेति वा साध्यधर्मिणि हेतोरुपसंहार उपनयः"-न्यायक लि. पृ. १२। २०४. "द्विविधे हेतौ द्विविधे च दृष्टान्ते द्विविधे चोपनये तुल्यमेव हेत्वपदेशेन पुनः साधर्म्योपसंहरणा-न्निगमनम्"-न्यायकलि. पृ. १२। २०५. "ते इमे प्रतिज्ञादयो निगमनान्ताः पञ्चावयवाः स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तिमुत्पादयितुमिच्छता यथानिर्दिष्टक्रमकाः प्रयोक्तव्याः। एतदेव साधनवाक्यं परार्थानुमानमाचक्षते।"-न्यायक लि. पृ. १२। २०६. प्रतिज्ञादीनामेक-तमस्याऽप्यभावे। २०७. "वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा-वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति।" -न्यायसार पृ. १५।

१*. मु 'पक्षहेतोः'। २*. मुद्रितप्रतिषु 'पुनः' नास्ति।
३*. आ म मु प्रतिषु 'वा' पाठः। ४*. म मु प्रतिषु 'मतम्'।

३५. तदेतदविमृश्याभिमननम्; वीतरागकथायां[1*] प्रतिपाद्याशयानुरोधेनावयवाधिक्येऽपि विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्तेः किमप्रयोजनैरन्यैरवयवैः।

(विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव सार्थक्यमिति कथनम्)

३६. तथा हि वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्त्तमानो [208]वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा। गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा[2*] रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णय पर्यन्तं परस्परं प्रवर्त्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा[209]। तत्र[210] विजिगीषुकथा वाद इति चोच्यते[211]। [212]केचि-

---

३५. पर उनका यह मानना अविचारपूर्ण है; क्योंकि वीतरागकथा में शिष्यों के अभिप्राय को लेकर अधिक भी अवयव बोले जा सकते हैं। परन्तु विजिगीषुकथा में प्रतिज्ञा और हेतुरूप दो ही अवयव बोलना पर्याप्त है, अन्य अवयवों का बोलना वहाँ अनावश्यक है। इसका खुलासा इस प्रकार है–

विजिगीषुकथा में प्रतिज्ञा, हेतु रूप अवयव की ही सार्थकता

३६. वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जीत–हार होने तक जो परस्पर (आपस) में वचनप्रवृत्ति (चर्चा) होती है वह विजिगीषुकथा कहलाती है और गुरु तथा शिष्यों में अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानों में तत्त्व (वस्तुस्वरूप) के निर्णय होने तक जो आपस में चर्चा की जाती है, वह वीतरागकथा है। इनमें विजिगीषुकथा को वाद

---

२०८. वचनप्रवृत्तिः। २०९. जयपराजयाभिप्रायरहिता तत्त्वजिज्ञासया क्रियमाणा तत्त्वचर्चा वीतरागकथा इति भावः। २१०. उभयोर्मध्ये। २११. यथोक्तम्–

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये।
वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः॥ न्यायवि. का. ३८२।

२१२. नैयायिकाः–''गुर्वादिभिः सह वादः ××× गुर्वादिभिः सह वादोपदेशात्, यस्मादयं तत्त्वबुभुत्सुर्गुर्वादिभिः सह त्रिविधं (अनधिगततत्त्वावबोधम्, संशयनिवृत्तिम्, अध्यवसिताभ्यनुज्ञानम्) फलमाकाङ्क्षन् वादं करोति।''–न्यायवा. पृ. १४९। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञ–योच्यते।''–न्यायसार पृ. १५।

१*. द प प्रत्योः 'वीतरागकथायां तु' इति पाठः। २*. द 'वा' पाठो नास्ति।

द्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति, तत्पारिभाषिकमेव[२१३]। न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारः, विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्व-प्रसिद्धेः[१*]। यथा स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः सर्वे[२*]सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति। तस्मिंश्च वादे परार्थानुमानवाक्यस्य प्रतिज्ञा हेतुरित्यवयवद्वय-मेवोपकारकम्, नोदाहरणादिकम्। तद्यथा-लिंगवचनात्मके न हेतुना तावदवश्यं भवितव्यम्, लिङ्गज्ञानाभावेऽनुमितेरेवानुदयात्। पक्षवचनरूपया प्रतिज्ञयाऽपि भवितव्यम्, [२१४]अन्यथाऽभिमतसाध्यनिश्चयाभावे साध्य-सन्देहवतः श्रोतुरनु-मित्यनुदयात्। तदुक्तम्-''एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्''[२१५] (परीक्षा ३-३७) इति। अयमर्थः—एतयोः प्रतिज्ञाहेत्वोर्द्वयमेवानुमानस्य

कहते हैं। कोई (नैयायिक) वीतरागकथा को भी वाद कहते हैं। पर वह स्वग्रहमान्य ही है, क्योंकि लोक में गुरु-शिष्य आदि की सौम्यचर्चा को वाद (शास्त्रार्थ) नहीं कहा जाता। हाँ, हार-जीत की चर्चा को अवश्य वाद कहा जाता है। जैसे स्वामी समन्तभद्राचार्य ने सभी एकान्तवादियों को वाद में जीत लिया अर्थात् विजिगीषुकथा में उन्हें विजित कर लिया और उस वाद में परार्थानुमान वाक्य के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कार्यकारी हैं, उदाहरणादिक नहीं। इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सबसे पहले लिंगवचनरूप हेतु अवश्य होना चाहिए, क्योंकि लिंग का ज्ञान न हो, तो अनुमिति ही उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसी प्रकार पक्ष-वचनरूप प्रतिज्ञा का भी होना आवश्यक है। नहीं तो अपने इष्ट साध्य का किसी आधारविशेष में निश्चय नहीं होने पर साध्य के सन्देह वाले श्रोता को अनुमिति पैदा नहीं हो सकती। कहा भी है—''एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्'' (परीक्षा. ३-३७) इसका अर्थ यह है कि प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान अर्थात् परार्थानुमान के अंग (अवयव) हैं। यहाँ सूत्र में 'वादे' शब्द को

---

२१३. कथनमात्रम्, न तु वास्तविकम्। २१४. प्रतिज्ञाया अभावे।

२१५. ''एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्'' इत्युपलब्धसूत्रपाठः।

१*. द 'सिद्धेः' पाठः। २*. द 'सर्वे' पाठो नास्ति।

परार्थानुमानस्याङ्गम्। वाद इति शेषः। एवकारेणावधारणपरेण[२१६] नोदाहरणादिकमिति सूचितं [२१७] भवति। [२१८] व्युत्पन्नस्यैव हि वादाधिकारः, प्रतिज्ञाहेतुप्रयोग[१*] मात्रेणैवोदाहरणादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात्। गम्यमान-स्याऽप्यभिधाने[२१९] [२२०]पौनरुक्त्यप्रसङ्गादिति[२*]।

३७.[२२१]स्यादेतत्, प्रतिज्ञाप्रयोगेऽपि पौनरुक्त्यमेव, [२२२]तदभिधेयस्य पक्षस्यापि [२२३]प्रस्तावादिना गम्यमानत्वात्। तथा च लिङ्गवचन[३*]

और जोड़ लेना चाहिए। जिसका तात्पर्य यह है कि विजिगीषुकथा में परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अंग हैं। यहाँ सूत्र में अवधारणार्थक एवकार शब्द के प्रयोग द्वारा उदाहरणादिक का व्यवच्छेद किया गया है अर्थात् उदाहरण आदिक परार्थानुमान के अवयव नहीं हैं, यह प्रकट किया गया है, क्योंकि वाद (शास्त्रार्थ) का अधिकार व्युत्पन्न को ही है और व्युत्पन्न केवल प्रतिज्ञा तथा हेतु के प्रयोग से ही जानने वाले उदाहरण आदि के प्रतिपाद्य अर्थ को जानने में समर्थ है। उसको जानने के लिए उदाहरणादिक की आवश्यकता नहीं है। यदि गम्यमान (जाना जाने वाले) अर्थ का भी पुनः कथन किया जाये, तो पुनरुक्तता का प्रसंग आता है। तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा और हेतु के द्वारा जान लेने पर भी उस अर्थ के कथन के लिए उदाहरणादिक का प्रयोग करना पुनरुक्त है। अतः उदाहरणादिक परार्थानुमान के अंग नहीं हैं।

३७. शंका—यदि ऐसा है तो प्रतिज्ञा के कहने में भी पुनरुक्तता आती है; क्योंकि प्रतिज्ञा द्वारा कहा जाने वाला पक्ष भी प्रकरण, व्याप्तिप्रदर्शन आदि के द्वारा ज्ञात हो जाता है। इसलिए लिंगवचनरूप एक हेतु का ही

---

२१६. इतरव्यवच्छेदकेन। २१७. ज्ञापितम्। २१८. वादकरणसमर्थस्यैव वक्तुः। २१९. वचने। २२०. पुनर्वचनं पौनरुक्त्यम्। २२१. सौगतः शङ्कते। २२२. प्रतिज्ञायाः प्रतिपाद्यस्य। २२३. प्रकरणव्याप्तिप्रदर्शनादिना।

१*. द प प्रत्योः 'प्रतिज्ञाहेतुमात्रे' इति पाठः। २*. मु 'इति' नास्ति। ३*. द 'वचन' नास्ति।

लक्षणो हेतुरेक एव वादे प्रयोक्तव्य[२२४] इति वदन् बौद्धपशुरात्मनो [२२५]दुर्विदग्धत्व[१*] मुद्घोषयति[२२६]। हेतुमात्रप्रयोगे व्युत्पन्नस्यापि साध्यसन्देहा-निवृत्ते:[२२७]। तस्मादवश्यं प्रतिज्ञा प्रयोक्तव्या। तदुक्तम्–''साध्यसन्देहाप-नोदार्थं[२२८] गम्यमान-स्यापि पक्षस्य वचनम्'' (परीक्षा ३-३४) इति। तदेवं[२२९] वादापेक्षया परार्थानु-मानस्य प्रतिज्ञाहेतुरूपमवयवद्वयमेव, न न्यूनं न[२*] चाधिकमिति स्थितम्। [२३०]प्रपञ्च: पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षाया-मीक्षणीय:[२३१]।

(वीतरागकथायामधिकावयवप्रयोगस्यौचित्यसमर्थनम्)

३८. वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन[२३२] प्रतिज्ञाहेतू

विजिगीषुकथा में प्रयोग करना चाहिए।

समाधान—बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है। इस प्रकार कहकर वे अपनी जड़ता को प्रकट करते हैं; क्योंकि केवल हेतु के प्रयोग करने पर व्युत्पन्न को भी साध्य के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। कहा भी है–''साध्य (साध्यधर्म के आधार) का सन्देह दूर करने के लिए प्रकरण आदि के द्वारा जाना गया भी पक्ष बोलना चाहिए।'' इस प्रकार वाद की अपेक्षा से परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतुरूप दो ही अवयव हैं, न कम हैं और न अधिक, यह सिद्ध हुआ। इस तरह अवयवों का यह संक्षेप में विचार किया, विस्तार से पत्रपरीक्षा से जानना चाहिए।

वीतरागकथा में अधिक अवयवों के बोले जाने के औचित्य का समर्थन

३८. वीतरागकथा में तो शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा और हेतु ये दो भी अवयव हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन भी हैं। प्रतिज्ञा,

---

२२४. प्रतिज्ञामन्तरेण केवलस्य हेतोरेव प्रयोग: करणीय:, ''हेतुरेव हि केवल:'' इति धर्मकीर्तिवचनात्। २२५. जाड्यम्। २२६. प्रकटयति। २२७. साध्यस्य सन्देहो न निवर्त्तते। २२८. साध्यसंशयनिवृत्त्यर्थम्। २२९. विजिगीषुकथामाश्रित्य। २३०. विस्तर:। २३१. दृष्टव्य:। २३२. प्रतिपाद्या: शिष्यास्तेषामाशयोऽभिप्रायस्तदपेक्षया।

१*. प मु 'दुर्विदग्धता' पाठ:। २*. 'नाधिक' इति मु प्रतिपाठ:।

द्वाववयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा[1*]पञ्चेति यथायोग[2*] प्रयोगपरिपाटी[233]। तदुक्तं कुमारनन्दि-भट्टारकैः—

''प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः'' - (वादन्याय.....) इति।

तदेवं प्रतिज्ञादिरूपात्परोपदेशादुत्पन्नं[234] परार्थानुमानम्।

तदुक्तम् -

परोपदेशसापेक्षं साधनात्साध्यवेदनम्[235]।
श्रोतुर्यज्जायते सा हि परार्थानुमितिर्मता॥ (   ) इति।

हेतु, उदाहरण और उपनय ये चार भी हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच भी हैं। इस तरह यथायोग रूप से प्रयोगों की यह व्यवस्था है। इसी बात को श्रीकुमारनन्दि भट्टारक ने कहा है कि—प्रयोगों के बोलने की व्यवस्था प्रतिपाद्यों के अभिप्रायानुसार करनी चाहिए—''जो जितने अवयवों से समझ सके उसे उतने अवयवों का प्रयोग करना चाहिए।''

इस प्रकार प्रतिज्ञा आदिरूप परोपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। कहा भी है—''जो दूसरे के प्रतिज्ञादिरूप उपदेश की अपेक्षा लेकर श्रोता को साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान माना गया है।''

---

२३३. परार्थानुमानवाक्यावयववचनसमुदायः प्रयोगपरिपाटी। अत्रायं भावः— वीतरागकथायामवयवप्रयोगस्य न कश्चिन्नियमः तत्र यावद्भिः प्रयोगैः प्रतिपाद्यो बोधनीयो भवति तावन्तस्ते प्रयोक्तव्याः। दृश्यन्ते खलु केचिद् द्वाभ्यामवयवाभ्यां प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते, केचन त्रिभिरवयवैः अपरे चतुर्भिरवयवैः अन्ये पञ्चभिरवयवैः अत उक्तं ''प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः'' इति। अत एव च परानुग्रहप्रवृत्तैः शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यावबोधनदृष्टिभिस्तथैव प्ररूपणात्। व्युत्पन्नप्रज्ञानां तु न तथाऽनियमः तेषां कृते तु प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव पर्याप्तत्वादस्ति तादृङ्नियमः। २३४. ज्ञानम्। २३५. साध्यज्ञानम्।

१*. द 'वा' नास्ति।

२*. म मु 'यथायोग्यं' पाठः।

तथा च स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधमनुमानं साध्याविनाभाव-निश्चयैकलक्षणाद्धेतोरुत्पद्यते।

(बौद्धाभिमतत्रैरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः)

३९. इत्थमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरनुमितिप्रयोजक[२३६] इति [२३७]प्रथितेऽप्यार्हते[१*] मते तदेतदवितर्क्यान्ये[२३८]ऽन्यथा[२३९]ऽप्याहुः। तत्र तावत्ताथागताः ''पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणा[२*] ल्लिङ्गादनुमानोत्थानम्'' इति वर्णयन्ति[२४०]। तथा हि-पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति हेतोस्त्रीणि रूपाणि। तत्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा[२४१]धूम-

इस तरह अनुमान के स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद हैं और ये दोनों ही अनुमान साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है ऐसे हेतु से उत्पन्न होते हैं।

बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण—

३९. इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह प्रसिद्ध हो जाता है कि अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट हेतु अनुमिति में कारण है। तथापि इसका विचार न करके दूसरे (बौद्धादिक) अन्य प्रकार भी हेतु का लक्षण कहते हैं। उनमें बौद्ध पक्षधर्मत्व आदिक तीन लक्षण वाले हेतु से अनुमान की उत्पत्ति वर्णित करते हैं। वह इस प्रकार से है—पक्ष-धर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति ये तीन हेतु के रूप (लक्षण) हैं। उनमें साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में पर्वत पक्ष

२३६.जनक इत्यर्थः। २३७. प्रसिद्धे। २३८. सौगतादयः। २३९. त्रैरुप्यादिकम्। २४०. अयमभिप्रायो बौद्धानाम्— नान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणं साधनम्, अपि तु पक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम् , तेनैवासिद्धत्वादिदोषपरिहारात्। उक्तं च—

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः। असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥

—प्रमाणवा. १-१६।

''हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम् सपक्षे सत्त्वम् विपक्षे चासत्त्वमिति।'' न्यायप्र. पृ. १। अत्र न्यायबिन्दुटी. पृ. ३१, ३३। वादन्याय. पृ. ६०। तत्त्वसं. पृ. ४०४ इत्याद्यपि दृष्टव्यम्। २४१. धूमध्वजो वह्निः धूमस्य तज्ज्ञापकत्वात्।

१*. म मु 'अर्हतमते' पाठः। २*. द प 'लक्षणलिङ्गा' इति पाठः।

ध्वजानुमाने पर्वतः, तस्मिन् व्याप्य वर्त्तमानत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम्। साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्षः, यथा तत्रैव[२४२] महानसः, तस्मिन् सर्वत्रैकदेशे वा वर्त्तमानत्वं हेतोः सपक्षे सत्त्वम्। साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्षः, यथा तत्रैव ह्रदः[१*], [२४३]तस्मात्सर्वस्माद् व्यावृत्तत्वं हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्ति[२४४]। तानीमानि त्रीणि रूपाणि मिलितानि हेतोर्लक्षणम्। [२४५]अन्यतमाभावे हेतोराभासत्वं[२४६] स्यादिति।

४०. [२४७]तदसङ्गतम्; कृत्तिकोदयादेर्हेतोरपक्षधर्मस्य[२४८] शकटोदयादि-साध्यगमकत्वदर्शनात्। तथा हि—''शकटं मुहूर्त्तान्ते उदेष्यति कृत्तिकोदया-

---

होता है। उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतु का रहना पक्ष धर्मत्व है। अर्थात् हेतु का पहला रूप यह है कि उसे पक्ष में रहना चाहिए। साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही महानस (रसोई का घर) सपक्ष होता है। उस सपक्ष में सब जगह अथवा एक जगह हेतु का रहना सपक्ष-सत्त्व है। यह हेतु का दूसरा रूप है। साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही तालाब विपक्ष है। उन सभी विपक्षों से हेतु का व्यावृत्त होना अर्थात् उनमें नहीं रहना विपक्ष व्यावृत्ति है। यह हेतु का तीसरा रूप है। ये तीनों रूप मिलकर हेतु का लक्षण है। यदि इनमें से कोई एक भी न हो तो वह हेत्वाभास है—असम्यग् हेतु है।

४०. उनका यह वर्णन संगत नहीं है; क्योंकि पक्ष-धर्मत्व के बिना भी कृत्तिकोदयादिक हेतु शकटोदयादि साध्य के ज्ञापक देखे जाते हैं। वह इस प्रकार से—''शकट नक्षत्र का एक मुहूर्त्त के बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है।'' इस अनुमान में

---

२४२. धूमध्वजानुमाने। २४३. ह्रदादिसर्वविपक्षात्। २४४. विपक्षावृत्तित्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः। २४५. प्रोक्तरूपत्रयाणामेकैकापाये। २४६. तन्नामको हेत्वाभासः स्यादिति भावः। तथा च पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वम्, सपक्षसत्त्वविरहे विरुद्धत्वम् विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे चानैकान्तिक त्वमिति। २४७. ग्रन्थकारः समाधत्ते तदसङ्गतमिति। २४८. पक्षेऽवर्तमानस्य।

१*. आ म मु 'महाह्रदः' इति पाठः।

दिति।'' अत्र हि—शकटं धर्मी,[१*] मुहूर्त्तान्तोदयः[२*] साध्यः, कृत्तिकोदयो हेतुः। न हि कृत्तिकोदयो हेतुः पक्षीकृते शकटे वर्त्तते, अतो न पक्षधर्मः। [२४९]तथाप्यन्थानुपपत्तिबलाच्छकटोदयाख्यं साध्यं गमयत्येव[२५०]। तस्माद् बौद्धाभिमतं हेतोर्लक्षणमव्याप्तम्[२५१]।

(नैयायिकाभिमतपाञ्चरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः)

४१. नैयायिकास्तु पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमाचक्षते। तथा हि पक्षधर्मत्वम् सपक्षे सत्त्वम् विपक्षाद्व्यावृत्तिः अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रति-पक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि। [२५२]तत्राद्यानि [२५३]त्रीण्युक्तलक्षणानि। साध्य-विपरीत-निश्चायक-प्रबल-प्रमाण-रहितत्वमबाधित-विषयत्वम्।

'शकट नक्षत्र' धर्मी (पक्ष) है, ''एक मुहूर्त्त के बाद उदय'' साध्य है और 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' हेतु है। किन्तु ''कृत्तिका नक्षत्र का उदय'' रूप हेतु पक्षभूत 'शकट' नक्षत्र में नहीं रहता, इसलिए वह पक्षधर्म नहीं है अर्थात् ''कृत्तिका नक्षत्र का उदय'' रूप हेतु पक्षधर्म से रहित है। फिर भी वह अन्यथानुपपत्ति के होने से (कृत्तिका के उदय हो जाने पर ही शकट का उदय होता है और कृत्तिका के उदय न होने पर शकट का उदय नहीं होता है) शकट के उदयरूप साध्य का ज्ञान कराता ही है। अतः बौद्धों के द्वारा माना गया हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अव्याप्ति दोष सहित है।

नैयायिक सम्मत पाँचरूप्य हेतु का कथन और उसका निराकरण

४१. नैयायिक पाँचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। वह इस तरह से है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व; ये पाँच रूप हैं। उनमें प्रथम के तीन रूपों के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेष दो के लक्षण यहाँ कहे जाते हैं। साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले बलिष्ठ प्रमाणों का न होना अबाधित-विषयत्व

---

२४९. पक्षधर्मत्वाऽभावेऽपि। २५०. किञ्च ''उपरि वृष्टिरभूत् अधोपूरान्यथा-नुपपत्तेः'' इत्यादावपि पक्षधर्मत्वं नास्ति तथापि गमकत्वं सर्वैरभ्युपगम्यते अन्यथा-नुपपत्तिसद्भावात्। अतः सैव हेतोः प्रधानं लक्षणमस्तु? किं त्रैरूप्येण। २५१. अव्याप्ति-दोषदूषितम्। अपि च ''बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्'' इत्यत्र पक्षधर्मत्वादि-रूपत्रयसद्भावेनातिव्याप्तम्। २५२. तेषु। २५३. पक्षधर्मत्वादीनि।

१*. मु 'शकटः पक्षः' पाठः। २*. म मु 'मुहूर्तान्ते उदयः' पाठः।

तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रति-पक्षत्वम्। तद्यथा-पर्वतोऽयमग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवानसा[1*]वसावग्निमान्, यथा महानसः, यो योऽग्निमान्न भवति स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रदः, तथा चायं धूम-वांस्तस्मादग्निमानेवेति। [२५४]अत्र ह्यग्निमत्त्वेन साध्यधर्मेण विशिष्टः पर्वताख्यो धर्मी पक्षः, धूमवत्त्वं हेतुः। [२५५]तस्य च तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते पर्वते वर्त्तमानत्त्वात्। सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति, सपक्षे महानसे वर्त्तमानत्वात्। [२५६]ननु केषुचित्सपक्षेषु धूमवत्त्वं न वर्त्तते, अङ्गारावस्था-पन्नाग्निमत्सु प्रदेशेषु धूमाभावात्, इति चेत्; न; सपक्षैकदेशवृत्तेरपि हेतुत्वात्, सपक्षे सर्वत्रैकदेशे वा वृत्तिर्हेतोः सपक्षे सत्त्वमित्युक्तत्वात्।

है और साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले समान बल के प्रमाणों का न होना असत्प्रतिपक्षत्व है। इन सबको उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझिये-यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है, जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्निवाला होता है, जैसे-रसोईघर, जो-जो अग्निवाला नहीं होता, वह-वह धूमवाला नहीं होता, जैसे-तालाब, चूँकि यह धूमवाला है, इसलिए अग्निवाला जरूर ही है। इस पाँच अवयवरूप अनुमान प्रयोग में अग्निरूप साध्यधर्म से युक्त पर्वतरूप धर्मी पक्ष है, 'धूम' हेतु है। उसके पक्षधर्मता है, क्योंकि वह पक्षभूत पर्वत में रहता है। सपक्षसत्त्व भी है, क्योंकि सपक्षभूत रसोईघर में रहता है।

शंका—किन्हीं सपक्षों में धूम नहीं रहता है, क्योंकि अंगाररूप अग्नि वाले स्थानों में धुँआ नहीं होता। अतः सपक्षसत्त्व हेतु का रूप नहीं है?

समाधान—नहीं; सपक्ष के एक देश में रहने वाला भी हेतु है, क्योंकि पहले कह आये हैं कि "सपक्ष में सब जगह अथवा एक जगह हेतु का रहना सपक्षसत्त्व है।" इसलिए अंगाररूप अग्नि वाले स्थानों में धूम के न रहने पर भी रसोई घर आदि सपक्षों में रहने से उसके सपक्षसत्त्व रहता ही है। विपक्षव्यावृत्ति भी उसके हैं, क्योंकि धूम तालाब आदि सभी

---

२५४. वह्न्यनुमाने। २५५. धूमवत्त्वस्य। २५६. यौगं प्रति परः शङ्कते नन्विति।

१*. म मु प्रतिषु 'स स' इति पाठः।

विपक्षाद्व्या-वृत्तिरप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य सर्वमहाह्रदादि-विपक्ष[1*]व्यावृत्तेः। [257]अबाधितविषयत्वमप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य हेतोर्यो विषयोऽग्निमत्त्वाख्यं साध्यं तस्य प्रत्यक्षादि[258] प्रमाणाबाधितत्वात्। [259]असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, अग्निरहितत्वसाधकसमबलप्रमाणासम्भवात्। [260]तथा च पाञ्चरूप्य[2*] सम्पत्तिरेव धूमवत्त्वस्य[3*] स्वसाध्यसाधकत्वे[261] निबन्धनम्। एवमेव सर्वेषामपि[262] सद्धेतूनां रूपपञ्चकसम्पत्तिरूहनीया[263]।

४२. तदन्यतमविरहादेव खलु पञ्च हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धा-नैकान्तिक-कालात्यापदिष्ट-प्रकरणसमाख्याः सम्पन्नाः[264]। तथा[265] हि-

---

विपक्षों से व्यावृत्त है-वह उनमें नहीं रहता है। अबाधितविषयत्व भी है, क्योंकि धूमहेतु का जो अग्निरूप साध्य विषय है वह प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्नि के अभाव का साधक तुल्य बल वाला कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार पाँचों रूपों का सद्भाव ही धूम हेतु के अपने साध्य की सिद्धि करने में प्रयोजक (कारण) है। इसी तरह सभी सम्यक् हेतुओं में पाँचों रूपों का सद्भाव समझना चाहिए।

४२. इनमें से किसी एक रूप के न होने से ही असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्यापदिष्ट और प्रकरण सम नाम के पाँच हेत्वाभास आपन्न होते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है-

पक्ष में जिसका रहना अनिश्चित हो वह असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे-''शब्द अनित्य (नाशवान्) है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता

---

२५७. धूमवत्त्वे पक्षधर्मत्वादित्रयं समर्थ्याबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चापि शेषरूपद्वयं समर्थयति प्रकरणकारोऽबाधितेत्यादिना। २५८. आदिपदादनुमाना-गमादिग्रहणम्। २५९. न विद्यते प्रतिपक्षो यस्य सोऽसत्प्रतिपक्षस्तस्य भावस्तत्त्वम् प्रतिद्वन्द्विहेतुरहितत्त्वमित्यर्थः। न ह्यत्र ''पर्वतो नाग्निमान् अमुकत्वात्'' इत्येवंभूतमग्नि-रहितत्वसाधकं किञ्चित् समबलप्रमाणं वर्त्तते। ततोऽसत्प्रतिपक्षत्वं धूमवत्त्वस्य। २६०. उक्तमेवोपसंहरति तथा चेति। २६१. स्वपदेन धूमवत्त्वं तस्य साध्यं वह्निस्तत्प्रसाधने। २६२. कृतकत्वादीनाम्। २६३. विचारणीया। २६४. पक्षधर्मत्वादीनामेकैकापायात्। २६५. तानेवोपदर्शयति।

१*. आ म मु 'विपक्षाद्व्या' इति पाठः।

२*. द 'पञ्चरूप' पाठः। ३*. आ प म मु 'स्व' नास्ति।

[२६६]**अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः, यथा–''अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्''। अत्र हि चाक्षुषत्वं हेतुः पक्षीकृते शब्दे न वर्त्तते, श्रावणत्वाच्छब्दस्य। तथा च पक्षधर्मविरहादसिद्धत्वं चाक्षुषत्वस्य। साध्यविपरीतव्याप्तो**[२६७] **विरुद्धः, यथा–''नित्यः शब्दः कृतकत्वात्'' इति। कृतकत्वं हेतुः साध्यभूतनित्यत्व-विपरीतेनानित्यत्वेन**[२६८]**''व्याप्तः**[१*]**, सपक्षे**[२*] **गगनादावविद्यमानो**[३*] **विरुद्धः।** [२६९]**सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, यथा–''अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्'' इति। प्रमेयत्वं हि हेतुः** [४*] **साध्यभूतमनित्यत्वं व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे**[२७०]

है।'' यहाँ ''चक्षु इन्द्रिय से जाना जाना'' हेतु पक्षभूत शब्द में नहीं रहता है। कारण, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से जाना जाता है। इसलिए पक्षधर्मत्व के न होने से ''चक्षु इन्द्रिय से जाना जाना'' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

साध्य से विपरीत–साध्याभाव के साथ जिस हेतु की व्याप्ति हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे–''शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक है–किया जाता है।'' यहाँ 'किया जाना'' रूप हेतु अपने साध्यभूत नित्यत्व से विपरीत अनित्यत्व के साथ रहता है और सपक्ष आकाशादि में नहीं रहता। अतः विरुद्ध हेत्वाभास है।

जो हेतु व्यभिचार सहित (व्यभिचारी) हो–साध्य के अभाव में भी रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जैसे–''शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है'' यहाँ 'प्रमेयत्व'–प्रमेयपना हेतु अपने साध्य–अनित्यत्व का व्यभिचारी है। कारण, आकाशादिक विपक्ष में नित्यत्व के साथ भी वह रहता है। अतः विपक्ष से व्यावृत्ति न होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

---

२६६. न निश्चिता पक्षे वृत्तिर्यस्य सोऽसिद्धः। २६७. साध्याद् (नित्यत्वादेः) विपरीतं यत् (अनित्यत्वादि) तेन सह व्याप्तो व्याप्तिमान् हेतुः स विरुद्धो हेत्वाभासः। २६८. नियमेन वर्तमानः। २६९. साध्यासत्त्वे हेतुसत्त्वं व्यभिचारस्तेन सहितः सव्यभिचारः। साध्याभाववद्वृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारीत्यर्थः। २७०. अनित्यत्वाभाववति।

१*. मु 'व्याप्तत्वात्' पाठः। २*. मु 'सपक्षे च' पाठः।

३*. मु 'वविद्यमानत्वात्' पाठः।

४*. द आ प्रत्योः 'हेतुः' नास्ति।

नित्यत्वेनापि सह वृत्तेः। ततो विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावादनैकान्तिकः[1*]। [२७१]बाधितविषयः [२७२]कालात्ययापदिष्टः। [२७३]यथा–अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात् इति। अत्र हि पदार्थत्वं हेतुः स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्त्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्टः। [२७४]प्रतिसाधन-प्रतिरुद्धो[2*] हेतुः [२७५]प्रकरणसमः, [२७६]यथा–''अनित्यः शब्दो नित्यधर्मरहित-त्वात् इति। अत्र हि नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतुः प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः[3*]। किं तत्प्रतिसाधनम्? इति चेत्; नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्व-

---

जिस हेतु का विषय साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे–''अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है'' यहाँ 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय 'ठण्डापन' में, जो कि अग्नि की गर्मी को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से बाधित है, प्रवृत्त है। अतः अबाधित विषयता न होने के कारण 'पदार्थत्व' हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

विरोधी साधन जिसका मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे–''शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्मरहित है'' यहाँ 'नित्यधर्म-रहितत्व' हेतु का प्रतिपक्षी साधन मौजूद है। वह प्रतिपक्षी साधन कौन है? ''शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य के धर्मों से रहित है'' इस प्रकार नित्यता का साधन करना, उसका प्रतिपक्षी साधन है। अतः असत्प्रतिपक्षता के न होने से ''नित्यधर्म-रहितत्व'' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है।

---

२७१. प्रत्यक्षादिना बाधितो विषयः साध्यं यस्य हेतोः स बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टो नाम। २७२. एतन्नामकश्चतुर्थो हेत्वाभासः। तथा चोक्तम्–प्रत्यक्षामागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः। अबाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकालः तमतीत्यासावुपदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्धः। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्धः। –न्यायक लि. पृ. १५। २७३. कालात्ययापदिष्टमुदाहरति यथेति। २७४. विरोधिसाधनं प्रतिसाधनम् तेन साध्यप्रत्यायनं प्रति रुद्धोऽसमर्थीकृतो यो हेतुः स प्रकरणसमो नाम पञ्चमो हेत्वाभासः। २७५. जयन्तभट्टस्तु प्रकरणसममित्थं लक्षयति–''विशेषाग्रहणात् प्रकरणे पक्षे संशयो भवति–नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वेति। तदेव विशेषाग्रहणं भ्रान्त्या हेतुत्वेन प्रयोज्यमानं प्रकरणसमो हेत्वाभासो भवति। अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः घटवदिति नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धे-राकाशवदिति। न चानयोरन्यतरदपि साधनं बलीयः यदितरस्य बाधकमुच्येत''–न्यायकलि. पृ. १५। २७६. असत्प्रतिपक्षापरनामप्रकरणसम-मुदाहरणद्वारा दर्शयति यथेति। **१*. द 'कम्'।२*. द 'विरुद्धो' पाठः। ३*. द 'विरुद्धः' पाठः।**

साधनम्। तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतोः। तस्मात्पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमन्यतमाभावे हेत्वाभासत्वप्रसङ्गादिति सूक्तम्। हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमानाः खलु हेत्वाभासाः[२७७]। पञ्चरूपान्यतमशून्यत्वाद्धेतुलक्षणरहितत्वम्, कतिपय-रूपसम्पत्तेर्हेतुवदव-भासमानत्वम्'' ( ) इति वचनात्।

४३. [२७८]तदेतदपि नैयायिकाभिमतमनुपपन्नम्, कृत्तिकोदयस्य पक्षधर्मरहितस्यापि शकटोदयं प्रति हेतुत्वदर्शनात्पाञ्चरूप्यस्याव्याप्तेः।

४४.[२७९]किञ्च, केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वोः पाञ्च-रूप्याभावेऽपि गमकत्वं तैरेवाङ्गीक्रियते। तथा हि —ते मन्यन्ते [२८०]त्रिविधो हेतुः—अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी चेति।

इस कारण पाँचरूपता हेतु का लक्षण है। उनमें से किसी एक के न होने पर हेतु के हेत्वाभास होने का प्रसंग आयेगा, यह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि जो ''हेतु के लक्षण से रहित हों और हेतु के समान प्रतीत होते हों वे हेत्वाभास हैं। पाँच रूपों में से किसी एक के न होने से हेतुलक्षण से रहित है और कुछ रूपों के होने से हेतु के समान प्रतीत होते हैं, ऐसा वचन है।

४३. नैयायिकों के द्वारा माना गया हेतु का यह पाँचरूपता लक्षण भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि पक्षधर्म से शून्य भी कृत्तिका का उदय शकट के उदयरूप साध्य का हेतु देखा जाता है। अतः पाँचरूपता अव्याप्ति दोष से सहित है।

४४. दूसरी बात यह है कि नैयायिकों ने ही केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन दोनों हेतुओं को पाँचरूपता के बिना भी गमक (ज्ञापक) स्वीकार किया है। वह इस प्रकार से है—उन्होंने हेतु के तीन भेद माने हैं— १.अन्वयव्यतिरेकी, २. केवलान्वयी और ३. केवलव्यतिरेकी।

---

२७७. ''अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः''—न्यायकलि. पृ. १५। २७८. त्रैरूप्य-वत्पाञ्चरूप्यमपि। २७९. नैयायिकमतानुसारेणैव पुनरव्याप्ति दर्शयति किञ्चेति। २८०. अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः यथा—अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे

तत्र पञ्चरूपोप-पन्नोऽन्वयव्यतिरेकी। यथा-शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः; यद्यदनित्यं न भवति तत्तत् कृतकं न भवति[1*] यथाऽऽकाशम्, तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति। अत्र शब्दं [281]पक्षीकृत्यानित्यत्वं साध्यते। तत्र कृतकत्वं हेतुस्तस्य पक्षीकृतशब्द-धर्मत्वात्पक्षधर्मत्वमस्ति। सपक्षे घटादौ वर्त्तमानत्वाद्विपक्षे गगनादाव-वर्त्तमानत्वादन्वयव्यतिरेकित्वम्।

४५.पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा-''अदृष्टादयः

उनमें जो पाँच रूपों से सहित है, वह अन्वयव्यतिरेकी है। जैसे- ''शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है-किया जाता है, जो-जो किया जाता है वह-वह अनित्य है, जैसे-घड़ा, जो-जो अनित्य नहीं होता वह वह किया नहीं जाता, जैसे-आकाश और किया जाता है यह शब्द, इसलिए अनित्य ही है।'' यहाँ शब्द को पक्ष करके उसमें अनित्यता सिद्ध की जा रही है। अनित्यता के सिद्ध करने में ''किया जाना'' हेतु है। वह पक्षभूत शब्द का धर्म है। अतः उसके पक्षधर्मत्व है। सपक्ष घटादिकों में रहने और विपक्ष आकाशादिक में न रहने से सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति भी है। हेतु का विषय साध्य (अनित्यत्व) किसी प्रमाण से बाधित न होने से अबाधितविषयत्व और प्रतिपक्षी साधन न होने से असत्प्रतिपक्षत्व भी विद्यमान है। इस तरह ''किया जाना'' हेतु पाँचों रूपों से विशिष्ट होने के कारण अन्वयव्यतिरेकी है।

४५. जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह केवलान्वयी है। जैसे- ''अदृष्ट (पुण्य-पाप) आदिक किसी के प्रत्यक्ष हैं,

---

सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति। अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनो, यथा सर्वानित्यत्ववादिनामनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। अस्य हि विपक्षो नास्ति। व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति-न्यायवा. पृ. ४६।

२८१. धर्मिणं कृत्वा।

---

१. द आ 'यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः यदनित्यं न भवति तत्कृतकं न भवति' इति पाठः।

कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्, यथा-ऽग्न्यादि'' इति। अत्रादृष्टादयः पक्षः, कस्यचित् प्रत्यक्षत्वं साध्यम्, अनुमेयत्वं हेतुः अग्न्याद्यन्वयदृष्टान्तः। अनुमेयत्वं हेतुः पक्षीकृतेऽदृष्टादौ वर्त्तते, सपक्षभूतेऽग्न्यादौ वर्त्तते। ततः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति। विपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि पक्ष[1*]सपक्षान्तर्भावात्तस्माद्वि-पक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्येव। [282]व्यावृत्तेरवधिसापेक्षत्वात्, अवधिभूतस्य च विपक्षस्याभावात्। शेषमन्वयव्यतिरेकि वद् द्रष्टव्यम्।

४६.पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। यथा-''जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात्, यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठम् इति।'' अत्र जीवच्छरीरं पक्षः,

---

क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे-अग्नि आदि।'' यहाँ 'अदृष्ट आदिक' पक्ष है, ''किसी के प्रत्यक्ष'' साध्य है, ''अनुमान से जाना जाना'' हेतु है, 'अग्नि आदि' अन्वय दृष्टान्त है।''अनुमान से जाना जाना'' हेतु पक्ष बनाये गये ''अदृष्ट आदिक'' में रहता है और सपक्ष किये 'अग्नि आदि' में रहता है। अतः पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व है तथा विपक्ष यहाँ कोई है नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष के भीतर आ गये हैं। इस कारण विपक्षव्यावृत्ति है ही नहीं। कारण, व्यावृत्ति अवधि (सीमा) को लेकर होती है और व्यावृत्ति की अवधि विपक्ष है, वह यहाँ है नहीं। बाकी कथन अन्वयव्यतिरेकी की तरह समझना चाहिए।

४६. जो पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवलव्यतिरेकी है। जैसे-''जिन्दा शरीर जीव सहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है। जो जो जीव सहित नहीं होता वह-वह प्राणादि वाला नहीं होता, जैसे-लोष्ठ (मिट्टी का ढेला)।'' यहाँ ''जिन्दा शरीर'' पक्ष है, ''जीवसहितत्व'' साध्य है, 'प्राणादि' हेतु है

---

२८२. व्यावृत्तिर्ह्यवधिमपेक्ष्य भवति अवधिश्च विपक्षः स चात्र नास्त्येव। ततोऽवधिभूतविपक्षाभावान्न विपक्षव्यावृत्तिः केवलान्वयिनि हेताविति भावः।

१*. द 'पक्षान्तर्भावा-' पाठः।

सात्मकत्वं साध्यम्, प्राणादिमत्त्वं हेतुः, लोष्ठादिर्व्यतिरेकदृष्टान्तः। प्राणादिमत्त्वं हेतुः पक्षीकृते जीवच्छरीरे वर्त्तते। विपक्षाच्च लोष्ठादेर्व्यावर्त्तते। सपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि[१*] पक्षविपक्षान्तर्भावादिति। शेषं पूर्ववत्।

४७.एवमेतेषां त्रयाणां हेतूनां मध्येऽन्वयव्यतिरेकिण एव पाञ्चरूप्यम्, केवलान्वयिनो विपक्षव्या[२*]वृत्तेरभावात्, केवलव्यतिरेकिणः सपक्षे[३*] सत्त्वाभावाच्च नैयायिकमतानुसारेणैव पाञ्चरूप्य-व्यभिचारः[२८३]। अन्यथा-नुपपत्तेस्तु सर्वहेतुव्याप्तत्वाद्धेतुलक्षणत्वमुचितम्, [२८४]तदभावे हेतोः स्वसाध्य-गमकत्वाघटनात्।

४८.यदुक्तम्—''असिद्धादिदोषपञ्चकनिवारणाय पञ्चरूपाणि'' () इति, तन्न; अन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चितत्वस्यैवास्मदभिमतलक्षणस्य

और 'लोष्ठादिक' व्यतिरेक दृष्टान्त है। 'प्राणादि' हेतु पक्षभूत 'जिन्दा शरीर' में रहता है और विपक्ष लोष्ठादिक से व्यावृत्त है– वहाँ वह नहीं रहता है तथा सपक्ष यहाँ है ही नहीं, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और विपक्ष के अन्तर्गत हो गये। बाकी कथन पहले की तरह जानना चाहिए।

४७. इस तरह इन तीनों हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकी हेतु के ही पाँचरूपता है। केवलान्वयी हेतु के विपक्षव्यावृत्ति नहीं है और केवलव्यतिरेकी के सपक्षसत्त्व नहीं है। अतः नैयायिकों के मतानुसार ही पाँचरूप्य हेतु का लक्षण अव्याप्त है। पर अन्यथानुपपत्ति सभी (केवलान्वयी आदि) हेतुओं में व्याप्त है–रहती है। इसलिए उसे ही हेतु का लक्षण मानना ठीक है। कारण उसके बिना हेतु अपने साध्य का गमक (ज्ञापक) नहीं हो सकता है।

४८. जो यह कहा गया था कि ''असिद्ध आदिक पाँच हेत्वाभासों के निवारण करने के लिए पाँच रूप हैं'', वह ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति विशिष्टरूप से निश्चितपना ही, जो हमने हेतु लक्षण माना

---

२८३. अत्र व्यभिचारपदेनाव्याप्तिदोषो विवक्षितः। २८४. अन्यथानुपपत्तेरभावे।

१*. द 'पक्षान्तर्भा–'। २*. आ प म मु 'विपक्षव्यावृत्त्यभावात्' ३*. 'सपक्षसत्वाभावात्'।

[२८५]तन्निवारकत्वसिद्धेः। [२८६]तथा हि–साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चय-पथप्राप्तत्वं खलु हेतोर्लक्षणम्, ''साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः'' (परीक्षा ३-१५) इति वचनात्। न [२८७]चैतदसिद्धस्यास्ति। शब्दानित्यत्व-साधनायाभिप्रेतस्य [२८८]चाक्षुषत्वादेः स्वरूपस्यैवाभावे कुतोऽन्यथानुपपत्ति-मत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिः? ततः साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथ-प्राप्त्यभावादेवास्य हेत्वाभासत्वम्, न तु पक्षधर्मत्वाभावात्, [२८९]अपक्ष-

---

है, उन असिद्धादिक हेत्वाभासों का निराकरण करने वाला सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि केवल एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानने से असिद्धादिक सभी दोषों का वारण हो जाता है। वह इस प्रकार से है–

जो साध्य का अविनाभावी है–साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के बिना नहीं होता तथा निश्चयपथ को प्राप्त है अर्थात् जिसका ज्ञान हो चुका है वह हेतु है, क्योंकि ''जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है वह हेतु है'' ऐसा वचन है और यह अविनाभाव असिद्ध के नहीं है। शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए जो ''चक्षु इन्द्रिय का विषय'' हेतु बोला जाता है वह शब्द का स्वरूप ही नहीं है अर्थात् शब्द में चक्षु इन्द्रिय की विषयता ही नहीं है तब उसमें अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट रूप से निश्चयपथप्राप्ति अर्थात् अविनाभाव का निश्चय कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। अतः साध्य के साथ अविनाभाव का निश्चय न होने से ही ''चक्षु इन्द्रिय का विषय'' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, न कि पक्षधर्मता के अभाव होने से। कारण, पक्षधर्मता के बिना भी

---

२८५. असिद्धादिदोषव्यवच्छेदकत्वप्रसिद्धेः। २८६. ननु कथमेकेनान्यथानु-पपत्तिलक्षणेनासिद्धादिपञ्चहेत्वाभासानां निराकरणम्? इत्यत आह तथा हीति। २८७. साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वम्। २८८. ''शब्दोऽनित्य-श्चाक्षुषत्वात्'' इत्यत्र शब्देऽनित्यत्वसाधनाय प्रयुक्तस्य चाक्षुषत्व-हेतोः स्वरूपत्वमेव नास्ति। यतो हि शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वम् न तु चाक्षुषत्वम्। अतो न चाक्षुषत्वा-देरन्यथानुपपन्नत्वम्। तदभावादेव चास्यासिद्धत्वमितिज्ञेयम्। २८९. पक्षधर्मरहितस्य।

धर्मस्यापि कृत्तिकोदयादेर्यथोक्त[२९०] लक्षणसम्पत्तेरेव सद्धेतुत्वप्रतिपादनात्। विरुद्धादेस्तदभावः[२९१] स्पष्ट एव। न हि विरुद्धस्य व्यभिचारिणो बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य वा[१*]ऽन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथ-प्राप्तिरस्ति। तस्माद्यस्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति योग्यदेशनिश्चयपथ-प्राप्तिरस्तीति स एव सद्धेतुरपरस्तदाभास इति स्थितम्।

४९. किंच[२९२], ''गर्भस्थो मैत्रीतनयः[२*] श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रीत-नयत्वात्, सम्प्रतिपन्नमैत्रीतनयवत्'' इत्यत्रापि त्रैरूप्य-पाञ्चरूप्ययोर्बौद्ध-योगाभिमतयोरतिव्याप्तेरलक्षणत्वम्[२९३]। तथाहि - परिदृश्यमानेषु पञ्चसु मैत्रीपुत्रेषु श्यामतामुपलभ्य [२९४]तद्गर्भगतमपि[३*] विवादापन्नं पक्षीकृत्य

कृत्तिकोदयादि हेतुओं को उक्त अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु लक्षण के रहने से ही सद्धेतु-सम्यक् हेतु कहा गया है और विरुद्धादिक हेत्वाभासों में अन्यथानुपपत्ति का अभाव प्रकट ही है क्योंकि स्पष्ट ही विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष के अविनाभाव का निश्चय नहीं है। इसलिए जिस हेतु के अन्यथानुपपन्नत्व का योग्य देश में निश्चय है वही सम्यक् हेतु है उससे भिन्न हेत्वाभास है, यह सिद्ध हो गया।

४९. दूसरे, ''गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र श्याम (काला) होना चाहिए, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह।'' यहाँ हेत्वाभास के स्थान में भी बौद्धों के त्रैरूप्य और नैयायिकों के पाञ्चरूप्य हेतुलक्षण की अतिव्याप्ति है, इसलिए त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है-मैत्री के मौजूद पाँच पुत्रों में कालेपन को देखकर मैत्री के गर्भस्थ पुत्र को भी, जो कि

---

२९०. साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथ-प्राप्तत्वलक्षणसद्भावादेव। २९१. साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथ-प्राप्तत्वाभावः। २९२. त्रैरूप्यपाञ्च-रूप्ययोरतिव्याप्तिप्रदर्शनार्थमाह किञ्चेत्यादि।

२९३. लक्षणाभासत्वम्। २९४. मैत्रीगर्भस्थम्।

१*. द प्रतौ 'वा' स्थाने 'च' पाठः। २*. आ द प्रत्योः सर्वत्र 'मैत्र' स्थाने 'मैत्री' शब्दः प्रयुक्तः। जैनतर्कभाषायां (पृ. १८) स्त्रीलिङ्गवाचको 'मित्रा' शब्दः प्रयुक्तः। ३*. द प आ 'तद्भार्यागर्भगतमपि' पाठः।

श्यामत्वसाधनाय प्रयुक्तो मैत्रीतनयत्वाख्यो हेतुराभास[२९५] इति तावत्प्रसिद्धम्, अश्यामत्वस्यापि तत्र[२९६] सम्भावितत्वात्। तत्सम्भावना च श्यामत्वं प्रति मैत्रीतनयत्वस्यान्यथानुपपत्त्यभावात्[२९७]। [२९८]तदभावाश्च सहक्रमभाव-नियमाभावात्।

५०.यस्य हि[१*] धर्मस्य येन धर्मेण सहभावनियमः स तं गमयति। यथा शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन सहभावनियमोऽस्तीति शिशपात्वं हेतुर्वृक्षत्वं गमयति। यस्य च[२*] क्रमभावनियमः स तं गमयति। यथा धूमस्याग्न्यनन्तर-भावनियमोऽस्तीति धूमोऽग्निं गमयति। [२९९]न हि मैत्रीतनयत्वस्य हेतुत्वाभि-

---

विवादग्रस्त है, पक्ष करके उसमें कालेपन को सिद्ध करने के लिए जो ''मैत्री का पुत्रपना'' हेतु प्रयुक्त किया जाता है, वह हेत्वाभास है-सम्यक् हेतु नहीं है, यह प्रसिद्ध ही है, क्योंकि उसमें गोरेपन की भी सम्भावना की जा सकती है और वह सम्भावना 'कालेपन' के साथ ''मैत्री का पुत्रपना'' की अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) न होने से होती है और अन्यथानुपपत्ति का अभाव इसलिए है कि कालेपन के साथ मैत्री के पुत्रपने का न तो सहभाव नियम है और न क्रमभाव नियम।

५०. जिस धर्म का जिस धर्म के साथ सहभाव नियम-एक साथ होने का स्वभाव होता है, वह उसका ज्ञापक होता है अर्थात् वह उसे जनाता है। जैसे शिंशपात्व का वृक्षत्व के साथ सहभाव नियम है, इसलिए शिंशपात्व हेतु वृक्षत्व को जनाता है और जिसका जिसके साथ क्रमभाव नियम-क्रम से होने का स्वभाव होता है वह उसका ज्ञान कराता है। जैसे-धुँए का अग्नि के बाद होने का नियम है, इसलिए धुँआ अग्नि का ज्ञान कराता है। प्रकृत में ''मैत्री के पुत्रपने'' हेतु का 'कालेपन' साध्य के

---

२९५. असद्धेतुः। २९६. गर्भस्थे मैत्रीतनये। २९७. न हि श्यामत्वेन सह मैत्रीतनयत्वस्यान्यथानुपपत्तिरस्ति, गौरत्वेनापि तस्य वृत्तिसम्भवात्। २९८. अन्यथानुपपत्त्यभावः अन्यथानुपपत्तिरविनाभावः। स च द्विविधः-सहभावनियमः क्रमभावनियमश्च। तदेतद्द्विविधस्याप्यत्राभावादिति भावः। २९९. ननु मैत्रीतनयत्वस्य

१*. द 'हि' नास्ति। २*. आ म 'यस्य यत्क्रमभावनियमः' मु 'यस्य येन क्रम...'।

मतस्य श्यामत्वेन साध्यत्वाभिमतेन सहभावः क्रमभावो वा [१*]नियमोऽस्ति, येन मैत्रीतनयत्वं हेतुः श्यामत्वं साध्यं गमयेत्।

५१.यद्यपि सम्प्रतिपन्नमैत्रीपुत्रेषु श्यामत्वमैत्रीतनयत्वयोः सह-भावोऽस्ति तथापि नासौ नियतः[३००]। मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु इत्येवंरूपे विपक्षे[३०१] बाधकाभावात्[३०२]। विपक्षे बाधकप्रमाणबलात्खलु हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिनिश्चयः[२*]। व्याप्तिनिश्चयतः सह भावः क्रमभावो वा। ''सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः'' (परीक्षा० ३-१६) इति वचनात्।

साथ न तो सहभाव नियम है और न क्रमभाव नियम है जिससे कि ''मैत्री का पुत्रपना'' हेतु 'कालेपन' साध्य का ज्ञान कराये।

५१. यद्यपि विद्यमान मैत्री के पुत्रों में ''कालेपन'' और ''मैत्री का पुत्रपन'' का सहभाव है– दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं, पर वह सहभाव नियत नहीं है–नियमरूप में नहीं है, क्योंकि कोई यदि यह कहे कि गर्भस्थ पुत्र में ''मैत्री का पुत्रपन'' तो हो, किन्तु 'कालापन' न हो, तो इस प्रकार विपक्ष (व्यभिचारशंका) में कोई बाधक नहीं है– उक्त व्यभिचार की शंका को दूर करने वाला अनुकूल तर्क नहीं है अर्थात् यहाँ ऐसा तर्क नहीं है कि ''यदि कालापन न हो तो मैत्री का पुत्रपन भी नहीं हो सकता है'' क्योंकि मैत्रीपुत्र में ''मैत्री के पुत्रपन'' के रहने पर भी 'कालापन' सन्दिग्ध है और विपक्ष में बाधक प्रमाणों–व्यभिचारशंका निवर्त्तक अनुकूल तर्कों के बल से ही हेतु और साध्य में व्याप्ति का निश्चय होता है तथा व्याप्ति के निश्चय से सहभाव अथवा क्रमभाव का निर्णय होता है, क्योंकि ''सहभाव और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं'' ऐसा

श्यामत्वेन सहभावः क्रमभावो वा नियमोऽस्तु तथा च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वं गमयेदेव इत्याशंकायामाह न हीत्यादि। ३००. नियमेन वर्त्तमानः। ३०१. व्यभिचारशङ्कायाम्। ३०२. तन्निवर्त्तकानुकूलतर्काभावात्। अत्रायम्भावः ''हेतुरस्तु साध्यं माऽस्तु'' इत्येवं व्यभिचारशङ्कायां सत्यां यदि तन्निवर्त्तकं ''यदि साध्यं न स्यात्तर्हि हेतुरपि न स्यात् वह्न्यभावे धूमाभाववत्'' इत्येवंभूतं विपक्षबाधकं प्रमाणमस्ति तदाऽसौ हेतुः सद्धेतुर्भवति विपक्षबाधकप्रमाणाभावे च न सद्धेतुः तथा च ''मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु''

१*. द आ प म प्रतिषु 'नियतो' पाठः। २*. द 'नियमः'

[३०३]विवादाध्यासितो वृक्षो भवितुमर्हति शिंशपात्वात्। या या शिंशपा स स वृक्षः, यथा सम्प्रतिपन्न इति। अत्र हि हेतुरस्तु साध्यं मा भूदित्येतस्मिन् विपक्षे सामान्य-विशेषभावभङ्गप्रसङ्गो बाधकः। वृक्षत्वं हि सामान्यं शिंशपात्वं तद्विशेषः। न हि विशेषः सामान्याभावे सम्भवति। न चैवं मैत्रीतनयत्व-मस्तुश्यामत्वं माऽस्तु इत्युक्ते किञ्चिद्बाधकमस्ति। तस्मान्मैत्रीतनयत्वं हेत्वाभास एव। तस्य[१*] तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते गर्भस्थे तत्सद्भावात्। सपक्षेषु सम्प्रतिपन्नपुत्रेषु[२*] तस्य विद्यमानत्वात्सपक्षे

वचन है। विवाद में पड़ा हुआ पदार्थ वृक्ष होना चाहिए, क्योंकि वह शिंशपा (शीशम) है, जो-जो शिंशपा होती है वह-वह वृक्ष होता है। जैसे—ज्ञात शिंशपा वृक्ष। यहाँ यदि कोई ऐसी व्यभिचारशंका करे कि हेतु (शिंशपा) रहे साध्य (वृक्षत्व) न रहे तो सामान्य-विशेषभाव के नाश का प्रसंगरूप बाधक मौजूद है अर्थात् उस व्यभिचारशंका को दूर करने वाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व न हो तो शिंशपा नहीं हो सकती; क्योंकि वृक्षत्व सामान्य है और शिंशपा उसका विशेष है और विशेष सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ सामान्य-विशेषभाव के भङ्ग होने का प्रसंगरूप बाधक मौजूद है। किन्तु ''मैत्री का पुत्रपन हो कालापन न हो'' ऐसा कहने में (व्यभिचार शंका प्रकट करने में) कोई बाधक नहीं है अर्थात् उस व्यभिचार शंका को दूर करने वाला कोई अनुकूल तर्क कि —यदि कालापन न हो तो मैत्री का पुत्रपन नहीं हो सकता है—नहीं है, क्योंकि गोरेपन के साथ भी मैत्री के पुत्रपन का रहना सम्भव है। अतः ''मैत्री का पुत्रपन'' हेतु हेत्वाभास ही है अर्थात् वह सन्दिग्धानैकान्तिक है। उसके पक्षधर्मता है, क्योंकि पक्षभूत गर्भस्थ में मैत्रीपुत्र में रहता है। सपक्ष किए गये मौजूद मैत्रीपुत्रों में रहने से सपक्ष-

---

इत्यत्र श्यामत्वाभावे मैत्रीतनयत्वस्यासत्वापादने न खलु ''यदि श्यामत्वं न स्यात्तर्हि मैत्रीतनयत्वमपि न स्यात्'' इत्येवंभूतं किञ्चि-द्विपक्षबाधकं वर्त्तते, यतः गर्भस्थे मैत्रीतनये मैत्रीतनयत्वस्य सत्त्वेऽपि श्यामत्वस्य सन्दिग्धत्वादिति। ३०३. पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति विवादाध्यासितेत्यादिना।

१*. 'तत्र तावत्प' पाठः। २*. मु 'सम्प्रतिपन्नेषु'।

सत्त्वमप्यस्ति। विपक्षेभ्यः पुन[३०४]रश्यामेभ्यश्चैत्रपुत्रेभ्यो व्यावर्त्तमानत्वा-द्विपक्षाद्व्यावृत्तिरस्ति। [३०५]विषयबाधाभावादबाधितविषयत्वमस्ति। न हि गर्भस्थस्य श्यामत्वं केनचिद् बाध्यते। असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, प्रतिकूलसमबलप्रमाणाभावात्। इति पाञ्चरूप्यसम्पत्तिः। त्रैरूप्यं तु [३०६]सहस्त्रशतन्यायेन[१*] सुतरां सिद्धमेव।

(अन्यथानुपपन्नत्वमेव हेतोर्लक्षणमित्युपपादनम्)

५२.ननु च न पाञ्चरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम्। किं तर्हि? [३०७]अन्यथानुप-पत्त्युपलक्षितमेव लक्षणमिति[२*] चेत्; तर्हि [३०८]सैवैका तल्लक्षणमस्तु[३*] [३०९]तदभावे पाञ्चरूप्यसम्पत्तावपि मैत्रीतनयत्वादौ न हेतुत्वम्। तत्सद्भावे

सत्त्व भी है और विपक्ष गोरे चैत्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्षव्यावृत्ति भी है। कोई बाधा नहीं है, इसलिए अबाधितविषयता भी है, क्योंकि गर्भस्थ पुत्र का कालापन किसी प्रमाण से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षता भी है, क्योंकि विरोधी समान बल वाला प्रमाण नहीं है। इस प्रकार ''मैत्री के पुत्रपन'' में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो ''हजार में सौ'' के न्याय से स्वयं सिद्ध हैं अर्थात् जिस प्रकार हजार में सौ आ ही जाते हैं उसी प्रकार मैत्री पुत्रपन में पाँच रूपों के दिखा देने पर तीन रूप भी प्रदर्शित हो जाते हैं।

अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु-लक्षण होने की सिद्धि

५२. यहाँ यदि कहा जाये कि केवल पाँचरूपता हेतु का लक्षण नहीं है, किन्तु अन्यथानुपपत्ति से विशिष्ट ही पाँचरूपता हेतु का लक्षण है तो उसी एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानिये; क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के अभाव में पाँचरूपता के रहने पर भी ''मैत्री का पुत्रपन''

---

३०४. गौरेभ्यः। ३०५. विषयः साध्यम्, तच्चात्र श्यामत्वरूपम्, तस्य प्रत्यक्षादिना बाधाभावात्। ३०६. यथा सहस्त्रे शतमायात्येव तथा मैत्रीतनयत्वे पाञ्चरूप्यप्रदर्शिते त्रैरूप्यं प्रदर्शितमेवेति बोध्यम्। ३०७. अन्यथानुपपत्तिविशिष्टमेव पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षण-मित्यर्थः। ३०८. अन्यथानुपपत्तिरेवान्यनिरपेक्षा। ३०९. कारणमाह तदभावे इति तथा च हेतोः स्वसाध्यगमकत्वे अन्यथानुपपन्नत्वमेव प्रयोजकम् न त्रैरूप्यं न च पाञ्चरूप्य-मिति ध्येयम्।

१*. आ मु 'सहस्त्रे शतान्येन'। २*. मु 'अन्यथानुपपत्त्युपलक्षणमिति' पाठः।
३*. प 'सैवैकान्ताल्लक्षणमस्तु' पाठः। मु 'सैवैकायन्तलक्षणमस्तु' इति पाठः।

पाञ्चरूप्याभावेऽपि कृत्तिकोदयादौ हेतुत्वमिति। तदुक्तम् –

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्[३१०]॥
( ) इति बौद्धान् प्रति॥

५३.यौगं[१*] प्रति तु–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः[२*]॥
(प्रमाणपरीक्षा पृ. ७२) इति।

आदि हेतुओं में हेतुता नहीं है और उसके सद्भाव में पाँचरूपता के न होने पर भी 'कृत्तिकोदय' आदि में हेतुता है। कहा भी है–

अर्थ–जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ तीन रूपों के मानने से क्या? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या? तात्पर्य यह कि त्रैरूप्य अन्यथानुपपत्ति के बिना अभिमत फल का सम्पादक नहीं है–व्यर्थ है। यह त्रैरूप्य को मानने वाले बौद्धों के लिए उत्तर है और पाँच रूपों को मानने वाले नैयायिकों के लिए तो निम्न उत्तर है–

५३. जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ पाँच रूपों के मानने से क्या? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पाँच रूपों के सद्भाव से भी क्या? मतलब यह कि अन्यथानुपपत्ति के बिना पाँच रूप सर्वथा अन्यथासिद्ध हैं–निष्फल हैं।

---

३१०. कारिकेयं तत्त्वसंग्रहकृता पात्रस्वामिकर्तृका निर्दिष्टा। सिद्धि-विनिश्चयटीकाकृता तु भगवत्सीमन्धरस्वामिनः प्रदर्शिता। न्यायविनिश्चयविवरणे आराधनाकथाकोशे च भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पद्मावतीदेव्या पात्रस्वामिने

१*. मुद्रितप्रतिषु 'यौगान्' इति पाठः।

२*. यह कारिका प्रमाण-परीक्षा में कुछ परिवर्तन के साथ निम्नप्रकार उपलब्ध है –

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतम्॥

(हेतुं विधिप्रतिषेधरूपाभ्यां द्विधा विभज्य तयोरवान्तरभेदानां कथनम्)

५४. [३११]**सोऽयमन्यथानुपपत्तिनिश्चयैकलक्षणो हेतुः संक्षेपतो द्विविधः—विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्चेति।** [३१२]**विधिरूपोऽपि द्विविधः- विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति। तत्राद्यो**[३१३]**ऽनेकधा। तद्यथा— कश्चित्कार्यरूपः, यथा—"पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः" इत्यत्र धूमः। धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतस्तदभावे**[३१४] **ऽनुपपद्यमानो**[३१५]**ऽग्निं गमयति। कश्चित्कारण-रूपः, यथा-"वृष्टिर्भविष्यति** [३१६]**विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेः" इत्यत्र मेघ-विशेषः। मेघविशेषो हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति।**

हेतु के भेदों और उपभेदों का कथन

५४. यह अन्यथानुपपत्ति के निश्चयरूप एक लक्षण वाला हेतु संक्षेप में दो तरह का है—१. विधिरूप और २. प्रतिषेधरूप। विधिरूप हेतु के भी दो भेद हैं—१. विधिसाधक और २. प्रतिषेध साधक। इनमें से पहले विधिसाधक के अनेक भेद हैं—१. कोई कार्यरूप है, जैसे—"यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता" यहाँ 'धूम' कार्यरूप हेतु है। कारण, धूम अग्नि का कार्य है और वह उसके बिना न होता हुआ अग्नि का ज्ञान कराता है। २. कोई कारणरूप है, जैसे—"वर्षा होगी, क्योंकि विशेष बादल अन्यथा हो नहीं सकते" यहाँ "विशेष बादल" कारण हेतु हैं, क्योंकि विशेष बादल वर्षा के कारण है और अपने कार्यभूत वर्षा का बोध कराते हैं।

समर्पितेति समुल्लिखतम्। समुद्धृता च निम्नग्रन्थेषु–

तत्त्वसं. पृ. ४०६, न्यायविनि. का. ३२३, सिद्धिविनि. टी. २, पृ. ३७२, धवला पु. १३, पृ. २४६, तत्त्वार्थश्लो. पृ. २०३, २०५। प्रमाणप. पृ. ७२, जैनतर्कवार्त्तिक पृ. १३५, सूत्रकृताङ्ग टी. पृ. २२५, प्रमाणमी. पृ. ४०, सन्मति टी. पृ. ५६०, स्या. रत्ना. पृ. ५२१, इत्थं चेयं कारिका जैनपरम्परायां सर्वत्र प्रतिष्ठिता। ३११. हेतुलक्षणं विस्तरतः प्रदर्श्याधुना तत्प्रकारनिरूपणार्यमाह सोऽयमिति। ३१२. सद्भावात्मकः। ३१३. विधिसाधकः। ३१४. अग्न्यभावे। ३१५. अनुपपन्नः। ३१६. यथा चोक्तम्–

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिसङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः॥"–न्यायम. पृ. १२९।

५५.[३१७]ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु, कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्तेः। कारणं तु कार्याभावेऽपि सम्भवति, यथा–धूमाभावेऽपि सम्भवन् वह्निः सुप्रतीतः। अतएव वह्निर्न धूमं गमयतीति चेत्; तन्न; उन्मीलितशक्तिकस्य[३१८] कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात्।

---

५५. शंका– कार्य तो कारण का ज्ञापक हो सकता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता, किन्तु कारण कार्य के अभाव में भी सम्भव है, जैसे–धूम के बिना भी अग्नि देखी जाती है। अतएव अग्नि धूम की गमक नहीं होती। अतः कारणहेतु को मानना ठीक नहीं है?

समाधान– नहीं; जिस कारण की शक्ति प्रकट है– अप्रतिहत है वह कारण कार्य का व्यभिचारी नहीं होता–नियम से कार्य का जनक होता है। अतः ऐसे कारण को कार्य का ज्ञापक हेतु मानने में कोई विरोध नहीं है।

''रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः (तमसन्निभाः)।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥''–षड्दर्श. २०।
ईदृशाः खलु विशिष्टमेघा वृष्टिं गमयन्त्येवेति भावः।

३१७. सौगतः शङ्कते नन्विति, तेषामयमाशयः–नावश्य कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति नियमः, अतश्च कारणं न कार्यस्य गमकं व्यभिचारात्, कार्यं तु कारणसत्त्वे एव भवति तदभावे च न भवति, अतस्तत्तु गमकमिष्टम्, तन्न युक्तम् ''यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम्। यद्वदेवाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः। अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम्। यदाह–

एक सामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्॥ –प्रमाणवा. १–१०।

''न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः। अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम्।''–प्रमाणमी. १–२–१२। ''रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्ध–कारणान्तरावैकल्ये।'' परीक्षामु. ३–६०। किञ्च, अस्त्यत्र छाया छत्रादित्यादौ छत्रादेर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन हेतुत्वमवश्यं स्वीकार्यमस्ति। ततो न कारणहेतोरपह्नवः कर्त्तुं शक्य इति भावः। ३१८. प्रकटितसामर्थ्यस्य।

५६.कश्चिद्विशेषरूपः[३१९], यथा–वृक्षोऽयं शिंशपात्वान्यथानुपपत्ते-रित्यत्र (शिंशपा) शिंशपा हि वृक्षविशेषः सामान्यभूतं वृक्षं गमयति। न हि वृक्षाभावे वृक्षविशेषो घटत इति। कश्चित्पूर्वचरः, यथा–उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः[१*], कृत्तिकोदयान्तरं मुहूर्त्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति। कश्चिदुत्तरचरः, यथा–उदगाद्भरणिः प्राक् कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः। कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयति। कश्चि-त्सहचरः, यथा–मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः। रसो हि नियमेन रूपसहचरितस्तद-भावेऽनुपपद्यमानस्तद् गमयति।

---

५६. ३. कोई विशेषरूप है, जैसे–''यह वृक्ष है, क्योंकि शिंशपा अन्यथा हो नहीं सकती।'' यहाँ 'शिंशपा' विशेष रूप हेतु है, क्योंकि शिंशपा वृक्षविशेष है, वह अपने सामान्यभूत वृक्ष का ज्ञापन कराती है। कारण, वृक्षविशेष वृक्षसामान्य के बिना नहीं हो सकता है। ४. कोई पूर्वचर है, जैसे–''एक मुहूर्त के बाद शकट का उदय होगा; क्योंकि कृत्तिका का उदय अन्यथा हो नहीं सकता।'' यहाँ ''कृत्तिका का उदय'' पूर्वचर हेतु है; क्योंकि कृत्तिका के उदय के बाद मुहूर्त के अन्त में नियम से शकट का उदय होता है और इसलिए कृत्तिका का उदय पूर्वचर हेतु होता हुआ शकट के उदय को जनाता है। ५. कोई उत्तरचर है, जैसे–एक मुहूर्त के पहले भरणि का उदय हो चुका; क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय अन्यथा हो नहीं सकता यहाँ ''कृत्तिका का उदय'' उत्तरचर हेतु है। कारण, कृत्तिका का उदय भरणि के उदय के बाद होता है और इसलिए वह उसका उत्तरचर होता हुआ उसको जनाता है। ६. कोई सहचर है, जैसे मातुलिंग (नींबू) रूपवान होना चाहिए, क्योंकि रसवान् अन्यथा हो नहीं सकता'' यहाँ 'रस' सहचर हेतु है। कारण, रस नियम से रूप का सहचारी है–साथ में रहने वाला है और इसलिए वह उसके अभाव में नहीं होता हुआ उसका ज्ञापन कराता है।

---

३१९. विशेषो व्याप्यः।

१*. द 'कृत्तिकोदयः' नास्ति।

५७.एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्तो धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधक-विधिरूपः[३२०]। ऐत[१*] एवा [३२१]विरुद्धोपलब्ध्य इत्युच्यन्ते। एवं विधिरूपस्य हेतोर्विधिसाधकाख्य आद्यो भेद उदाहृतः।

५८.द्वितीयस्तु निषेधसाधकाख्यः, विरुद्धोपलब्धिरिति तस्यैव नामान्तरम्। स यथा-नास्य मिथ्यात्वम्, आस्तिक्यान्यथानुपपत्तेरित्यत्रास्ति-क्यम्। आस्तिक्यं हि सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणम्। तन्मिथ्यात्ववतो न सम्भवतीति मिथ्यात्वाभावं साधयति। यथा वा, नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तः, अनेकान्तात्मकत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्रानेकान्तात्म-कत्वम्[२*]। अनेकान्तात्मकत्वं हि वस्तुन्यबाधितप्रतीतिविषयत्वेन प्रतिभास-मानं सौगतादिपरिकल्पितसर्वथैकान्ताभावं साधयत्येव।

५९.[३२२]ननु किमिदमनेकान्तात्मकत्वं यद्बलाद्वस्तुनि सर्वथैकान्ता-

---

५७. इन उदाहरणों में सद्भावरूप ही अग्न्यादिक साध्य को सिद्ध करने वाले धूमादिक साधन सद्भावरूप ही हैं। इसलिए ये सब विधिसाधक विधिरूप हेतु हैं। इन्हीं को अविरुद्धोपलब्धि कहते हैं। इस प्रकार विधिरूप हेतु के पहले भेद विधिसाधक का उदाहरणों द्वारा निरूपण किया।

५८. दूसरा भेद निषेधसाधक नाम का है। विरुद्धोपलब्धि भी उसी का दूसरा नाम है। उसका उदाहरण इस प्रकार है-"इस जीव के मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि आस्तिकता अन्यथा हो नहीं सकती"। यहाँ 'आस्तिकता' निषेधसाधक हेतु है, क्योंकि आस्तिकता सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप है। वह श्रद्धान मिथ्यात्व वाले (मिथ्यादृष्टि) जीव के नहीं हो सकता, इसलिए वह विवक्षित जीव में मिथ्यात्व के अभाव को सिद्ध करता है अथवा इस हेतु का दूसरा उदाहरण यह है-"वस्तु में सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्तात्मकता अन्यथा हो नहीं सकती", यहाँ "अनेकान्तात्मकता" निषेधसाधक हेतु है। कारण, अनेकान्तात्मकता वस्तु में अबाधितरूप से प्रतीत होती है और इसलिए वह बौद्धादि कल्पित सर्वथा एकान्त के अभाव को अवश्य सिद्ध करती है।

---

३२०. साध्यं साधनं चोभयमपि सद्भावात्मकम्। अत एवोल्लिखिता हेतवो विधिसाधक-विधिरूपा इति कथ्यते। ३२१. अविरुद्धेन साध्येन सहोपलभ्यन्त इत्यविरुद्धोपलब्धयः।

१*. द प 'अत' पाठान्तरम्। २*. द 'हेतुः' इत्यधिको पाठः।

भावः साध्यते? इति चेत्; उच्यते; सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभाव-रूपत्वमेकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम्। एवं विधिरूपो [३२३]हेतुर्दर्शितः[३२४]।

६०.[३२५]प्रतिषेधरूपोऽपि[१*] हेतुर्द्विविधः—[३२६]विधिसाधकः [३२७]प्रतिषेध-साधक-श्चेति। तत्राद्यो यथा, अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं [३२८]विपरीता-भिनिवेशाभावात्। अत्र विपरीताभिनिवेशाभावः प्रतिषेधरूपः सम्यक्त्व-सद्भावं साधयतीति प्रतिषेधरूपो विधिसाधको हेतुः।

६१.[३२९]द्वितीयो यथा, नास्त्यत्र [३३०]धूमोऽग्न्यनुपलब्धेरित्यत्राग्न्य-

---

५९. शंका— यह अनेकान्तात्मकता क्या है? जिसके बल से वस्तु में सर्वथा एकान्त के अभाव को सिद्ध किया जाता है?

समाधान— सभी जीवादि वस्तुओं में जो भाव-अभावरूपता एक -अनेक रूपता और नित्य-अनित्यरूपता इत्यादि अनेक धर्म पाये जाते हैं उसी को अनेकान्तात्मकता अथवा अनेकान्तरूपता कहते हैं। इस तरह विधिरूप हेतु का दिग्दर्शन किया।

६०. प्रतिषेधरूप हेतु के भी दो भेद हैं-१. विधिसाधक और २. प्रतिषेधसाधक। उनमें विधिसाधक का उदाहरण इस प्रकार है-''इस जीव में सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्या अभिनिवेश नहीं है।'' यहाँ ''मिथ्या अभिनिवेश नहीं है'' यह प्रतिषेधरूप हेतु है और वह सम्यग्दर्शन के सद्भाव को साधता है, इसलिए वह प्रतिषेधरूप विधिसाधक हेतु है।

---

३२२. एकान्तवादी शङ्कते नन्विति। ३२३. हेतोर्मूलभेदयोर्विधिप्रतिषेध-रूपयोर्विधिरूपः प्रथमभेदः। ३२४. व्याख्यातः।

३२५. हेतोर्द्वितीयभेदं प्रदर्शयति प्रतिषेधेति। ३२६. विधिं सद्भावं साधयतीति विधिसाधकः। ३२७. प्रतिषेधमभावं साधयतीति प्रतिषेधसाधकः।

३२८. सम्यक्त्वस्य विपरीतं मिथ्यात्वं तस्याभिनिवेशो मिथ्यैकान्ताग्रहस्तद-सत्त्वात्। मिथ्यात्वाभिनिवेशाभावो हि नियमेन जीवे सम्यक्त्वास्तित्वं साधयति इति भावः।

---

१. म 'प्रतिषेधरूपः'।

भाव; प्रतिषेधरूपो धूमाभावं प्रतिषेधरूपमेव साधयतीति प्रतिषेधरूपः प्रतिषेधसाधको हेतुः। तदेवं विधिप्रतिषेधरूपतया द्विविधस्य हेतोः [३३१]कतिचिदवान्तरभेदा उदाहृताः[३३२]। विस्तरस्तु परीक्षामुखतः[३३३] प्रतिपत्तव्याः[१*]। इत्थमुक्तलक्षणा [३३४]एव[२*] हेतवः साध्यं गमयन्ति। [३३५]नान्ये, हेत्वाभासत्वात्।

(हेत्वाभासानां चातुर्विध्यमुक्त्वा तेषां निरूपणम्)

६२. [३३६]के ते हेत्वाभासाः इति चेत् उच्यते; हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः[३३७]। ते चतुर्विधाः—असिद्धविरुद्धा-नैकान्तिका-किञ्चित्करभेदात्[३३८]।[३३९]तत्रानिश्चयपथप्राप्तोऽसिद्धः।अनिश्चय-

---

६१. दूसरे प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक हेतु का उदाहरण यह है– ‘‘यहाँ धुँआ नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है।’’ यहाँ ‘‘अग्नि का अभाव’’ स्वयं प्रतिषेधरूप है और वह प्रतिषेधरूप ही धूम के अभाव को सिद्ध करता है, इसलिए ‘‘अग्नि का अभाव’’ प्रतिषेधरूप प्रतिषेधसाधक हेतु है। इस तरह विधि और प्रतिषेधरूप से दो प्रकार के हेतु के कुछ प्रभेदों का उदाहरण द्वारा वर्णन किया। विस्तार से परीक्षामुख से जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाले ही हेतु साध्य के गमक हैं, अन्य नहीं अर्थात् जो अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले नहीं हैं, वे साध्य के गमक नहीं है, क्योंकि वे हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभास का लक्षण और उसके भेद—

६२. हेत्वाभास किन्हें कहते हैं? जो हेतु के लक्षण से रहित हैं, किन्तु हेतु जैसे प्रतीत होते हैं, उन्हें हेत्वाभास कहते हैं। वे चार प्रकार के हैं–१. असिद्ध, २. विरुद्ध, ३. अनैकान्तिक और ४. अकिञ्चित्कर।

---

३२९. प्रतिषेधसाधको हेतुः। ३३०. अस्मिन्प्रदेशे। ३३१. कतिपयाः प्रभेदाः। ३३२. उदाहरणद्वारा प्रदर्शिताः। ३३३. अत्र परीक्षामुखस्य ३–५६ सूत्रमारभ्य ३–६२ पर्यन्तसूत्राणि द्रष्टव्यानि। ३३४. अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्टाः। ३३५. अन्यथानुपपत्तिविरहिताः। ३३६. हेत्वाभासान् प्रदर्शयति के ते इति। ३३७. तदुक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्क देवैः–

१*. द प्रतौ ‘प्रतिज्ञातव्याः’ इति पाठः। २*. म प आ मु प्रतिषु ‘एव’ पाठो नास्ति।

पथप्राप्तिश्च हेतोः स्वरूपाभावनिश्चयात् स्वरूपसन्देहाच्च। स्वरूपा-भावनिश्चये स्वरूपा-सिद्धः, स्वरूपसन्देहे सन्दिग्धासिद्धः। तत्राद्यो यथा- परिणामी शब्दः चाक्षुष-त्वादिति[३४०]। शब्दस्य हि श्रावणत्वाच्चाक्षुष-त्वाभावो निश्चित इति स्वरूपा-सिद्धश्चाक्षुषत्वहेतुः। द्वितीयो यथा, धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह-अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्त्वात्[३४१] इति। अत्र हि धूमवत्त्वं हेतुः सन्दिग्धासिद्धः, तत्स्वरूपे सन्देहात्।

---

(१) असिद्ध- जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है वह असिद्ध हेत्वाभास है। हेतु की यह अनिश्चितता हेतु के स्वरूप के अभाव का निश्चय होने से और स्वरूप में संशय होने से होती है। स्वरूपाभाव के निश्चय में स्वरूपासिद्ध है और स्वरूप के सन्देह में सन्दिग्धासिद्ध है। उनमें पहले का उदाहरण यह है- ''शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है।'' यह ''चक्षु इन्द्रिय का विषय'' हेतु स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, चक्षु इन्द्रिय का नहीं। अतः शब्द में चक्षु इन्द्रिय की विषयता का अभाव निश्चित है इसलिए वह स्वरूपासिद्ध है, दूसरे का उदाहरण यह है- धूम अथवा भाप आदि के निश्चय किए बिना ही कोई यह कहे कि ''यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि वह धूम वाला है।'' यहाँ 'धूम' हेतु संदिग्धासिद्ध है। कारण, उसके स्वरूप में सन्देह है।

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते॥ -न्यायवि. का . ३४३।

३३८. तथा चोक्तम्-''हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।''- परीक्षा. ६-२१। एतेषां संक्षेपलक्षणानि-

स विरुद्धोऽन्यथाभावादसिद्धः सर्वथाऽत्ययात्।
व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः॥-प्रमाणासं. का.४८, ४९

३३९. हेत्वाभासानां चतुर्भेदेषु प्रथमोद्दिष्टमसिद्धं लक्षयति तत्रेति।

३४०. यदुक्तं श्रीमाणिक्यनन्दिभिः-''अविद्यमानसत्ताकः (स्वरूपासिद्धः) परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।''-परीक्षा. ६-२३। ननु कुतोऽस्य चाक्षुषत्वहेतोर-सिद्धत्वमिति चेत्तदप्याह ''स्वरूपेणासत्वात्''-परीक्षा ६-२४ इति। ३४१. उक्तञ्च परीक्षामुखकृता-''अविद्यमाननिश्चयो (सन्दिग्धासिद्धः) मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् इति। तस्य वाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात्''-परीक्षा. ६-२६।

६३. [342]साध्यविपरीतव्याप्तो हेतु[1*]र्विरुद्धः। यथाऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति[343]। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरोधिना परिणामित्वेन व्याप्तम्।

६४. पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः[344]। स द्विविधः– निश्चितविपक्षवृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च। तत्राद्यो यथा, धूमवानयं प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति। अत्राग्निमत्त्वं पक्षीकृते सन्दिग्धमानधूमे पुरोवर्तिनि प्रदेशे वर्त्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च[2*] वर्त्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमति प्रदेशे वर्त्तते इति निश्चयान्निश्चित-

---

६३. (२) विरुद्ध–जिस हेतु की साध्य से विरुद्ध (साध्याभाव) के साथ व्याप्ति हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे– ''शब्द अपरिणमनशील है, क्योंकि किया जाता है'' यहाँ ''किया जाना'' हेतु की व्याप्ति अपरिणमनशीलता से विरुद्धपरिणमनशीलता के साथ है। अतः वह विरुद्ध हेत्वाभास है।

६४. (३) अनैकान्तिक–जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। वह दो प्रकार का है–१.निश्चित-विपक्षवृत्ति और २. शंकितविपक्षवृत्ति। उनमें पहले का उदाहरण यह है–''यह प्रदेश धूमवाला है, क्योंकि वह अग्नि वाला है।'' यहाँ 'अग्नि' हेतु पक्षभूत सन्दिग्ध धूम वाले सामने के प्रदेश में रहता है और सपक्ष धूम वाले रसोईघर में रहता है तथा विपक्ष धूमरहित रूप से निश्चित अंगारस्वरूप अग्नि वाले प्रदेश में भी रहती है, ऐसा निश्चय है। अतः वह निश्चित-विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक है। दूसरे शंकितविपक्षवृत्ति का उदाहरण यह है–

---

३४२. ''साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा–शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम्''–तर्कसं . पृ. ११२। ''विपरीत-निश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्''–परीक्षा. ६–२९। ३४३. यः स्वोत्पत्तौ परव्यापारमपेक्षते स कृतक उच्यते। शब्दोऽपि ताल्वादिपरिस्पन्द-व्यापारमपेक्ष्य जन्यते। अतस्तस्य कृतकत्वं सुव्यक्तमेव। यच्च कृतकं तत्परिणामि दृष्टं यथा घटपटादि। तथा चात्र कृतकत्वं साध्यभूतापरिणामित्वविपरीतेन परिणामित्वेन सह व्याप्तत्वाद्विरुद्धमिति भावः। ३४४. ''विपक्षेऽप्यविरुद्ध-वृत्तिरनैकान्तिकः''–परीक्षा. ६–३०।

१❋. प म मु 'हेतु' नास्ति। २❋. द 'च' नास्ति।

विपक्षवृत्तिकः[३४५]। द्वितीयो यथा, गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वादितरतत्तनयवदिति। अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतुः पक्षीकृते गर्भस्थे वर्त्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्त्तते, विपक्षे अश्यामे वर्तेतापीति[१*] शङ्काया अनिवृत्तेः शङ्कितविपक्षवृत्तिकः। अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्यो-दाहरणम्-अर्हन् सर्वज्ञो न भवितुमर्हति[२*] वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति। वक्तृत्वस्य हि हेतोः पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्तिः सम्भाव्येत[३*] वक्तृत्वज्ञातृत्व-योरविरोधात्। यद्धि येन सह विरोधि तत्खलु तद्वति न वर्त्तते। न च वचन-ज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत एव वचनसौष्ठवं स्पष्टं दृष्टम्। ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे काऽनुपपत्तिरिति?

''गर्भस्थ मैत्री का पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि मैत्री का पुत्र है, मैत्री के दूसरे पुत्रों की तरह'' यहाँ ''मैत्री का पुत्रपना'' हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र में रहता है, सपक्ष दूसरे मैत्रीपुत्रों में रहता है और विपक्ष अश्याम-गोरे पुत्र में भी रहे इस शंका की निवृत्ति न होने से अर्थात् विपक्ष में भी उसके रहने की शंका बनी रहने से वह शंकितविपक्षवृत्ति है। शंकितविपक्षवृत्ति का दूसरा भी उदाहरण है-अरहन्त सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वक्ता हैं, जैसे-'रथ्यापुरुष'। यहाँ 'वक्तापन' हेतु जिस प्रकार पक्षभूत अरहन्त में और सपक्षभूत रथ्यापुरुष में रहता है उसी प्रकार विपक्षभूत सर्वज्ञ में भी उसके रहने की सम्भावना की जाये, क्योंकि वक्तापन और ज्ञातापन का कोई विरोध नहीं है। जिसका जिसके साथ विरोध होता है वह उस वाले में नहीं रहता है और वचन तथा ज्ञान का लोक में विरोध नहीं है, बल्कि ज्ञान वाले (ज्ञानी) के ही वचनों में चतुराई अथवा सुन्दरता स्पष्ट देखने में आती है। अतः विशिष्ट ज्ञानवान सर्वज्ञ में विशिष्ट वक्तापन के होने में क्या आपत्ति है? इस तरह वक्तापन की विपक्षभूत सर्वज्ञ में भी सम्भावना होने से वह शंकितविपक्षवृत्ति नाम का अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

३४५. उदाहरणान्तरम्-''निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्''-परीक्षा. ६-३१। ''आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्''-परीक्षा ६-३२।

१*. म प मु प्रतिषु 'वर्त्तते नापीति' पाठः। २*. प म मु 'न भवति'।
३*. म मु 'सम्भाव्यते' प 'सम्भाव्येति' पाठः।

६५. [३४६]अप्रयोजको[१*] हेतुरकिञ्चित्करः। स द्विविधः–सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति। तत्राद्यो यथा, शब्दः श्रावणो भवितु–मर्हति शब्द–त्वादिति। अत्र श्रावणत्वस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन सिद्धत्वाद्धेतुर–किञ्चित्करः। बाधितविषयस्त्वनेकधा। कश्चित्प्रत्यक्षबाधितविषयः, यथा–अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादिति। अत्र द्रव्यत्वं हेतुस्तस्य विषयत्वेनाभिमत–मनुष्णत्वमुष्णत्वग्राहकेण स्पर्शनप्रत्यक्षेण[२*]बाधितम्। ततः किञ्चिदपि कर्त्तुमशक्यत्वादकिंचित्करो द्रव्यत्वहेतुः। कश्चित्पुनरनुमानबाधितविषयः, यथा–अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। अत्र परिणामी शब्दः प्रमेयत्वा–

---

६५. (४) अकिञ्चित्कर–जो हेतु साध्य की सिद्धि करने में अप्रयोजक–असमर्थ है, उसे अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते हैं। उसके दो भेद हैं–१. सिद्धसाधन और २. बाधितविषय। उनमें पहले का उदाहरण यह है– ''शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होना चाहिए, क्योंकि वह शब्द है।'' यहाँ ''श्रोत्रेन्द्रिय की विषयता'' रूपसाध्य शब्द में श्रावणप्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अतः उसको सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया ''शब्दपना'' हेतु सिद्धसाधन नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। बाधितविषय नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास अनेक प्रकार का है– कोई प्रत्यक्षबाधितविषय है। जैसे–''अग्नि अनुष्ण–ठण्डी है, क्योंकि वह द्रव्य है।'' यहाँ 'द्रव्यत्व' हेतु प्रत्यक्षबाधितविषय है। कारण उसका जो ठंडापन विषय है वह उष्णताग्राहक स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से बाधित है अर्थात् अग्नि को छूने पर वह उष्ण प्रतीत होती है, ठंडी नहीं। अतः 'द्रव्यत्व' हेतु कुछ भी साध्यसिद्धि करने में समर्थ न होने से अकिञ्चित्कर है। कोई अनुमान–बाधितविषय है। जैसे–''शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह किया जाता है।'' यहाँ ''किया जाना'' हेतु ''शब्द परिणामी है क्योंकि वह प्रमेय है''

---

३४६. ननु किं नामाप्रयोजकत्वमिति चेत् अन्यथासिद्धत्वमप्रयोजकत्वम् साध्यसिद्धिं प्रत्यसमर्थत्वमित्यर्थः।

१*. द म 'अथाप्रयोजको।

२*. द प 'स्पर्शेन प्रत्यक्षेण'।

दित्यनुमानेन बाधितविषयत्वम्। कश्चिदागमबाधितविषयः, यथाप्रेत्या-सुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति। अत्र धर्मः सुखप्रद इत्यागमस्तेन बाधितविषयत्वं हेतोः। कश्चित्स्ववचनबाधित-विषयः, यथा-मे माता बन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धबन्ध्यावत्। एवमादयो[३४७]ऽप्य-किञ्चित्करविशेषाः स्वयमूह्याः[३४८] तदेवं हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासा [३४९]अव-भासिताः।

(उदाहरणस्य निरूपणम्)

६६.ननु व्युत्पन्नं प्रति यद्यपि प्रतिज्ञाहेतुभ्यामेव पर्याप्तं तथापि

इस अनुमान से बाधित विषय है। इसलिए वह अनुमान-बाधितविषय नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। कोई आगमबाधितविषय है। जैसे-''धर्म परलोक में सुख का देने वाला है, क्योंकि वह पुरुष के आश्रय से होता है, जैसे-अधर्म।'' यहाँ ''धर्म सुख का देने वाला है।'' ऐसा आगम है, इस आगम से उक्त हेतु बाधितविषय है। कोई स्ववचनबाधितविषय है। जैसे-मेरी माता बन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता है। जैसे-प्रसिद्ध बन्ध्या स्त्री। यहाँ हेतु अपने वचन से बाधितविषय है, क्योंकि स्वयं मौजूद है और माता भी मान रहा है फिर भी यह कहता है कि मेरी माता बन्ध्या है। अतः हेतु स्ववचनबाधितविषय नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। इसी प्रकार और भी अकिञ्चित्कर के भेद स्वयं विचार लेना चाहिए। इस तरह हेतु के प्रसंग से हेत्वाभासों का निरूपण किया।

उदाहरण का निरूपण

६६. यद्यपि व्युत्पन्न ज्ञाता के लिए प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही

---

३४७. ऐतत्सर्वमभिप्रेत्य सूत्रमाहुः-''सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः''-परीक्षा. ६-३५।

३४८. चिन्तनीयाः।

३४९. प्रकाशिता निरूपिता इत्यर्थः।

बालबोधार्थ[1*] मुदाहरणादिक- मप्यभ्युपगत[2*]माचार्यैः[350]। उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्[351]। कोऽयं दृष्टान्तो नाम? इति चेत्; उच्यते; व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः[352]। व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियतसाहचर्य[3*] लक्षणा। एतामेव[4*] साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति।

अवयव पर्याप्त हैं तथापि अव्युत्पन्नों के ज्ञान के लिए उदाहरणादिक को भी आचार्यों ने स्वीकृत किया है। यथार्थ दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। यह दृष्टान्त क्या है? जहाँ साध्य और साधन की व्याप्ति दिखलाई (जानी) जाती है, उसे दृष्टान्त कहते हैं और साध्य-अग्नि आदिक के होने पर ही साधन-धूमादिक होते हैं तथा उनके नहीं होने पर नहीं होते हैं। इस प्रकार के साहचर्यरूप साध्यसाधन के नियम को व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्ति को ही साध्य के बिना साधन के न होने से

३५०. तथा हि-''प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगोपगमात्। यथैव हि कस्यचित्प्रति-बोध्यस्यानुरोधेन साधनवाक्ये सन्धाऽभिधीयते (तथा) दृष्टान्तादिकमपि''-पत्रपरी. पृ. ३। कुमारनन्दिभट्टारकैरप्युक्तम्-

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥

-पत्रपरी. पृ. ३ उद्धृतम्।

श्रीमाणिक्यनन्द्यप्याह-''बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात्।'' परीक्षा. ३-४६। श्रीयशोविजयसूरिणाऽप्युक्तम्-''मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युज्यते''-जैनतर्कभाषा पृ. १६।

३५१. ''सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्''-न्यायसार पृ. १२। ''दृष्टान्त-वचन-मुदाहरणम्''-न्यायकलिका पृ. ११। ३५२. यथा चोक्तम्-

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः।
स दृष्टान्तः तदाभासाः साध्यादिविकलादयः॥

-न्यायविनि. का. ३८०।

१*. द 'बोधनार्थ'। २*. म 'मभ्युपगन्तत्य, मु 'मभ्युपगत'। ३*. म मु 'नियतता साहचर्य'। ४*. प म मु 'एनामेव'।

तस्याः सम्प्रतिपत्तिर्नाम वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यम्[३५३], सैषा यत्र सम्भवति स सम्प्रतिपत्तिप्रदेशो महानसादिर्ह्रदादिश्च। तत्रैव धूमादौ सति नियमेनाऽग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति सम्प्रतिपत्तिसम्भवात्। तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः[३५४]। अत्र साध्य-साधनयोर्भावरूपान्वयसम्प्रतिपत्तिसम्भवात्। ह्रदादिस्तु व्यतिरेक दृष्टान्तः[३५५] अत्र साध्यसाधनयोरभावरूपव्यतिरेकसम्प्रतिपत्तिसम्भवात्।

अविनाभाव कहते हैं। वादी और प्रतिवादी की बुद्धिसाम्यता को व्याप्ति की सम्प्रतिपत्ति कहते हैं और यह सम्प्रतिपत्ति (बुद्धिसाम्यता) जहाँ सम्भव है वह सम्प्रतिपत्ति प्रदेश कहलाता है, जैसे–रसोईशाला आदि अथवा तालाब आदि क्योंकि वहीं ''धूमादिक के होने पर नियम से अग्न्यादिक पाये जाते हैं और अग्न्यादिक के अभाव में नियम से धूमादिक नहीं पाये जाते'' इस प्रकार की सम्प्रतिपत्ति–बुद्धिसाम्यता सम्भव है। उनमें रसोईशाला आदि अन्वयदृष्टान्त है, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन के सद्भाव रूप अन्वयबुद्धि होती है और तालाब आदि व्यतिरेक दृष्टान्त है, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन के अभावरूप व्यतिरेक का ज्ञान होता है। ये दोनों ही दृष्टान्त हैं,

---

३५३. ''लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः''–न्यायसू १–१–२५। ''तत्र दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खाविदुषां बुद्धिसाम्यं''–चरक सं. पृ. २६३। ''दृष्टान्तवचनं हि यत्र पृथग्जनानामार्याणां च बुद्धिसाम्यं तदा वक्तव्यम्। दृष्टान्तो द्विविधः–सम्पूर्णदृष्टान्त आंशिकदृष्टान्तश्च''–उपायहृदय पृ. ५। ३५४. ''दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्'' ''साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः''–परीक्षा. ३–४७, ४८। ''दृष्टान्तो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्र साधर्म्येण तावत्, यत्र हेतोः सपक्ष एवास्तित्वं ख्याप्यते। तद्यथा–यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टम् यथा घटादिरिति।–न्यायप्र. पृ .१, २।''यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनधर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः।''–न्यायकलिका पृ.११।

३५५. ''साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः''–परीक्षा. ३–४६। ''यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभावः ख्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः''–न्यायकलिका पृ. ११।''वैधर्म्येणाऽपि यत्र साध्याभावे हेतोरभाव एव कथ्यते। तद्यथा–''यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टम्, यथाऽऽकाशमिति।–न्यायप्र. पृ. २।

दृष्टान्तौ चैतौ, दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः।

६७.उक्त लक्षणस्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचनं तदुदाहरणम्। न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति। किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम्। तद्यथा -यो यो धूमवानसावसावग्निमान् यथा महानस इति। यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्लद इति च। एवं विधेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसम्भवात्।

(उदाहरणप्रसङ्गादुदाहरणाभासस्य कथनम्)

६८. उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभासः। उदाहरणलक्षणराहित्यं[1*] द्वेधा सम्भवति, दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग्वचनेन वा। तत्राद्यं यथा, यो योऽग्निमान्[2*] स स धूमवान्

क्योंकि साध्य और साधनरूप अन्त अर्थात् धर्म जहाँ देखे जाते हैं, वह दृष्टान्त कहलाता है, ऐसा 'दृष्टान्त' शब्द का अर्थ उनमें पाया जाता है।

६७. इस उपर्युक्त दृष्टान्त का जो सम्यक् वचन है–प्रयोग है वह उदाहरण है। केवल 'वचन' का नाम उदाहरण नहीं है, किन्तु दृष्टान्तरूप से जो वचन-प्रयोग है वह उदाहरण है। जैसे– "जो-जो धूम वाला होता है वह-वह अग्नि वाला होता है," जैसे–रसोई घर और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे–तालाब। इस प्रकार के वचन के साथ ही दृष्टान्त का दृष्टान्तरूप से प्रतिपादन होता है।

उदाहरण के प्रसंग से उदाहरणाभास का कथन

६८. जो उदाहरण के लक्षण से रहित है किन्तु उदाहरण जैसा प्रतीत होता है वह उदाहरणाभास है। उदाहरण के लक्षण की रहितता (अभाव) दो तरह से होती है–१. दृष्टान्त का सम्यक् वचन न होना और २. जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यक् वचन होना। उनमें पहले का उदाहरण इस प्रकार है–"जो-जो अग्नि वाला होता है वह-वह धूम

१*. म म 'च' अधिकः। २*. आ म मु प 'वह्निमान्'। अग्रेतनव्याप्तिस्थाग्निशब्दप्रयोगापेक्षया द प्रतेरेव 'अग्निमन्' पाठो मूले निक्षिप्तः।

यथा महानस इति[1*], यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राऽग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्यव्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

६९.ननु किमिदं व्याप्यं व्यापकं नाम? इति चेत्; उच्यते; साहचर्यनियमरूपां[356] व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम् विपूर्वादापेः कर्मणि ण्यद्विधानाद्व्याप्यमिति सिद्धत्वात्। तत्तु व्याप्यं धूमादि। एतामेव[2*] व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्, व्यापेः कर्तरि ण्वुलि[3*] सति व्यापकमिति सिद्धेः[357]। एवं सति धूममग्निर्व्याप्नोति, यत्र धूमो वर्त्तते तत्र नियमेनाग्निर्वर्तते इति,

---

वाला होता है, जैसे रसोईघर। जहाँ-जहाँ धूम नहीं है वहाँ-वहाँ अग्नि नहीं है, जैसे-तालाब।'' इस तरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत (उल्टा) कथन करना दृष्टान्त का असम्यग्वचन है।

६९. शंका— व्याप्य और व्यापक किसे कहते हैं?

समाधान— साहचर्य नियमरूप व्याप्ति क्रिया का जो कर्म है, उसे व्याप्य कहते हैं, क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से कर्म अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय करने पर 'व्याप्य' शब्द निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि ''जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है'' इस प्रकार के साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहते हैं और इस व्याप्ति का जो कर्म है-विषय है वह व्याप्य कहलाता है। वह व्याप्य धूमादिक है, क्योंकि धूमादिक वह्न्यादि के द्वारा व्याप्त (विषय) किए जाते हैं तथा इसी व्याप्ति क्रिया का जो कर्ता है, उसे व्यापक कहते हैं, क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल' प्रत्यय करने पर 'व्यापक' शब्द सिद्ध होता है। वह व्यापक अग्न्यादिक हैं। इसीलिए अग्नि धूम को व्याप्त करती हैं, क्योंकि ''जहाँ-

---

३५६. ''यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः''-तर्कसं. पृ. ३१।
३५७. अत्रेदं बोध्यम्-''साहचर्यनियमरूपां व्याप्तिमाश्रित्य व्याप्यव्यापकयोर्व्युत्पत्ति-मुखेन लक्षणं प्रदर्शयता ग्रन्थकृता व्याप्तेरुभयधर्मत्वं प्रकटितम्। प्रमाणमीमांसाकृताऽपि तथैवोक्तम्-'व्याप्तिः' इति यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः। तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य व्याप्ये धर्मे सति, यत्र धर्मिणि

१*. द 'इत्यादि'। २*. म मु प 'एनामेव'। ३*. मु 'ण्वौ', द 'ण्वुण्णि'।

यावत्सर्वत्र धूमवति नियमेनाग्निदर्शनात्। धूमस्तु न तथाऽग्निं व्याप्नोति तस्याङ्गारावस्थस्य धूमं विनापि वर्त्तनात्[१*]। यत्राग्निर्वर्तते तत्र नियमेन धूमो[२*] वर्त्तते इत्यसम्भवात्।

७०.[३५८]नन्वार्द्रेन्धनमग्निं व्याप्नोत्येव धूम इति चेत्;[३५९]ओमिति ब्रूमहे।

जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि नियम से होती है'' इस तरह धूम वाले सब स्थानों में नियम से अग्नि पायी जाती है किन्तु धूम अग्नि को वैसा व्याप्त नहीं करता, क्योंकि अंगारापन्न अग्नि धूम के बिना भी रहती है। कारण, जहाँ अग्नि वहाँ नियम से धूम भी है, ऐसा सम्भव नहीं है।

७०. शंका—धूम गीले ईन्धन वाली अग्नि को व्याप्त करता ही है अर्थात् वह उसका व्यापक होता है, तब आप कैसे कहते हैं कि धूम अग्नि का व्यापक नहीं होता?

व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र भाव एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः। ततश्च व्याप्य-भावापेक्षा व्याप्यस्यैव व्याप्तताप्रतीतिः।...यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव भावः न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति।''—प्रमाणमी. पृ. ३८। इत्थं च व्याप्तेर्व्याप्य-व्यापकोभयधर्मत्वेऽपि व्याप्यस्यैव धूमादेर्गमकत्वम् व्यापकस्यैव च वह्न्यादेर्गम्यत्वम् विशिष्टव्याप्तिसद्भावात्। व्याप्यस्य व्यापकेनैव सहोपलब्धेः व्यापकस्य तु व्याप्याभावेऽप्युपलब्धेरिति भावः। इदं च बौद्धविदुषाऽर्चटेनापि हेतुबिन्दुटीकायां निरूपितम्। व्याप्यव्यापकमधिकृत्यात्र श्लोकः—

''व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च।
साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते॥''—प्रमाणमी. टि. पृ. ३७।

३५८. अथ नायं नियमः यत् ''अग्निरेव धूमं व्याप्नोति, न धूमोऽग्निम्'' इति, धूमस्याऽप्याऽऽर्द्रेन्धनाग्निव्यापकत्वदर्शनात् ''यत्राऽऽर्द्रेन्धनोऽग्निर्वर्त्तते तत्र नियमेन धूमो वर्त्तते'' इति यावत्सर्वत्राऽऽर्द्रेन्धनवति धूमोपलब्धेः तथा चाग्नेरपि धूमवद्व्याप्यत्वम्, ततश्च तस्यापि गमकत्वं स्वीकार्यमित्याशयेन शङ्कते नन्विति। ३५९. समाधत्ते ओमिति। आर्द्रेन्धनस्याग्नेर्धूमव्याप्यत्वेऽपि वह्निसामान्यस्य तु व्यापकत्वमेव। ततो नोक्तदोष इति भावः।

१*. आ 'वर्त्तमानात्', म मु 'वर्त्तमानत्वात्'। २*. आ म मु 'तत्र धूमोऽपि नियमेन'।

यत्र यत्राविच्छिन्नमूलो[1*] धूमस्तत्र तत्राग्निरिति यथा, तथैव[2*] यत्र यत्राऽऽर्द्रेन्धनोऽग्निः तत्र तत्र धूम इत्यपि सम्भवात्। वह्निमात्रस्य[360] तु धूमविशेषं प्रति व्यापकत्वमेव[361], अनुमानस्य तावन्मात्रा[3*]पेक्षत्वात्[362]। ततो यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इत्येवं सम्यग्दृष्टान्त-वचनं वक्तव्यम्। विपरीतवचनं तु दृष्टान्ताभास एवेत्ययमसम्यग्वचन-रूपो[363]ऽन्वय-दृष्टान्ताभासाः। व्यतिरेकव्याप्तौ तु व्यापकस्याग्नेरभावो व्याप्यः, व्याप्यस्य धूमस्याभावो व्यापकः। तथा सति यत्र यत्राऽग्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावो

समाधान—गीले ईन्धन वाली अग्नि का धूम को व्यापक मानना हमें इष्ट है, क्योंकि जिस तरह ''जहाँ-जहाँ अविच्छिन्नमूल धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है'' यह सम्भव है उसी तरह ''जहाँ-जहाँ गीले ईन्धन वाली अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता है'' यह भी सम्भव है। किन्तु अग्नि सामान्य धूम-विशेष का व्यापक ही है—व्याप्य नहीं, कारण कि पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि वह धूम वाला है'' इस अनुमान में अग्नि-सामान्य की ही अपेक्षा होती है आर्द्रेन्धन वाली अग्नि या महानसीय, पर्वतीय, चत्वरीय और गोष्ठीय आदि विशेष अग्नि की नहीं। इसलिए धूम अग्नि का व्यापक नहीं है, अपितु अग्नि ही धूम की व्यापक है। अतः जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्नि वाला होता है, जैसे-रसोई का घर इस प्रकार दृष्टान्त का सम्यक् वचन बोलना चाहिए, किन्तु इससे विपरीत वचन बोलना दृष्टान्ताभास है। इस तरह यह असम्यक् वचनरूप अन्वय दृष्टान्ताभास (अन्वय उदाहरणाभास) है। व्यतिरेक व्याप्ति में तो व्यापक-अग्न्यादिक का अभाव व्याप्य होता है और व्याप्य-धूमादिक का अभाव व्यापक होता है। अतएव ''जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ-वहाँ

---

३६०. वह्निसामान्यस्य। ३६१. न व्याप्यत्वमित्यर्थः। ३६२. ''पर्वतो वह्निमान् धूमात्'' इत्यनुमाने वह्निसामान्यस्यापेक्षणात् न तु वह्निविशेषस्य। नातो कश्चिद्दोष इति भावः। ३६३. अन्वयदृष्टान्ताभासो द्विविधः—दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनं च तत्रायमाद्यः।

१*. द 'यत्र यत्रानवच्छिन्नमूलो'। २*. 'तथा'।
३*. 'अनुमातुस्तावन्मात्रा' इति म मु पाठः।

यथा ह्रद इत्येवं वक्तव्यम्। विपरीतकथनं तु, असम्यग्वचनत्वादुदाहरणाभास एव। [३६४]अदृष्टान्तवचनं[१*] तु, अन्वय-व्याप्तौ व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम् व्यतिरेकव्याप्तावन्वयदृष्टान्तवचनं च, उदाहरणाभासौ। स्पष्ट-मुदाहरणम्[३६५]।

७१.ननु गर्भस्थो मैत्रीतनयः[२*] श्यामः, मैत्रीतनयत्वात्, साम्प्रत[३*] मैत्रीतनयवत् इत्याद्यनुमानप्रयोगे पञ्चसु मैत्रीतनयेष्वन्वयदृष्टान्तेषु ''यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम् इत्यन्वयव्याप्तेः, व्यतिरेक-दृष्टान्तेषु गौरेष्वमैत्रीतनयेषु सर्वत्र ''यत्र यत्र श्यामत्वं नास्ति तत्र तत्र मैत्रीतनयत्वं नास्ति'' इति व्यतिरेकव्याप्तेश्च सम्भवान्निश्चितसाधने गर्भस्थमैत्रीतनये पक्षे

धूम का अभाव है, जैसे–'तालाब' इस प्रकार दृष्टान्त का सम्यक् वचन बोलना चाहिए। इससे विपरीत कथन करना असम्यक् वचनरूप व्यतिरेक उदाहरणाभास है। ''अदृष्टान्तवचन''(जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यक् वचन होना) नाम का दूसरा उदाहरणाभास इस प्रकार है– अन्वय-व्याप्ति में व्यतिरेक दृष्टान्त कह देना और व्यतिरेक-व्याप्ति में अन्वय दृष्टान्त बोलना, उदाहरणाभास है। इन दोनों के उदाहरण स्पष्ट हैं।

७१. शंका–''गर्भस्थ मैत्री का पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, जो-जो मैत्री का पुत्र है वह-वह श्याम है, जैसे उसके दूसरे पुत्र'' इत्यादि अनुमानप्रयोग में अन्वयदृष्टान्त स्वरूप पाँच मैत्री पुत्रों में ''जहाँ-जहाँ मैत्री का पुत्रपना है वहाँ-वहाँ श्यामता है'' यह अन्वयव्याप्ति है और व्यतिरेक दृष्टान्तस्वरूप गौरवर्ण अमैत्रीपुत्रों में सब जगह ''जहाँ-जहाँ श्यामता नहीं है वहाँ-वहाँ मैत्री का पुत्रपना नहीं है'' यह व्यतिरेक व्याप्ति सम्भव है, अतः गर्भस्थ मैत्रीपुत्र रूप पक्ष में जहाँ कि

---

३६४. अन्वयदृष्टान्ताभासस्य (उदाहरणाभासस्य) द्वितीयभेदमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनाख्यं दर्शयति अदृष्टान्तेति।

३६५. अनयोरुदाहरणाभासयोरुदाहरणं स्पष्टमेवेत्यर्थः।

१*. 'अदृष्टान्तवचनं' नास्ति। तत्र त्रुटितोऽयं पाठः। २*. मु 'मैत्रीतनयः' नास्ति। ३*. द प 'सम्मत' पाठः।

साध्यभूतश्यामत्वसन्देहस्य [३६६]गुणत्वात्[१*] सम्यगनुमानं प्रसज्येदिति चेत्; न; दृष्टान्तस्य विचारान्तरबाधितत्वात्।

७२.तथा हि–साध्यत्वेनाभिमतमिदं हि श्यामत्वरूपं[२*] कार्यं सत् स्वसिद्धये कारणमपेक्षते। तच्च कारणं न तावन्मैत्रीतनयत्वम्, विनाऽपि तदिदं[३६७] पुरुषान्तरे[३६८] श्यामत्वदर्शनात्। न हि कुलालादिक [३*]मन्तरेण सम्भविनः पटस्य कुलालादिकं कारणम्[३६९]। एवं[३७०] मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रत्यकारणत्वे निश्चिते यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं न तत्र तत्र श्यामत्वम्,

---

साधन निश्चितरूप से है, साध्यभूत श्यामता का सन्देह गौण है और इसलिए यह अनुमान भी सम्यक् हो जायेगा अर्थात् दृष्टान्त का उपर्युक्त लक्षण मानने पर मैत्रीतनयत्व हेतुक श्यामत्वसाध्यक प्रस्तुत अनुमान भी समीचीन अनुमान कहा जायेगा, कारण कि उसके अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों ही सम्यक् दृष्टान्तवचनरूप हैं?

समाधान– नहीं, प्रकृत दृष्टान्त अन्य विचार से बाधित है।

७२. वह इस प्रकार से है–साध्यरूप से माना गया यह श्यामतारूप कार्य अपनी निष्पत्ति के लिए कारण की अपेक्षा करता है। वह कारण मैत्री का पुत्रपना तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसके बिना भी दूसरे पुरुषों में, जो मैत्री के पुत्र नहीं हैं, श्यामता देखी जाती है। अतः जिस प्रकार कुम्हार, चाक आदि कारणों के बिना ही उत्पन्न होने वाले वस्त्र के कुम्हार आदिक कारण नहीं है उसी प्रकार मैत्री का पुत्रपना श्यामता का कारण नहीं है, यह निश्चित है। अतएव जहाँ–जहाँ मैत्री का पुत्रपना है वहाँ–वहाँ

---

३६६. अतो गर्भस्थे श्यामत्वस्य सन्देहो गौणः, स च न मैत्रीतनयत्वहेतोः समीचीनत्वे बाधकः। तथा च तत्समीचीनमेवानुमानमिति शङ्कितुर्भावः।

३६७. मैत्रीतनयत्वम्। ३६८. मैत्रीपुत्रभिन्नपुरुषे।

३६९. ततो न मैत्रीतनयत्वमन्तरेण जायमानं श्यामत्वं प्रति मैत्रीतनयत्वं कारणमिति भावः। ३७०. इत्थं च।

१*. म 'गोणत्वा'। २*. द आ म मु 'श्यामरूपं'।
३*. आ प म मु 'कुलालचक्रादिकमन्तरेणापि'।

किन्तु यत्र यत्र श्यामत्वस्य कारणं विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहार-परिणामस्तत्र तत्र तस्य कार्यं श्यामत्वम्, इति सिद्धं, [३७१]सामग्रीरूपस्य विशिष्टनामकर्मानुगृहीत शाकाद्याहारपरिणामस्य श्यामत्वं प्रतिव्याप्यत्वम्। स[३७२] तु पक्षे[३७३] न निश्चीयत[३७४] इति सन्दिग्धासिद्धः। मैत्रीतनयत्वं तु [३७५]अकारणत्वादेव[१*] श्यामत्वं कार्यं न गमयेदिति।

७३. [३७६]केचित्[२*] ''निरूपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः''[३७७] []

श्यामता नहीं है, किन्तु जहाँ-जहाँ श्यामता का कारण विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकादि आहाररूप परिणाम है वहाँ-वहाँ उसका कार्य श्यामता है। इस प्रकार सामग्री रूप विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकादि आहार परिणाम श्यामता का व्याप्य है-कारण है, लेकिन उसका गर्भस्थ मैत्रीपुत्ररूप पक्ष में निश्चय नहीं है, अतः वह सन्दिग्धासिद्ध है और मैत्री का पुत्रपना तो श्यामता के प्रति कारण ही नहीं है इसलिए वह श्यामतारूप कार्य का गमक नहीं है। अतः उपर्युक्त अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है।

७३. जो उपाधि रहित सम्बन्ध है वह व्याप्ति है और जो साधन का

---

३७१. श्यामत्वजनिका सामग्री सा चात्र विशिष्टनामकर्मानुगृहीत-शाकाद्याहारपरिणामः, तत्सत्त्वे एव श्यामत्वसत्त्वम् तदभावे च तदभाव इति भावः। ३७२. विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामः। ३७३. गर्भस्थे मैत्रीतनये। ३७४. श्यामत्वसामग्र्यन्तर्गतविशिष्टनामकर्मादेरतीन्द्रियत्वान्निश्चयासम्भवात्। ३७५. मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रति कारणत्वाभावादेव। ३७६. ननु नाकरणत्वान्मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वं प्रत्यगमकम् अपि तु व्याप्त्यभावात्। व्याप्तिर्हि निरूपाधिकः सम्बन्धः। स चात्र नास्त्येव, शाकपाकजत्वोपाधिसत्त्वेन मैत्रीतनयत्वस्य निरूपाधिकत्वासम्भवादिति केषाञ्चिदाशयं प्रदर्शयन्नाह केचिदिति। केचित् नैयायिकादय इत्यर्थः। ३७७. ''ननु कोऽयं प्रतिबन्धो नाम? अनौपाधिकः सम्बन्ध इति ब्रूमः।''-किरणावली पृ. २९७। अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः। अनौपाधिकत्वं तु यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचार-साध्यसामानाधिकरण्यम्, यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रति-योगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं वा। यावत्साधना-व्यापकाव्याप्यसाध्यसामानाधिकरण्यमिति निरुक्तिद्वयार्थः।'' वैशेषिक-सूत्रोपस्कार पृ. ९२।

१*. म 'अकारणादेव'। २*. मु 'कश्चित्'।

इत्यभिधाय ''साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिरूपाधिः[३७८]'' [] इत्यभिदधते[१*]। सोऽयमन्योन्याश्रयः[३७९]। प्रपञ्चित-मेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते।

अव्यापक तथा साध्य का व्यापक है वह उपाधि है'' ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्ति का उक्त लक्षण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। तात्पर्य यह कि उपाधि का लक्षण व्याप्तिघटित है और व्याप्ति का लक्षण उपाधिघटित है। अतः व्याप्ति जब सिद्ध हो जाये तब उपाधि सिद्ध हो और जब उपाधि सिद्ध हो जाये तब व्याप्ति सिद्ध हो, इस तरह उपाधि रहित सम्बन्ध को व्याप्ति का लक्षण मानने में अन्योन्याश्रय नाम का दोष प्रसक्त होता है। इस उपाधि का निराकरण कारुण्यकलिका में विस्तार से किया गया है। अतः विराम लेते हैं–उसका पुनः खण्डन यहाँ नहीं किया जाता है।

---

३७८. ''साधने सोपाधिः साध्ये निरूपाधिरेवोपाधित्वेन निश्चेयः। ××× उपाधिलक्षणं तु ''साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापत्वमित्युक्तमेव।''–किरणावली पृ. ३००, ३०१। ''नन्वनौपाधिकत्वमुपाधिविरहः उपाधिरेव दुष्परिकलनीय इति चेन्न; साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्योपाधित्वात्। तदुक्तम्–''साधने सोपाधिः साध्ये निरूपाधिरूपाधिः।'' वैशेषिकसूत्रोपस्कार पृ. ९३। ''साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः।'' साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं साध्य-व्यापकत्वं। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ता-भावप्रतियोगित्वं साधनाऽव्यापकत्वम्। यथा–''पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्'' इत्यत्राऽऽर्द्रेन्धन-संयोगः उपाधिः। तथा हि–''यत्र धूमस्तत्राऽर्द्रेन्धनसंयोगः'' इति साध्यव्यापकत्वम्, ''यत्र वह्निस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति'' अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाऽव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः।'' तर्कसं. पृ. ११४। ''उपाधिश्चतुर्विधः–केवलसाध्यव्यापकः पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्यः–आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा–''वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्'' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापक-मुद्भूतरूपवत्त्वम्। तृतीयो यथा– ''प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्'' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थस्तु प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात् इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्।''–तर्कदी. पृ. ११४–११६।
३७९. व्याप्तिलक्षणस्योपाधिगर्भत्वादुपाधिलक्षणस्य च व्याप्तिघटितत्त्वात्। तथा च व्याप्तिग्रहे

१* मु 'अभिधत्ते'।

(उपनयनिगमनयोस्तदाभासयोश्च लक्षणकथनम्)

७४. साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनयः– तथा चायं धूमवानिति। साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्तस्मादग्नि-मानेवेति। अनयोर्व्यत्ययेन[३८०] कथनमनयोराभासः [३८१]अवसित[१*] मनुमानम्।

(परोक्षप्रमाणभेदस्यागमस्य निरूपणम्)

७५.[३८२]अथागमो लक्ष्यते[२*]। आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः[३८३]। [३*]अत्रागम इति लक्ष्यम्। अवशिष्टं लक्षणम्। अर्थज्ञानमित्ये[४*]तावत्युच्यमाने

उपनय, निगमन और उपनयाभास तथा निगमनाभास के लक्षण

७४. साधनवान रूप से पक्ष की दृष्टान्त के साथ साम्यता का कथन करना उपनय है। जैसे–इसीलिए यह धूम वाला है। साधन को दोहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को निगमन कहते हैं। जैसे–धूम वाला होने से यह अग्नि वाला ही है। इन दोनों का अयथाक्रम से–उपनय की जगह निगमन और निगमन की जगह उपनय का–कथन करना उपनयाभास और निगमनाभास है। अनुमान प्रमाण समाप्त हुआ।

आगम प्रमाण का लक्षण

७५. आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ 'आगम' यह लक्ष्य है और शेष उसका लक्षण है। ''अर्थज्ञान को आगम कहते हैं'' इतना ही यदि आगम का लक्षण कहा जाये तो

सति उपाधिग्रहः स्यात् उपाधिग्रहे च सति व्याप्तिग्रहः स्यादित्येवमन्योन्याश्रयः। यथा चोक्तम्–नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः उपाधेरेव दुर्वचत्वात्। सुवचत्वेऽपि दुर्ग्रहत्वात् सुग्रहत्वेऽप्यन्योन्याश्रयात्। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादेर्व्याप्ति-ग्रहाधीनग्रहत्वात्।'' वैशेषिकसूत्रोप. पृ. ९०। ३८०. विपरीतक्रमेण, क्रमभङ्गेनेत्यर्थः। ३८१. निर्णीतम्। ३८२. विस्तरतोऽनुमानं प्ररुप्याधुना क्रमप्राप्तमागमं लक्षयति अथेति। ३८३. ''आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः''–परीक्षा. ३–९९। आप्तस्य वाक्यं वचनं तन्निबन्धनं यस्यार्थज्ञानस्येत्याप्तवाक्य–निबन्धनमर्थज्ञानमिति। अत्र ''आप्त-शब्दोपादानादपौरुषेयत्वव्यवच्छेदः। अर्थज्ञान–मित्यनेनान्यापोह–ज्ञानस्याभिप्रायसूचनस्य च निरासः। –प्रमेयरत्नमाला पृ. १२५।

१*. मु 'इत्यवसित'। २*. द 'लिख्यते'। ३*. द 'तत्रागम'। ४*. म मु 'तावदुच्यमा'।

प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि [१*]यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति[३८४]। आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्त-वाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः अत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः[२*] (प्रयोजनारूढ) इति यावत्[३८५]। अर्थ एव[३*] ''तात्पर्यमेव वचसि'' इत्यभियुक्तवचनात्। तत आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युक्तमागमलक्षणं निर्दोषमेव।

प्रत्यक्षादिक में अतिव्याप्ति है, क्योंकि प्रत्यक्षादिक भी अर्थज्ञान हैं। इसलिए, ''वचनों से होने वाले'' यह पद-विशेषण दिया है। ''वचनों से होने वाले'' अर्थज्ञान को आगम का लक्षण कहने में भी स्वेच्छापूर्वक (जिस किसी के) कहे हुए भ्रमजनक वचनों से होने वाले अथवा सोये हुए पुरुष के और पागल आदि के वाक्यों में होने वाले नदी के किनारे फल हैं इत्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति है, इसलिए 'आप्त' यह विशेषण दिया है। आप्त के वचनों से होने वाले ज्ञान को आगम का लक्षण कहने में भी आप्त के वाक्यों को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति है, अतः 'अर्थ' पद दिया है। 'अर्थ' पद तात्पर्य में रुढ़ है अर्थात् प्रयोजनार्थक है, क्योंकि 'अर्थ' ही-तात्पर्य ही वचनों में है ऐसा आचार्यवचन है। मतलब यह कि यहाँ 'अर्थ' पद का अर्थ तात्पर्य विवक्षित है, क्योंकि वचनों में तात्पर्य ही होता है। इस तरह आप्त के वचनों से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को जो आगम का लक्षण कहा

---

३८४. आप्तो यथार्थवक्ता। ३८५. उक्तं च-''अर्थज्ञानमित्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिरत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफल-संसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति। आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽ-प्याप्तवाक्यार्थ (कारणे) श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिरत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः, प्रयोजनारूढ इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात् वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात्।'' प्रमेयक. टि. पृ. ३९१। प्रमेयर. टि. १२४।

१*. 'यादृग्विसंवादिविप्रलम्भ'। २*. म मु प 'तात्पर्यरूपं'। ३*. मु 'अर्थ एव' नास्ति।

यथा – ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' (तत्त्वार्थसूत्र १-१) इत्यादिवाक्यार्थज्ञानम्। सम्यग्दर्शनादीनि[१*] मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्ग उपायः, न तु मार्गाः। ततो भिन्नलक्षणानां दर्शनादीनां त्रयाणां समुदितानामेव मार्गत्वम्, न तु प्रत्येकमित्ययमर्थो मार्ग इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्य[२*] सिद्धः। अयमेव वाक्यार्थः। अत्रैवार्थे प्रमाणसाध्या संशयादिनिवृत्तिः[३*] प्रमितिः।

(आप्तस्य लक्षणम्)

७६. [३८६]कः पुनरयमाप्तः? इति चेत्; उच्यते; आप्तः[३८७] प्रत्यक्ष-प्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः। प्रमितेत्यादावेवोच्यमाने श्रुत-केवलिष्वतिव्याप्तिः, तेषामागमप्रमितसकलार्थत्वात्[३८८]। अत उक्तं प्रत्यक्षेति।

गया है वह पूर्ण निर्दोष है। जैसे–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (त० सू० १-१) ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता (सहभाव) मोक्ष का मार्ग है इत्यादि वाक्यार्थज्ञान। सम्यग्दर्शनादिक सम्पूर्ण कर्मों के क्षयरूप मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है–न कि 'मार्ग हैं'। अतएव भिन्न-भिन्न लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग है, एक-एक नहीं, ऐसा अर्थ 'मार्गः' इस एक वचन के प्रयोग के तात्पर्य से सिद्ध होता है। यही उक्त वाक्य का अर्थ है और इसी अर्थ में प्रमाण से संशयादिक की निवृत्तिरूप प्रमिति होती है।

आप्त का लक्षण

७६. आप्त किसे कहते हैं? जो प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) है और परमहितोपदेशी है, वह आप्त है। समस्त पदार्थों का ज्ञाता ही आप्त का लक्षण कहने पर श्रुतकेवलियों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वे आगम से समस्त पदार्थों को जानते हैं। इसलिए ''प्रत्यक्षज्ञान

---

३८६. आप्तस्य स्वरूपं जिज्ञासमानः परः पृच्छति कः पुनरयमाप्त इति।

३८७. ''तत्राप्तिः साक्षात्कारणादिगुणः ''सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः'' इत्यादिना साधितः''।–अष्टश. अष्टस. पृ. २३९। तया विशिष्टो योऽसावाप्त इति भावः। ३८८. श्रुतकेवलिनो हि श्रुतेन सकलार्थान् प्रतिपद्यन्ते।

१*. मु प 'दीन्यनेकानि', म 'दीन्येतानि'। २*. मु 'प्रयोगस्तात्पर्य'। ३*. मु 'साध्यसंशयादिनिवृत्तिः'।

प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ इत्येतावत्युच्यमाने[1*] [389]सिद्धेष्वतिव्याप्तिः। अत उक्तं परमेत्यादि[2*]। परमहितं [3*] निःश्रेयसम्, तदुपदेश एवार्हतः [4*]प्रामुख्येन प्रवृत्तिः। [390]अन्यत्र तु प्रश्नानुरोधादुपसर्जनत्वेनेति[391] भावः। नैवंविधः सिद्धपरमेष्ठी, तस्यानुपदेशकत्वात्। ततोऽनेन विशेषणेन तत्र नाति-व्याप्तिः। आप्त-सद्भावे प्रमाणमुपन्यस्तम्[392]। नैयायिकाद्यभिमताना-माप्ताभासानामसर्वज्ञत्वात्प्रत्यक्षप्रमितेत्यादिविशेषणेनैव निरासः[393]।

से'' यह विशेषण दिया है। ''प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता'' इतना ही आप्त का लक्षण करने पर सिद्धों में अतिव्याप्ति है, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षज्ञान से ही सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता हैं, अतः 'परमहितोपदेशी' यह विशेषण कहा है। परम-हित निःश्रेयस-मोक्ष है और उस मोक्ष के उपदेश में ही अरहन्त की मुख्यरूप से प्रवृत्ति होती है, अन्य विषय में तो प्रश्न के अनुसार गौणरूप से होती है। सिद्धपरमेष्ठी ऐसे नहीं हैं-वे निःश्रेयस का न तो मुख्यरूप से उपदेश देते हैं और न गौणरूप से, क्योंकि वे अनुपदेशक हैं। इसलिए 'परम हितोपदेशी' विशेषण कहने से उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती। आप्त के सद्भाव में प्रमाण पहले ही (द्वितीय प्रकाश में) प्रस्तुत कर आये हैं। नैयायिक आदि के द्वारा माने गये 'आप्त' सर्वज्ञ न होने से आप्ताभास हैं-सच्चे आप्त नहीं हैं। अतः उनका व्यवच्छेद (निराकरण) ''प्रत्यक्षज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता'' इस विशेषण से ही हो जाता है।

---

३८९. अशरीरिणो मुक्तात्मानः सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिन इत्युच्यन्ते। उक्तं च-

''णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।

लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता॥''-द्रव्यसं. १४।

३९०. निःश्रेयसातिरिक्ते विषये। ३९१. अमुख्येन, गौणरूपेणेत्यर्थः। ३९२. द्वितीयप्रकाशे। ३९३. व्यावृत्तिः, ततो न तत्राप्यतिव्याप्तिरिति भावः।

१*. द 'इत्युच्यमाने' मु 'इत्येतावदुच्यमाने'। २*. द 'परमेति'। ३*. मु 'परमं हितं'। ४*. म 'सम्भवति' इत्यधिकः पाठः।

७७. ननु नैयायिकाभिमत आप्तः कथं न सर्वज्ञः? इति चेत्; उच्यते; तस्य [३९४]ज्ञानस्यास्वप्रकाशकत्वादेकत्वाच्च विशेषणभूतं स्वकीयं ज्ञानमेव न जानातीति तद्विशिष्टमात्मानं ''सर्वज्ञोऽहम्'' इति कथं जानीयात्? एवमनात्मज्ञोऽयमसर्वज्ञ एव। प्रपञ्चितं च सुगतादीनामाप्ताभासत्वमाप्त-मीमांसाविवरणे[३९५] श्रीमदाचार्यपादैरिति[३९६] विरम्यते। वाक्यं तु [३९७]तन्त्रान्तर-

---

७७. शंका— नैयायिकों के द्वारा माना गया आप्त क्यों सर्वज्ञ नहीं है?

समाधान— नैयायिकों ने जिसे आप्त माना है, वह अपने ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, क्योंकि उनके यहाँ ज्ञान को अस्वसंवेदी–ज्ञानान्तरवेद्य माना गया है, दूसरी बात यह है कि उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानान्तर भी नहीं है। अन्यथा उनके अभिमत आप्त में दो ज्ञानों के सद्भाव का प्रसंग आयेगा और दो ज्ञान एक साथ हो नहीं सकते, क्योंकि सजातीय दो गुण एक साथ नहीं रहते, ऐसा नियम है। अतः जब वह विशेषणभूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता हैं तो उस ज्ञानविशिष्ट आत्मा को (अपने को) कि ''मैं सर्वज्ञ हूँ'' ऐसा कैसे जान सकता है? इस प्रकार जब वह अनात्मज्ञ है तब असर्वज्ञ ही है—सर्वज्ञ नहीं है और सुगतादिक सच्चे आप्त नहीं है, इसका विस्तृत निरूपण आप्तमीमांसाविवरण–अष्टशती में श्रीअकलंकदेव ने तथा अष्टसहस्री में श्रीविद्यानन्दि स्वामी ने किया हैं। अतः यहाँ और अधिक विस्तार नहीं किया गया। वाक्य का लक्षण* दूसरे शास्त्रों में**

---

३९४. नैयायिका हि ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं मन्यन्ते। ततो तैराप्तत्त्वेनाभिमतो महेश्वरः स्वज्ञानस्याप्रवेदनात्तद्विशिष्टस्यात्मनोऽप्यज्ञानान्न सर्वज्ञ इति भावः।

३९५. अष्टशत्याम्। ३९६. श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः। आप्तमीमांसालङ्कारे (अष्टसहस्र्यां) च श्रीविद्यानन्दस्वामिभिरित्यपि बोध्यम्। ३९७. तदित्थम्–''पदानां

---

* **परस्पर में अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे— ''गाय को लाओ'' यहाँ 'गाय को' और 'लाओ' ये दोनों पद एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तभी वे विवक्षित अर्थ का बोध कराने में समर्थ हैं तथा इस अर्थ के बोध में अन्य वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती इसलिए उक्त दोनों पदों का समूह निरपेक्ष भी है।**

** **प्रमेयकमलमार्त्तण्डादिक में।**

परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।''– अष्टश. अष्टस. पृ. २८५।''वर्णानाम-न्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्। पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।'' न्यायकुमु. पृ. ७३७। प्रमेयक. पृ. ४५८।''यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम्।''–प्रमेयक. पृ. ४५८। ''वाक्यं विशिष्टपदसमुदायः।'' यदाह–

''पदानां संहतिर्वाक्यं सापेक्षाणां परस्परम्।

साख्यताः कल्पनास्तत्र पश्चात्सन्तु यथायथम्॥''–न्यायाव. टी. टि. पृ. ८।

''वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति।''

–प्रमाणनयत. ४–१०।

परैस्तु वाक्यलक्षणमित्थमभिमतम्–''आख्यातं साव्ययं सकारकं स–कारक-विशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्, अपर आह–आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि। एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्।'' पात. महाभा. २–१–१। ''तिङ्–सुबन्त–चयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।''–अमरको.।''पूर्वपदस्मृत्यपेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानो विशेष-प्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम्।''–न्यायवा. पृ. १६। ''यावद्भिः पदैरर्थपरिसमाप्तिः तदेकं वाक्यम्।''–वादन्याय. पृ. १०८।''पदसमूहो वाक्यम्।''–न्यायम. पृ. ६३७। न्यायवा. ता. पृ. ४३४। ''वाक्यं पदसमूहः, यथा–गामानय शुक्लां दण्डेनेति।''–तर्कसं. पृ. १२२।''अथात्र प्रसङ्गान्मीमांसक वाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह–

साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।

कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥–वाक्यप. २–४।

मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्।

सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादिदोषतः॥

यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयताकान्वयबोधं प्रत्यनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृश-शब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम्।''–शब्दश. श्लो. १३।

''वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः।''–साहि. द. पृ. २–१। ''पदानामभिधित्सार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम्।''–काव्यमी. पृ. २२। अन्यदपि वाक्यलक्षणं कैश्चिदुक्तम्–

आख्यातशब्दः (१) सङ्घातो (२) जातिः सङ्घातवर्त्तिनी (३)।

एकोऽनवयवः शब्दः (४) क्रमो (५) बुद्ध्यनुसंहृती (६, ७)॥

पदमाद्यं (८) पदं चान्त्यं (९) पदं सापेक्षमित्यपि (१०)।

वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम्॥ –वाक्यप. २–१, २।

तत्र पूर्वोक्तमेव ''पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्'' इति वाक्यलक्षणं समीचीनम्। अन्येषां तु सदोषत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्।

सिद्ध-मिति नेह[३९८] लक्ष्यते।

(अर्थस्य लक्षणम्)

७८. [३९९]अथ कोऽयमर्थो नाम? उच्यते; अर्थोऽनेकान्तः। अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः, अभिधेय इति यावत्। अनेकान्त इति लक्षणकथनम् [४००]अनेके अन्ता धर्माः सामान्य-विशेष-पर्याय-गुणा[१*] यस्येति सिद्धो-ऽनेकान्तः। तत्र सामान्यमनुवृत्ति[२*]स्वरूपम्[४०१]। तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नो-दराकारः[३*], गोत्वमिति

प्रसिद्ध है, इस कारण उसका भी यहाँ लक्षण नहीं किया जाता है।

अर्थ का लक्षण और उसका विशेष कथन

७८. अर्थ किसे कहते हैं? अनेकान्त को अर्थ कहते हैं अर्थात् जो अनेकान्त स्वरूप है, उसे अर्थ कहते हैं। यहाँ 'अर्थ' यह लक्ष्य का निर्देश है, उसी को अभिधेय अर्थात् कहा जाने वाला भी कहते हैं। ''अनेकान्त यह लक्षण का कथन है। जिसके अथवा जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म-सामान्य, विशेष, पर्याय और गुण पाये जाते हैं, उसे अनेकान्त कहते हैं।'' तात्पर्य यह कि सामान्यादि अनेक धर्म वाले पदार्थ को अनेकान्त कहते हैं। 'घट-घट' 'गौ-गौ' इस प्रकार के अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते

---

३९८. न्यायदीपिकायाम्।

३९९. अर्थस्य स्वरूपं प्रतिपादयितुमाह अथेति।

४००. अनेकान्तस्य व्युत्पत्तिमुखेन लक्षणं निबध्नाति अनेके इति।

४०१. अनुगताकारप्रतीतिविषयमित्यर्थः। अत्रायं विशेषः-''सामान्यं द्विविधम्-ऊर्ध्वतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं चेति। तत्रोर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेक-त्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यम्। तिर्यक्सामान्यं नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम्।''- युक्त्यनुशा. टी. पृ. ९०। ''सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। ४-३। सदृशपरिमाणस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्। ४-४। परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु''। ४-५। -परीक्षामुख।

१*. मु 'पर्याया गुणा'।

२*. म प मु 'अनुवृत्त'। ३*. आ प 'पृथुवुघ्नोदराद्याकारः'।

सास्नादिमत्वमेव। तस्मान्न व्यक्तितोऽत्यन्तमन्यन्नित्यमेकमनेकवृत्ति[४०२]। अन्यथा–

हैं। वह 'घटत्व' स्थूल कम्बुग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है। अतएव घटत्वादि सामान्य घटादि व्यक्तियों से न सर्वथा भिन्न है, न नित्य है और न एक तथा अनेकों में रहने वाला है। यदि वैसा माना जाये तो अनेकों दूषण आते हैं, जिन्हें दिग्नाग ने निम्न कारिका के द्वारा प्रदर्शित किया है–

४०२. ''सामान्यं द्विविधं परमपरं च। तत्र परं सत्ता, अपरं सत्ताव्याप्यं द्रव्यत्वादि।...तत्र नित्यमनेक व्यक्तिवृत्ति सामान्यम्, नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यं वा। परमपि सामान्यमपरमपि तथाऽपरं तु सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते।''–वैशेषिक सूत्रोप. पृ. ३४। तन्न युक्तम्–''नित्यैकरूपस्य गोत्वादेः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्तिषु वृत्त्ययोगाच्चानेकं सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम्।''–प्रमेयरत्न० ४–४ पृ. १७६। ''तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्'' नित्यसर्वगतस्वभावत्वेऽर्थक्रिया–कारित्वायोगात्।...तत् (सामान्यं) सर्वसर्वगतं स्वव्यक्तिसर्वगतं वा? न तावत्सर्वसर्वगतम्, व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवत्।...नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्, प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽनेकत्वानुषङ्गाद्व्यक्तिस्वरूपवत्। कार्त्स्न्यैक देशाभ्यां वृत्त्यनुपपत्तेश्चासत्त्वम्। किञ्च, एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्तमानस्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात्। तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात्, अंशवत्तया वा स्यात्? न तावद् गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः; निष्क्रियत्वोपगमात्। किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा? न तावत्परित्यागेन, प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात्। नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात्। न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा। नापि पिण्डेन सहोत्पादात्, तस्यानित्यत्वानुषङ्गात्। नापि तद्देशे सत्त्वात्, पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्यावस्थानाभावात्। भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः। नाप्यंशवत्तया, निरंशत्वप्रतिज्ञानात्। ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषङ्गः। परेषां प्रयोगः ''ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽसन्तः, यथा खरोत्तमाङ्गे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनि'' इति। उक्तं च–

''न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।

न [४०३]याति* न च [४०४]तत्रास्ते न[४०५] पश्चादस्ति[४०६] नाशवत्[१*]।
[४०७]जहाति पूर्वं नाधारमहो[४०८] **व्यसनसन्तति:[४०९]॥

अर्थात् वह गोत्वादि सामान्य शावलेयादि व्यक्तियों से यदि सर्वथा भिन्न, नित्य, एक और अनेक वृत्ति है तो जब एक गौ उत्पन्न हुई तब उसमें गोत्व कहाँ से आता है? अन्यत्र से आ नहीं सकता क्योंकि उसे निष्क्रिय माना है। उत्पन्न होने के पहले गोत्व वहाँ रहता नहीं, क्योंकि गोत्व सामान्य गौ में ही रहता है। अन्यथा, देश भी गोत्व के सम्बन्ध से गौ हो जायेगा। गोपिण्ड के साथ उत्पन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे नित्य माना है, अन्यथा उसके अनित्यता का प्रसंग आयेगा, अंशवान है नहीं, क्योंकि उसे निरंश स्वीकार किया है। नहीं तो सांशत्व का प्रसंग आयेगा।

जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥''–प्रमेयक. पृ. ४७३।

किञ्च, इदं सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नं चेत्, तत् व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते न वा? यद्युत्पद्यते, तद्वदेवानित्यत्वम्। नोत्पद्यते चेत्, तत् उत्पत्तिप्रदेशे विद्यते न वा? यदि विद्यते, व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वमपि गृह्येत। अथ तद्देशे तत् नास्ति, उत्पन्ने तु व्यक्तिविशेषे व्यक्त्यन्तराद् आगच्छति। ननु ततः तत् आगच्छत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्य आगच्छति न वा? प्रथमपक्षे तस्याः तद्रहितत्वप्रसङ्गः। अथापरित्यज्य, तत्रापि किं व्यक्त्या सहैवागच्छति किं वा केनचिदंशेन तत्रैव तिष्ठति केनचिदागच्छति? प्रथमविकल्पे शावलेयेऽपि ''बाहुलेयोऽयम्'' इति प्रतीतिः स्यात्। द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्तः, निरंशत्वेनास्यांशवत्तया प्रवृत्त्यसम्भवात्। सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्वप्रसङ्गः।''–न्यायकुमु. पृ. २८७, २८८। ''क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तं सामान्यं समवायश्च तावत् उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदनाश्रितत्वप्रसङ्गात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारा-परित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति

१*. प मु 'नाशयत्'।

---

* **'नायाति' पाठान्तरम्।**

** **कारिका का शब्दार्थ यह है कि ''गोत्वादि सामान्य दूसरी गौ में अन्यत्र से जाता नहीं, न वहाँ रहता है, न पीछे पैदा होता है, न अंशोंवाला है, और न पहले के अपने आश्रय को छोड़ता है फिर भी उसकी स्थिति है– वह सम्बद्ध हो जाता है; यह कैसी व्यसनसन्तति–कदाग्रहपरम्परा है।''**

इति दिग्नागदर्शित[१*]दूषणगणप्रसरप्रसङ्गात्[४१०]। पृथुबुध्नोदराका-

---

यदि वह पूर्व पिण्ड को छोड़कर नूतन गौ में आता है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्व पिण्ड का त्याग नहीं माना है। अन्यथा पूर्व गोपिण्ड गौ, अगौ-गोत्वशून्य हो जायेगा, फिर उसमें 'गौ' व्यवहार नहीं हो सकेगा। इस तरह गोत्वादि सामान्य को व्यक्ति से सर्वथा भिन्न, नित्य और एक मानने में अनेक विध दूषण प्रसक्त होते हैं। अतः स्थूल और कम्बुग्रीवा आदि आकार के तथा सास्ना आदि के देखने के बाद ही "यह घट है" "यह गौ है" इत्यादि अनुगत प्रत्यय होने से सदृश परिणामरूप ही घटत्व-गोत्वादि सामान्य है और वह कथञ्चित् भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य और एक-अनेक रूप है।

इस प्रकार के सामान्य के मानने में उपर्युक्त कोई भी दूषण नहीं

स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं चेति व्याहतमेतत्।"-अष्टस. पृ. २१९। एतदुक्तानेव दोषान् दिग्नागोक्तकारिकया मूले दीपिकाकारो दर्शयति न यातीति। ४०३. गोत्वादिसामान्यं हि व्यक्त्यन्तरं न गच्छति निष्क्रियत्वोपगमात्। ४०४. व्यक्तिदेशे, यत्र गोपिण्ड उत्पद्यते तत्र न गोपिण्डोत्पादात्पूर्वं विद्यते, देशस्यापि तस्य गोत्वापत्तेः। ४०५. न वा गोपिण्डोत्पादानन्तरं तेन सहोत्पद्यते, तस्य नित्यत्वाभ्युप-गमात्। अन्यथाऽनित्यत्वानुषङ्गात्। ४०६. न चांशसहितं निरंशत्वप्रतिज्ञानात्, अन्यथा सांशत्वप्रसङ्गात्। ४०७. न च प्राक्तनमाधारं गोपिण्डं त्यजति, तस्यागोत्वापत्तेः। ४०८. तदेवं गोत्वादिसामान्यस्य नित्यैकसर्वगतत्त्वाभ्युपगमे एतैर्दूषणैर्न परिमुच्यते सोऽयं यौगः। अहो आश्चर्यं कष्टं वा एतेषामपरिहार्या व्यसनसन्ततिः दूषणपरम्परा, वृथा स्थितिरिति यावत्। ४०९. कारिकेयं धर्मकीर्त्तिविरचिते प्रमाणवार्त्तिकेऽपि (१-१५३) मूलरूपेणोप-लभ्यते। परमत्र ग्रन्थकृता नामोल्लेखपुरस्सरं दिग्नागस्योक्ता। ततः सम्भवति दिग्नागस्यैव कस्यचिद् ग्रन्थस्येयं कारिका स्यादिति। ४१०. दिग्नागेनोक्तकारिकया दर्शितानि दूषणानि, तेषां गणः समूहस्तस्य प्रसरो विस्तरस्तस्य प्रसङ्गस्तस्मादित्यर्थः।

१*. मु 'दूषित'।

रादिदर्शनानन्तरमेव ''घटोऽयं घटोऽयं गौरयं गौरयम्'' इत्याद्यनुवृत्त-प्रत्ययसम्भवात्[४११]। [४१२]विशेषोऽपि ''स्थूलोऽयं घटः, सूक्ष्मः'' इत्यादिव्या-वृत्तप्रत्ययालम्बनं[१*] घटादिस्वरूपमेव। [४१३]तथा चाह भगवान् माणिक्य-नन्दिभट्टारकः – ''सामान्यविशेषात्मा तदर्थः'' (परीक्षा ४-१) इति।

७९. [४१४]पर्यायो द्विविधः—अर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्यायश्चेति तत्रार्थ-पर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसंस्पर्शरहितशुद्धवर्त्तमानकालाव[२*]च्छिन्नं वस्तु-स्वरूपम्। तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामनन्त्यभियुक्ताः। एतदेकदेशावलम्बिनः खलु सौगताः क्षणिकवादिनः। व्यञ्जनं व्यक्तिः प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम्[३*] तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्यायः मृदादेः

आता है। विशेष भी सामान्य की ही तरह ''यह स्थूल घट है'' ''यह छोटा है'' इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्तिस्वरूप ही है। इसी बात को भगवान् माणिक्यनन्दि भट्टारक ने भी कहा है कि–''वह अर्थ सामान्य और विशेषरूप है।''

७९. परिणमन को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं–१. अर्थपर्याय और २. व्यञ्जनपर्याय। उनमें भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं अर्थात् वस्तुओं में प्रतिक्षण होने वाली पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्रनय का विषय माना है। इसी के एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध है। व्यक्ति का नाम व्यञ्जन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदिरूप अर्थक्रियाकारिता है वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं अर्थात् जो पदार्थों में

---

४११. अनुगतप्रतीतिभावात्। ततो घटत्वादिसामान्यं घटादिव्यक्तेः कथञ्चिदभिन्नमेवेत्यवसेयम्। ४१२. तदुक्तं परीक्षामुखे–''विशेषश्च। ४-६। पर्यायव्यतिरेकभेदात्। ४-७। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्। ४-८। अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गो-महिषादिवत्''। ४-९। ४१३. स्वोक्तमेव प्रमाणयति तथा चाहेति। ४१४. संक्षेपतः सामान्यं विशेषं च निरूप्य पर्यायं निरूपयितुमाह पर्यायेति।

१*. मु 'वलम्वनं'। २*. प मु 'कालत्वाव'। ३*. आ 'निबन्धनजलानय-नाद्यर्थक्रियाकारित्वे', म प मु 'निबन्धनजलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वं'।

(यथा) पिण्डस्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादयः[1*] पर्यायाः।

८०. [415]यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः [416]वस्तुत्व-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः। मृद्द्रव्यसम्बन्धिनो हि वस्तुत्वादयः पिण्डादि-पर्यायाननुवर्त्तन्ते, न तु पिण्डादयः स्थासादीन्। तत[2*] एव पर्यायाणां गुणेभ्यो भेदः[417]। [418]यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहण-

---

प्रवृत्ति और निवृत्तिजनक जलानयन आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ पर्याय है, उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे– मिट्टी आदि का पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्याय हैं।

८०. जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं और वे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि हैं अर्थात् वे गुण दो प्रकार के हैं– १. सामान्य गुण और २. विशेषगुण। जो सभी द्रव्यों में रहते हैं, वे सामान्य गुण हैं और वे वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि हैं तथा जो उसी एक द्रव्य में रहते हैं, वे विशेषगुण कहलाते हैं। जैसे–रूप-रसादिक। मिट्टी के साथ सदैव रहने वाले वस्तुत्व व रूपादि तो पिण्डादि पर्यायों के साथ भी रहते हैं किन्तु पिण्डादि स्थासादिक के साथ नहीं रहते हैं इसीलिए पर्यायों का गुणों से भेद है। अर्थात् पर्याय और गुण में यही भेद है कि पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और गुण सहभावी होते हैं तथा वे द्रव्य और पर्याय के साथ सदैव रहते हैं।

---

४१५. गुणं लक्षयति यावदिति। ४१६. वस्तुत्वप्रमेयत्वादयः सामान्यगुणाः। रूपरसादयो विशेषगुणाः। तेषां लक्षणं तु–

सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्त्तन्ते।

ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम्॥

तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्ज्ञाः।

ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमिता विशेषगुणाः॥–अध्यात्मक. २-७, ८।

४१७. गुणपर्याययोः को भेदः? इत्यत्रोच्यते, सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्याया इति। गुणा हि द्रव्येण सह त्रिकालावच्छेदेन वर्त्तन्ते, न तु पर्यायाः, तेषां क्रमवर्त्तित्वादिति भावः। तथा चोक्तम्–

१*. द 'कपालमालादयः'। २*. द 'अत'।

निबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्चागम[1*] प्रस्तावे तयोः पृथग्निर्देशः। [2*]तदनयो-र्गुणपर्याययोः द्रव्यमाश्रयः, ''गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'' (तत्त्वार्थसूत्र ५-३८) इत्याचार्यानुशासनात्[419]। तदपि सत्त्वमेव ''सत्त्वं द्रव्यम[420]'' [] इत्य-कलङ्कीयवचनात्[3*]।

(सत्त्वं द्विधा विभज्य द्वयोरप्यनेकान्तात्मकत्वप्ररूपणम्)

८१. [421]तदपि जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चेति संक्षेपतो द्विविधम्।

यद्यपि सामान्य और विशेष भी पर्याय है और पर्यायों के कथन से उनका भी कथन हो जाता है—उनका पृथक् कथन करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि संकेतज्ञान में कारण होने और जुदा-जुदा शब्द व्यवहार होने से इस आगम प्रस्ताव में (आगम प्रमाण के निरूपण में) सामान्य और विशेष का पर्यायों से पृथक् निर्देश किया है। इन सामान्य और विशेषरूप गुण तथा पर्यायों का आश्रय द्रव्य है, क्योंकि जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है ऐसा आचार्य महाराज का आदेश (उपदेश) है। वह द्रव्य भी सत्त्व अर्थात् सत् ही है; क्योंकि जो सत्त्व है वह द्रव्य है, ऐसा अकलंकदेव का वचन है।

सत्त्व के दो भेद करके दोनों का अनेकान्तात्मक प्ररूपण

८१. द्रव्य भी संक्षेप में दो प्रकार का है—जीव द्रव्य और अजीव

अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा ह्यनन्तांशाः।
द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत्॥
व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि।
ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्मांशाः॥ —अध्यात्मक० २-६, ९।

४१८. ननु सामान्यविशेषावपि पर्यायावेव, तत्कथमत्र तयोः पर्यायेभ्यः पृथग् निर्देश इत्यत आह यद्यपीति। सामान्यविशेषौ यद्यपि पर्यायावेव तथाप्याऽऽगम-प्रकरणानुरोधात्तयोः पृथग्निर्देशकर्त्तव्यस्यावश्यकत्वादिति। ४१९. उपदेशात्। ४२०. भगवता श्रीउमास्वातिनाऽप्युक्तम्—''सद्द्रव्यलक्षणम्''—तत्त्वार्थसू. ५-२९। ४२१. सत्त्वमपि।

१*. मु 'निबन्धनस्य शब्दव्यवहारविषयत्वादागम'।

२*. द 'तद्वदनयो। ३*. आ प 'इत्याकरज्ञवचनात्', मु 'इत्याकरजवचनात्' पाठः। मूले च प्रतेः पाठो निक्षिप्तः। स च युक्तः प्रतिभाति।—सम्पा.।

[४२२]**द्वयमप्येतदुत्पत्तिविनाशस्थितियोगि ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' (तत्त्वार्थसू. ५-३०) इति निरूपणात्**[४२३] **। तथा हि-जीवद्रव्यस्य स्वर्गप्रापकपुण्योदये सति मनुष्यस्वभावस्य व्ययः दिव्य**[१*] **स्वभावस्योत्पादः चैतन्यस्वभावस्य**

द्रव्य और ये दोनों ही द्रव्य उत्पत्ति, विनाश तथा स्थितिवान है, क्योंकि जो ''उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है वह सत् है'' ऐसा निरूपण किया गया है। इसका खुलासा इस प्रकार है-जीव द्रव्य के स्वर्ग प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्म (देवगति, देवायु आदि) का उदय होने पर मनुष्य स्वभाव का विनाश होता है, दिव्य स्वभाव का उत्पाद होता है और चैतन्य स्वभाव

---

४२२. जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चापि।

४२३. समन्तभद्रस्वामिभिरपि तथैव प्रतिपादनात्। तथा हि-

घटमौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥

-आप्तमी. का. ५९, ६०।

इदमत्राकूतम्-सर्वं हि वस्तुजातं प्रतिसमयमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं समनुभूयते। घटार्थिनो हि जनस्य घटविनाशे शोकः, मुकुटार्थिनो मुकुटोत्पादे हर्षः, सुवर्णार्थिनश्च सुवर्णसत्त्वे माध्यस्थं जायमानं दृश्यते। न चैतद् निर्हेतुकं सम्भवति। तेन विज्ञायते सुवर्णादिवस्तु उत्पादादित्रयात्मकम्, तदन्तरेण शोकाद्यनुपपत्तेरिति। एवं ''यस्य पयो दुग्धमेवाहं भुञ्जे इति व्रतं नियमः, नासौ दध्यत्ति-दधि भुङ्क्ते। यस्य च दध्यहं भुञ्जे इति व्रतम् नासौ पयोऽत्ति-दुग्धं भुङ्क्ते। यस्य चागोरसमहं भुञ्जे इति व्रतम्, नासावुभयमत्ति। कुतः? गोरसरूपेण तयोरेकत्वात्। दुग्धव्रतस्य दधिरूपेणाभावात्, दधिव्रतस्य पयोरूपेणाभावात्, अगोरसव्रतस्य दधिदुग्धरूपेणाभावात्। तस्मात्तत्वं वस्तु त्रयात्मकं स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं सुघटमेतदनेकान्ते जैनमते इति।''-आप्तमी. वृ. का. ६०। श्रीपण्डितप्रवरराजमल्लेनाप्युक्तम्-

कैश्चित्पर्य्ययविगमैर्व्येति द्रव्यं ह्युदेति समकाले।
अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम्॥ -अध्यात्मक. २-१६।

१*. म मु 'देव'।

ध्रौव्यमिति। जीवद्रव्यस्य [424]सर्वथैकरूपत्वे[1*] पुण्योदयवैफल्यप्रसङ्गात्। सर्वथा भेदे पुण्यवानन्यः फलवानन्य इति पुण्यसम्पादनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्[425]। [2*]परोपकारेऽप्यात्मसुकृतार्थमेव प्रवर्त्तनात्[3*] तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणाभेदो मनुष्य[4*]देवपर्यायरूपेण भेद इति [5*]प्रतिनियतनयनिरस्तविरोधौ भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव।[426]

८२. तथैवाजीवस्य[6*] मृद्द्रव्यस्यापि मृदः पिण्डाकारस्य व्ययः

स्थिर रहता है। जीव द्रव्य यदि मनुष्यादि पर्यायों से सर्वथा एक रूप (अभिन्न) हो तो पुण्य कर्म के उदय का कोई फल नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह सदैव एक-सा ही बना रहेगा-मनुष्य स्वभाव का विनाश और देव पर्याय का उत्पाद; ये भिन्न परिणमन उसमें नहीं हो सकेंगे और यदि सर्वथा भिन्न हो तो पुण्यवान-पुण्यकर्ता दूसरा होगा और फलवान-फलभोक्ता दूसरा, इस तरह पुण्य-कर्म का उपार्जन करना भी व्यर्थ हो जायेगा। परोपकार में भी जो प्रवृत्ति होती है, वह अपने पुण्य के लिए ही होती है। इस कारण जीव द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है और मनुष्य तथा देवपर्याय की अपेक्षा से भेद है इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयों की दृष्टि से भेद और अभेद के मानने में कोई विरोध नहीं है, दोनों प्रामाणिक हैं-प्रमाणयुक्त हैं।

८२. इसी तरह मिट्टीरूप अजीव द्रव्य के भी मिट्टी के पिण्डाकार

---

४२४. पर्यायेभ्यः सर्वथाऽभेदे। ४२५. मनुष्यादिपर्यायेभ्यो जीवद्रव्यस्य कथञ्चिदप्यन्वयाभावे कृतस्य फलाभावादकृतस्य च फलप्राप्तेः पुण्यसम्पादनं व्यर्थमेव स्यात्। कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च स्यादिति भावः। ४२६. न हीमावनुभूयमानौ भेदाभेदौ मिथ्याभूतौ विरुद्धौ वा। तथा चोक्तं श्रीमत्समन्तभद्राचार्यैः-

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया॥

-आप्तमी. का. ३६।

१*. म प 'कान्तरूपे', मु 'कान्तरूपत्वे'।
२*. म 'कारोऽप्या', मु 'कारस्याप्या'।
३*. 'प्रवर्त्तमानात्', मु 'प्रवर्त्तमानत्वात्'। ४*. मु 'मनुष्यपर्यायदेवपर्याय'।
५*. द 'प्रतिनियम'। ६*. मु 'तथैवाजीवद्रव्यस्यापि'।

पृथुबुध्नोदराकारस्योत्पादः मृद्रूपस्य ध्रुवत्वमिति सिद्धमुत्पादादियुक्तत्वम-जीवद्रव्यस्य[1*]। स्वामिसमन्तभद्राचार्याभिमतानु[2*]सारी वामनोऽपि सदु-पदेशात्प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितनमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्त्तुं च यः समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारीत्याह ''न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्''[] इति तदेवमनेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणवाक्य-विषयत्वादर्थत्वेनावतिष्ठते। तथा च प्रयोगः—[427]सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्, यदुक्तसाध्यं न तन्नोक्त-साधनम्, यथा गगनारविन्दमिति।

८३.ननु यद्यप्यरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति ततो न सत्त्वरूपहेतु[3*]व्यावृत्तिरिति[4*] चेत्; तर्हि तदेतदरविन्दमधिकरणविशेषा-पेक्षया

का विनाश, कम्बुग्रीवा आदि आकार की उत्पत्ति और मिट्टीरूप की स्थिति होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अजीव द्रव्य में भी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीनों होते हैं। स्वामी समन्तभद्र के मत का अनुसरण करने वाले वामन ने भी कहा है कि—समीचीन उपदेश से पहले के अज्ञान स्वभाव को नाश करने और आगे के तत्त्वज्ञान स्वभाव के प्राप्त करने में जो समर्थ आत्मा है, वही शास्त्र का अधिकारी है। जैसा कि उसके इस वाक्य से प्रकट है—

''**न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्**'' अर्थात् शास्त्र असद् द्रव्यों में (जो जीव अज्ञान स्वभाव के दूर करने और तत्त्वज्ञान स्वभाव के प्राप्त करने में समर्थ नहीं है उसमें) प्रयोजनवान नहीं है—कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप वस्तु प्रमाणवाक्य का विषय है और इसलिए वह अर्थ सिद्ध होती है। अतएव इस प्रकार अनुमान करना चाहिए कि समस्त पदार्थ अनेकान्तस्वरूप है, क्योंकि वे सत् है, जो अनेकान्तस्वरूप नहीं है वह सत् भी नहीं है, जैसे—आकाश का कमल।

८३. शंका—यद्यपि कमल आकाश में नहीं है तथापि तालाब में है। अतः उससे (कमल से) ''सत्व हेतु की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो यह कमल अधिकरण विशेष की

---

४२७. यदुक्तम्– ''तद्द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।''–लघीय. का. ७।

१*. म मु 'मजीवस्य'। २*. मु 'भिमतमतानु'। ३*. आ म मु 'सत्त्वहेतु'। ४*. द मु 'इति' नास्ति।

सदसदात्मकमनेकान्तमित्यन्वयदृष्टान्तत्वं[४२८] भवतैव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता। [४२९]उदाहृतवाक्येनापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव, न संसारकारणत्वमिति विषयविभागेन कारणा-कारणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते।''सर्वं वाक्यं सावधारणम्'' इति न्यायात्। एवं प्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मकं वस्तु।

अपेक्षा से सत् और असत् दोनों रूप होने से अनेकान्तस्वरूप सिद्ध हो गया और उसे अन्वयदृष्टान्त आपने ही स्वीकार कर लिया। इससे ही आपको सन्तोष कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि ऐसा कहने से भी वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध हो जाती है।

पहले जिस ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' वाक्य का उदाहरण दिया गया है, उस वाक्य के द्वारा भी ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में मोक्षकारणता ही है, संसारकारणता नहीं'' इस प्रकार विषयविभागपूर्वक (अपेक्षा भेद से) कारणता और अकारणता का प्रतिपादन करने से वस्तु अनेकान्तस्वरूप कही जाती है। यद्यपि उक्त वाक्य में अवधारण करने वाला कोई एवकार जैसा शब्द नहीं है तथापि ''सर्वं वाक्यं सावधारणम्'' अर्थात् सभी वाक्य अवधारण सहित होते हैं इस न्याय से उपर्युक्त वाक्य के द्वारा भी सम्यग्दर्शनादि में मोक्षकारणता का विधान और संसारकारणता का निषेध स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से यह सिद्ध हुआ कि वस्तु अनेकान्तस्वरूप है।

---

४२८. अरविन्दस्येति शेषः।

४२९. प्रत्यक्षेणानुमानेन च वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वं प्रसाध्यागमेनापि तत्प्रसाधनार्थमाह उदाहृतेति। अयं भावः-''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इत्यागमो यथा सम्यग्दर्शनादित्रयाणां समुदितानां मोक्षकारणत्वं प्रतिपादयति तथा संसारकारणत्वाभावमपि। तथा चागमादपि सम्यग्दर्शनादीनां कारणा-कारणात्मकत्वमनेकान्तस्वरूपं प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

(नयं स्वरूपतः प्रकारतश्च निरूप्य सप्तभङ्गीप्रतिपादनम्)

८४.नया विभज्यन्ते[1*]। ननु कोऽयं नयो नाम[2*]? उच्यते; प्रमाण-गृहीतार्थैकदेशग्राही [430]प्रमातुरभिप्रायविशेषः[3*]। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः[431]" (लघीय. का. ५२) इत्यभिधानात्। स नयः संक्षेपेण द्वेधा[432]-द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति। तत्र द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मक-मनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योप-सर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन्[4*] स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहार-

---

नय का लक्षण, उसके भेद और सप्तभंगी का प्रतिपादन

८४. प्रमाण का विस्तार से वर्णन करके अब नयों का विश्लेषण पूर्वक कथन किया जाता है। नय किसे कहते हैं? प्रमाण से जाने हुए पदार्थ के एक देश (अंश) को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्रायविशेष को नय कहते हैं, क्योंकि "ज्ञाता का अभिप्राय नय है" ऐसा कहा गया है। उस नय के संक्षेप में दो भेद हैं-१. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। उनमें द्रव्यार्थिक नय प्रमाण के विषयभूत द्रव्य-पर्यायात्मक एकानेकात्मक अनेकान्तरूप अर्थ का विभाग करके पर्यायार्थिकनय के विषयभूत भेद को गौण करता हुआ उसकी स्थिति मात्र को स्वीकार कर अपने विषय द्रव्य को अभेदरूप व्यवहार कराता है, अन्य नय के विषय का निषेध नहीं

---

४३०. श्रुतज्ञानिनः अभिप्रायो विवक्षा। ४३१. सम्पूर्णश्लोकस्त्वित्थम्-

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥

४३२. "नयो द्विविधः-द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकेन, सामान्यात्मकत्वात्।"-सर्वार्थसि. १-६। यथोक्तं श्रीविद्यानन्दस्वामिभिः-संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्याय-गोचरौ।"-त. श्लो. पृ. २६८।

"स द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। द्रवति द्रोष्यति अद्रुवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्थोऽस्ति यस्य सो द्रव्यार्थिकः।" लघीय. का. स्वो. ३०।

१*. द 'अथ नयं विभजति' पाठः। २*. द 'नाम नयः'।
३*. म मु 'नयः' इत्यधिकः पाठः। ४*. द 'मभ्यनुजानानः'।

यति "नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः" [] इत्यभिधानात्[४३३]। यथा सुवर्णमानयेति। अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात्। द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्त्तमानपर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्त्तते कटकादिपर्यायात् कुण्डलपर्यायस्य भिन्नत्वात्[१*]। ततो द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव। पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव। क्रमेणोभयनयाभिप्रायेणस्यादेकमनेकं च[२*]। युगपदुभय[३*]नयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्

करता इसीलिए "दूसरे नय के विषय की अपेक्षा रखने वाले नय को सत् नय–सम्यक् नय अथवा सामान्य नय कहा है।" जैसे–यह कहना कि "सोना लाओ"। यहाँ द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से "सोना लाओ" के कहने पर लाने वाला कड़ा, कुण्डल, केयूर इनमें से किसी को भी ले आने से कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि सोनेरूप से कड़ा आदि में कोई भेद नहीं है। पर जब पर्यायार्थिकनय की विवक्षा होती है तब द्रव्यार्थिकनय को गौण करके प्रवृत्त होने वाले पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से "कुण्डल लाओ" यह कहने पर लाने वाला कड़ा आदि के लाने में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि कड़ा आदि पर्याय से कुण्डल पर्याय भिन्न है। अतः द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय (विवक्षा) से सोना कथंचित् एक रूप ही है, पर्यायार्थिकनय के अभिप्राय से कथंचित् अनेक रूप ही है और क्रम से दोनों नयों के अभिप्राय से कथंचित् एक और अनेक रूप है। एक साथ दोनों नयों के अभिप्राय से कथंचित् अवक्तव्यस्वरूप है; क्योंकि एक साथ प्राप्त हुए दो

४३३.. उक्तं च–

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः।

ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः॥–लघीय. का. ३०।

१*. मु 'कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात्।

२*. द 'च' नास्ति।

३*. द 'एवं च युगपदुभय'।

युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमर्शासम्भवात्। न हि युगपदुपनतेन शब्दद्वयेन घटस्य प्रधानभूतयो[1*] रूपवत्त्वरसवत्त्व-योर्विविक्तस्वरूपयोः प्रतिपादनं शक्यम्। तदेतदवक्तव्यस्वरूपं तत्तद-भिप्रायैरुपनतेनैकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्तव्यम् स्यादनेकमवक्तव्यम् स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात्। सैषा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गी-त्युच्यते, भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात् सप्तानां भङ्गनां समाहारः सप्तभङ्गीति[434] सिद्धेः।

नयों से विभिन्न स्वरूप वाले एकत्व और अनेकत्व का विचार अथवा कथन नहीं हो सकता है। जिस प्रकार कि एक साथ प्राप्त हुए दो शब्दों के द्वारा घट के प्रधानभूत भिन्न स्वरूप वाले रूप और रस इन दो धर्मों का प्रतिपादन नहीं हो सकता है। अतः एक साथ प्राप्त द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के अभिप्राय से सोना कथंचित् अवक्तव्यस्वरूप है। इस अवक्तव्यस्वरूप को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन तीन नयों के अभिप्राय से क्रमशः प्राप्त हुए एकत्वादि के साथ मिला देने पर सोना कथंचित् एक और अवक्तव्य है, कथंचित् अनेक और अवक्तव्य है तथा कथंचित् एक, अनेक और अवक्तव्य है, इस तरह तीन नयाभिप्राय और हो जाते हैं, जिनके द्वारा भी सोने का निरूपण किया जाता है। नयों के कथन करने की इस शैली (व्यवस्था) को ही सप्तभंगी कहते हैं। यहाँ 'भंग' शब्द वस्तु के स्वरूपविशेष का प्रतिपादक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु में नियत सात स्वरूप-विशेषों का प्रतिपादन करने वाला शब्द-समूह सप्तभंगी है।

---

४३४. ननु केयं सप्तभङ्गी इति चेत्; उच्यते, ''प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी''-तत्त्वार्थवार्त्तिक १-६। न्यायविनिश्चयेऽपि श्रीमदकलङ्कदेवैरुक्तम्-

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः।
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्त्तते॥४५१॥

१*. आ म मु 'रूपत्वरसत्वयो'।

८५.नन्वेकत्र वस्तुनि [४३५]सप्तानां भङ्गानां कथं सम्भवः? इति चेत्; यथैकस्मिन् रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति पृथग्व्यवहार-निबन्धना[१*] रूपवत्त्वादिस्वरूपभेदाः सम्भवन्ति तथैवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता।

८६.एवमेव परमद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायविषयः परमद्रव्यं सत्ता[२*]

---

८५. शंका—एक वस्तु में सात भंगों (स्वरूप अथवा धर्मों) का सम्भव कैसे है?

समाधान—जिस प्रकार एक ही घटादि में घटरूप वाला है, रस वाला है, गन्ध वाला है और स्पर्श वाला है, इन जुदे-जुदे व्यवहारों के कारणभूत रूपत्व (रूप) आदि स्वरूपभेद सम्भव है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में होने वाले एक, अनेक, एकानेक, अवक्तव्य आदि व्यवहारों के कारणभूत एकत्व, अनेकत्व आदि सात स्वरूपभेद भी सम्भव है।

८६. इसी प्रकार परम द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय का विषय

श्रीयशोविजयोऽप्याह—''एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी। इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविध-संशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते।''—जैनतर्कभा. पृ. १९। ''ननु एकत्राऽपि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनाऽन्त भङ्गी स्यात् (न तु सप्तभङ्गी), इति चेन्न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादि-कल्पनयाऽपि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तु-धर्मसप्तविधत्वात्।''—अष्टस. पृ. १२५, १२६।

४३५. के ते वस्तुनिष्ठाः सप्त धर्मा इत्यत्रोच्यते (१) सत्त्वम्, (२) असत्त्वम्, (३) क्रमार्पितोभयं सत्त्वासत्त्वाख्यम्, (४) सहार्पितोभयमवक्तव्यत्वरूपम्, (५) सत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (६) असत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (७) सत्त्वासत्त्वविशिष्टमवक्तव्यत्वमिति।

१*. द 'निबन्धन'। २*. मु 'परमद्रव्यसत्ता'।

तदपेक्षया "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन" सद्रूपेण चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात्। भेदे तु सद्विलक्षणत्वेन तेषामसत्त्व-प्रसङ्गात्।

८७.ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिकः। स हि भूतत्वभविष्य-त्वाभ्यामपरामृष्टं शुद्धं वर्त्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपं[1*] परामृशति। तन्नयाभिप्रायेण बौद्धाभिमतक्षणिकत्वसिद्धिः। एते नयाभिप्रायाः सकलस्वविषयाशेषात्मकमनेकान्तं प्रमाणविषयं विभज्य व्यवहारयन्ति। स्यादेकमेव वस्तु द्रव्यात्मना न नाना[2*] स्यान्नानैव पर्यायात्मना नैकमिति। तदेतत्प्रतिपादितमाचार्यसमन्तभद्रस्वामिभिः—

[४३६]अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥(स्वयम्भू स्तोत्र १०३) इति।

परमद्रव्यसत्ता–महासामान्य है। उसकी अपेक्षा से एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना–अनेक कुछ भी नहीं है इस प्रकार का प्रतिपादन किया जाता है; क्योंकि सद्‌रूप से चेतन और अचेतन पदार्थों में भेद नहीं है। यदि भेद माना जाये तो सद् से भिन्न होने के कारण वे सब असत् हो जायेंगे।

८७. ऋजुसूत्रनय परमपर्यायार्थिकनय है। वह भूत और भविष्य के स्पर्श से रहित शुद्ध–केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को विषय करता है। इस नय के अभिप्राय से ही बौद्धों के क्षणिकवाद की सिद्धि होती है। ये सब नयाभिप्राय सम्पूर्ण अपने विषयभूत अशेषात्मक अनेकान्त को, जो प्रमाण का विषय है, विभक्त करके लोकव्यवहार को कराते हैं कि वस्तु द्रव्यरूप से–सत्तासामान्य की अपेक्षा से कथंचित् एक ही है, अनेक नहीं है तथा पर्यायरूप से–अवान्तरसत्ता सामान्यरूप विशेषों की अपेक्षा से वस्तु कथंचित् नाना (अनेक) ही है, एक नहीं है। तात्पर्य यह है कि तत्तत् नयाभिप्राय से ब्रह्मवाद (सत्तावाद) और क्षणिकवाद का प्रतिपादन भी ठीक है। यही आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी निरूपण किया है कि हे

---

४३६. ननु सर्वस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वेऽनेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वं

१*. म मु 'वस्तुरूपं। २*. म प मु 'स्यादेकमेव द्रव्यात्मना वस्तु नो नाना'।

[४३७]अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य नियतैकधर्मवद्वस्तु-विषयत्वाच्च नयस्य। यद्येनामार्हतीं सरणिमुल्लङ्घ्य सर्वथैकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन कथञ्चिदपि[१*] नाना नेत्याग्रहः स्यात्तदेतद-र्थाभासः। एतत्प्रतिपादकं वचनमपि[२*] आगमाभासः प्रत्यक्षेण ''सत्यं भिदा तत्त्वं भिदा''।[ ] इत्यादिनाऽऽगमेन च बाधितविषयत्वात्। सर्वथा भेद एव,

---

जिन! आपके मत में अनेकान्त भी प्रमाण और नय से अनेकान्तरूप सिद्ध होता है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और अर्पित नय की अपेक्षा एकान्तरूप है।

अनियत अनेक धर्मविशिष्ट वस्तु को करने वाला प्रमाण है और नियत एक धर्मविशिष्ट वस्तु को विषय करने वाला नय है। यदि इस जैन-सरणि-जैनमत की नय विवक्षा को न मानकर सर्वथा एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, अनेक कोई नहीं है, कथंचित् किसी एक अपेक्षा से भी अनेक नहीं है, यह आग्रह किया जाये—सर्वथा एकान्त माना जाये तो यह अर्थाभास है—मिथ्या अर्थ है और इस अर्थ का कथन करने वाला वचन भी आगमाभास है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष से और सत्य भिन्न है तत्त्व भिन्न है इस आगम से बाधितविषय है। इसी प्रकार सर्वथा भेद ही है, कथंचित् भी अभेद नहीं है,

---

परिकल्पनीयम्, तथा चानवस्था इत्यत्राह अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति। इदमत्राकूतम्—प्रमाणनयसाधनत्वेनानेकान्तोऽप्यनेकान्तात्मकः। प्रमाणविषयापेक्षयाऽनेकान्तात्मकः, विवक्षितनयविषयापेक्षया एकान्तात्मकः। एकान्तो द्विविधः—सम्यगेकान्तः मिथ्यैकान्तश्च। तत्र सापेक्षः सम्यगेकान्तः, स एव नयविषयः। अपरस्तु निरपेक्षः, स न नयविषयः, अपि तु दुर्नयविषयः, मिथ्यारूपत्वात्। तदुक्तम्—''निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्'' इति। तथा चानेकान्तस्याप्य-नेकान्तात्मकत्वमविरुद्धं प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुन्यनवस्थादिदोषानवकाशादिति ध्येयम्।

४३७. प्रमाणनययोः को भेदः? इत्यत आह अनियतेति। उक्तं च –
''अर्थस्यानेक रूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः। नयो धर्मान्तरापेक्षो दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥''

१*. द 'तत्कथंचिदपि'।
२*. आ प 'एतत्प्रतिपादकमपि वचनं', म मु 'एतत्प्रतिपादकमतिवचनं'।

न कथञ्चिदप्यभेद इत्यत्राप्येवमेव[४३८] विज्ञेयम्[४३९] सद्रूपेणापि भेदेऽसतः[४३९] अर्थक्रियाकारित्वासम्भवात्[४४०]।

८८.[४४१]ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मनां परस्परसाह-चर्यानपेक्षायां[१*] मिथ्याभूतानामे-कत्वानेकत्वादीनां[२*] धर्माणां साहचर्य-लक्षणसमुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्; तदङ्गीकुर्महे, परस्परोपकार्यो-पकारकभावं विना स्वतन्त्रतया नैरपेक्ष्यापेक्षायां पटस्वभावविमुख[३*] तन्तुसमूहस्य

ऐसा कथन भी वैसा ही समझना चाहिए अर्थात् सर्वथा भेद (अनेक) का मानना भी अर्थाभास है और उसका प्रतिपादक वचन भी आगमाभास है; क्योंकि सद्रूप से भी भेद मानने पर असत् का प्रसंग आयेगा और उसमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती है।

८८. शंका— एक-एक अभिप्राय के विषयरूप से भिन्न-भिन्न सिद्ध होने वाले और परस्पर में साहचर्य की अपेक्षा न रखने पर मिथ्याभूत हुए एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों का साहचर्यरूप समूह भी जो कि अनेकान्त है, मिथ्या ही है। तात्पर्य यह कि परस्पर निरपेक्ष एकत्वादिक एकान्त जब मिथ्या है तब उनका समूहरूप अनेकान्त भी मिथ्या ही कहलायेगा, वह सम्यक् कैसे हो सकता है?

समाधान— वह हमें इष्ट है। जिस प्रकार परस्पर के उपकार्य-उपकारक भाव के बिना स्वतन्त्र होने से और एक दूसरे की अपेक्षा न करने पर वस्त्ररूप अवस्था से रहित तन्तुओं का समूह शीतनिवारण (ठण्ड

---

४३८. तस्यापि प्रत्यक्षादिना बाधितत्त्वादर्थाभासत्वं बोध्यमिति भावः। ४३९. सद्रूपापेक्षयाऽपि घटादिवस्तूनां सर्वथा भेदेऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तथा च खपुष्पवदेव तत्सर्वं स्यात्। तदुक्तम्—

सदात्मना च भिन्नं चेत् ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत्।

ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम्॥ —आप्तमी. का. ३०।

४४०. अर्थक्रियाकारित्वं हि सतो लक्षणम्। असत्त्वे च तन्न स्यादिति भावः। ४४१. अनेकान्ततत्त्वे दूषणमुद्भावयन् परः शङ्कते नन्विति।

१*. नु 'साहचर्यानपेक्षाणां'। २*. मु 'मेकत्वादीनां'।

३*. प 'विमुक्ततन्तुसमूहस्य', म 'विमुक्तस्य तन्तसमूहस्य'।

शीतनिवारणाद्यर्थक्रियावदेकत्वानेकत्वादीनामर्थक्रियायां सामर्थ्याभावात् कथञ्चिन्मिथ्यात्वस्यापि सम्भवात्। [४४२]तदुक्तमाप्त-मीमांसायां स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः—

[४४३]मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः।
[४४४]निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु ते[४४५]ऽर्थकृत्[४४६]॥१०८॥ इति।

को दूर करना) आदि कार्य नहीं कर सकता है उसी प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा न करने पर एकत्वादिक धर्म भी यथार्थ ज्ञान कराने आदि अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है, इसलिए उन परस्पर निरपेक्ष एकत्वादि धर्मों में कथंचित् मिथ्यापन भी सम्भव है। आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी कहा है कि—मिथ्याभूत एकान्तों का समूह यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकान्तता—परस्पर निरपेक्षता हमारे (स्याद्वादियों के) यहाँ नहीं है; क्योंकि जो नय निरपेक्ष हैं, वे मिथ्या हैं—सम्यक् नहीं हैं और जो सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा सहित है, वे वस्तु है—सम्यक् नय है और वे ही अर्थक्रियाकारी हैं। तात्पर्य यह हुआ कि निरपेक्ष नयों के समूह को मिथ्या मानना तो हमें भी इष्ट है, पर स्याद्वादियों ने निरपेक्ष नयों के समूह को

---

४४२. स्वोक्तमेव प्रकरणकारः श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिवचनेन प्रमाणयति तदुक्तमिति। ४४३. अस्याः कारिकायाः अयमर्थः—ननु एकत्वानेकत्वनित्यत्वा-नित्यत्वादीनां सर्वथैकान्तरूपाणां धर्माणां मिथ्यात्वात्तत्समुदायरूपः स्याद्वादि-भिरभ्युपगतोऽनेकान्तोऽपि मिथ्यैव स्यात्। न हि विषकणिकाया विषत्वे तत्समूह-स्याविषत्वं कैश्चिदभ्युपगम्यते। तन्न युक्तम्, मिथ्यासमूहस्य जैनैरनभ्युपगमात्। मिथ्यात्वं हि निरपेक्षत्वम्, तच्च नास्माभिः स्वीक्रियते, सापेक्षाणामेव धर्माणां समूहस्यानेकान्त-त्वाभ्युपगमात्। तत एव चार्थक्रियाकारित्वम्, अर्थक्रियाकारित्वाच्च तेषां वस्तुत्वम्। क्रमयौगपद्याभ्यां ह्यनेकान्त एवार्थक्रिया व्याप्ता, नित्यक्षणिकाद्येकान्ते तदनुपपत्तेः। तथा च निरपेक्षा नया मिथ्या—अर्थक्रियाकारित्वाभावादसम्यक्, अवस्तु इत्यर्थः। सापेक्षास्तु ते वस्तु—सम्यक् , अर्थक्रियाकारित्वादिति दिक्। ४४४. ''निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाविशेषप्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानि-लक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च।'' अष्टश. का. १०८। ४४५. ते सापेक्षा नयाः। ४४६. अर्थक्रियाकारिणो भवन्तीति क्रियाध्याहारः।

८९. [447]**ततो** [448]**''नयप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'' इति सिद्धः सिद्धान्तः**[449]**। पर्याप्तमागमप्रमाणम्।**[450]

[451]**मद्गुरो**[1*]**र्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः।**
श्रीपादस्नेहसम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका[2*]**॥२॥**

अनेकान्त नहीं माना किन्तु सापेक्ष नयों के समूह को अनेकान्त माना है; क्योंकि वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनेक धर्मात्मक ही प्रतीत होती हैं, एक धर्मात्मक नहीं।

८९. अतः यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि ''नय और प्रमाण से वस्तु की सिद्ध होती है- पदार्थों का यथावत् निर्णय होता है।'' इस प्रकार आगम प्रमाण समाप्त हुआ।

ग्रन्थकार का अन्तिम निवेदन

मेरे कृपालु गुरुवर्य श्रीमान वर्द्धमान भट्टारक के श्रीचरणों के प्रसाद से यह न्याय-दीपिका पूर्ण हुई।

---

४४७. पूर्वोक्तमेवोपसंहरति ततो इति। ४४८. नयशब्दस्याल्पाच्तरत्वात् ''प्रत्यासत्तेर्बलीयान्'' इति न्यायाच्च पूर्वनिपातो बोध्यः। ४४९. यः खलु ''प्रमाणनयै-रधिगमः'' इति सिद्धान्तः प्रकरणादावुपन्यस्तः स सिद्ध इति भावः। ४५०. आगमाख्यं परोक्षप्रमाणं यथेप्सितं समाप्तम्। ४५१. ग्रन्थकाराः श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतयः प्रारब्धनिर्वहणं प्रकाशयन्नाहुर्मद्गुरोरिति। सुगममिदं पद्यम्। समाप्तमेतत्प्रकरणम्।

जैनन्याय-प्रवेशाय बालानां हितकारकम्।
दीपिकायाः प्रकाशाख्यं टिप्पणं रचितं मया॥१॥
द्विसहस्रैकवर्षाब्दे ख्याते विक्रमसंज्ञके।
भाद्रस्य सितपञ्चम्यां सिद्धमेतत्सुबोधकम्॥२॥
मतिमान्द्यात्प्रमादाद्वा यदत्र स्खलनं क्वचित्।
संशोध्यं तद्धि विद्वद्भिः क्षन्तव्यं गुणदृष्टिभिः॥ ३॥

इति श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतिविरचिताया न्यायदीपिकाया न्यायतीर्थजैन-दर्शनशास्त्र-न्यायाचार्यपण्डित दरबारीलालेन रचितं प्रकाशाख्यं टिप्पणं समाप्तम्।

१*. द 'यद्गुरो' पाठः। २*. पद्यमिदं म प मु प्रतिषु नोपलभ्यते।

इति श्रीमद्वर्द्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारुण्यसिद्धसार-
स्वतोदयश्रीमदभिनवधर्मभूषणाचार्यविरचितायां
न्यायदीपिकायां परोक्षप्रकाशस्तृतीयः[१*] ॥३॥
समाप्तेयं न्यायदीपिका।

इस प्रकार श्रीमान् आचार्य वर्द्धमान भट्टारक गुरु की कृपा से सरस्वती के प्रकर्ष को प्राप्त श्रीअभिनवधर्मभूषणाचार्य विरचित न्यायदीपिका में परोक्ष प्रमाण का प्रकाश करने वाला तीसरा प्रकाश पूर्ण हुआ।

न्यायदीपिका समाप्त हुई।

१*. आ पा द 'परोक्षप्रकाशस्तृतीयः' पाठो नास्ति। तत्र 'आगमप्रकाशः' इति पाठो वर्त्तते।—सम्पा.।

परिशिष्ट

१. न्यायदीपिका में आये हुए अवतरण-वाक्यों की सूची—

२. न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची—

ग्रन्थनाम	ग्रन्थनाम
आप्तमीमांसा	परीक्षामुख
आप्तमीमांसाविवरण	प्रमाण-निर्णय
कारुण्यकलिका	प्रमाण-परीक्षा
जैनेन्द्र	प्रमेयकमलमार्तण्ड
तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्य	भाष्य (तत्त्वार्थराजवार्तिक)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	न्यायविनिश्चय
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य	महाभाष्य
तत्त्वार्थसूत्र	राजवार्तिक
न्यायबिन्दु	श्लोकवार्तिक
पत्र-परीक्षा	श्लोकवार्तिकभाष्य

३. न्यायदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थकारों की सूची–

ग्रन्थकार नाम	ग्रन्थकार नाम
अकलंक	वामन
अकलंकदेव	शालिकानाथ
उदयन	श्रीमदाचार्यपाद
कुमारनन्दिभट्टारक	समन्तभद्रस्वामि
दिग्नाग	स्याद्वादविद्यापति
माणिक्यनन्दिभट्टारक	स्वामी
वार्तिककारपाद	स्वामिसमन्तभद्राचार्य

४. न्यायदीपिका में आये हुये न्यायवाक्य–

न्यायवाक्य	'सहस्रशतन्याय'
'उद्देशानुसारेण लक्षणकथनम्'	'सर्वं वाक्यं सावधारणम्'

५. न्यायदीपिकागत विशेष नामों तथा शब्दों की सूची–

अभियुक्त	आर्हतमत
अर्हत्	औदीच्य
कपिल	बालिश
तन्त्रान्तर	बाह्य
अर्हत्परमेष्ठी	बुध
आगम	बौद्ध
आगमाभास	भाट्ट
आचार्य	महाशास्त्र
आचार्यानुशासन	मीमांसक
आप्त	मेरु
आर्हत	यौग

यौगग्रसर	राम
ताथागत	वर्द्धमान
दाक्षिणात्य	शास्त्र
नैयायिक	श्रुतकेवलि
नैयायिकमत	सिद्ध, सिद्धपरमेष्ठी
परमहितोपदेशक	सिद्धान्त
प्रवचन	सुगत
प्राभाकर	सौगत
प्रामाणिक	संग्रहग्रन्थ
प्रामाणिकपद्धति	

६. न्यायदीपिका-गत दार्शनिक एवं लाक्षणिक शब्दों की सूची—

शब्द नाम	शब्द नाम
अकिञ्चित्कर	करण
अतिव्याप्त	कालात्यापदिष्ट
अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष	केवलज्ञान
अनध्यवसाय	केवलव्यतिरेकी
अनभ्यस्त	केवलान्वयी
अनात्मभूत	क्रमभावनियम
अनिन्द्रिय	गुण
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	तर्क
अनुभव	दूरार्थ
अनुमान	द्रव्य
अनेकान्त	अनैकान्तिक
अनेकान्तात्मकत्व	अन्तरित
ऋजुसूत्रनय	अन्यथानुपपत्ति
एकत्वप्रत्यभिज्ञान	अन्वयदृष्टान्त

अन्वयव्यतिरेकी
अबाधितविषयत्व
अप्रसिद्ध
अभिप्रेत
अभ्यस्त
अमुख्य प्रत्यक्ष
अर्थ
अर्थपर्याय
अलक्ष्य
अवग्रह
अवाय
अवधिज्ञान
अविनाभाव
अविशदप्रतिभासत्व
अवैशद्य
अव्याप्त
असत्प्रतिपक्षत्व
असम्भवि
असिद्ध
आगम
द्रव्यार्थिक
दृष्टान्त
धर्मी
धारणा
धारावाहिक
नय
निगमन
निगमनाभास
निर्दोषत्व
नैर्मल्य
निर्विकल्पक
न्याय
पक्ष
विपक्ष
विजिगीषुकथा
विपक्षव्यावृत्ति
विपर्यय
विरुद्ध
विशदप्रतिभासत्व
विशेष
वीतरागकथा
वैशद्य
वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान
व्यञ्जनपर्याय
व्यतिरेकदृष्टान्त
आत्मभूत
आप्त
इन्द्रिय
इन्द्रियप्रत्यक्ष
ईहा
उदाहरण
उदाहरणाभास
उद्देश
उपनय
उपनयाभास
उभयसिद्धधर्मी

७. 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्'

ननु असाधारणधर्मवचनं लक्षणं कथं न समीचीनमिति चेत्, उच्यते; तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रयशून्यम्। न चात्र लक्षणेऽव्याप्त्यादिदोषत्रयाभावः। तथा हि—अशेषैरपि वादिभिर्दण्डी, कुण्डली, वासस्वी देवदत्त इत्यादौ दण्डादिकं देवदत्तस्य लक्षणमुरीक्रियते। परं दण्डादेरसाधारणधर्मत्वं नास्ति, तस्य पृथग्भूतत्वेनापृथग्भूतत्वासम्भवात्। अपृथग्भूतस्य चासाधारणधर्मत्वमिति तवाभिप्रायः। तथा च लक्ष्यैकदेशेऽनात्मभूतलक्षणे दण्डादौ असाधारणधर्मत्वस्याभावादव्याप्तिरित्येव तात्पर्यमाश्रित्योक्तं ग्रन्थकृता "दण्डादेरतद्धर्मस्यापि लक्षणत्वादिति।"

किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि शावलेयत्वादेरसाधारणधर्मत्वादतिव्याप्तिः। गोः शावलेयत्वम्, जीवस्य भव्यत्वं मतिज्ञानित्वं वा न गवादीनां लक्षणमिति सुप्रतीतम्, शावलेयत्वस्य सर्वत्र गोष्ववृत्तेः। भव्यत्वस्य मतिज्ञानित्वस्य वा सर्वजीवेष्ववर्त्तमानत्वादव्याप्तेः। परन्तु शावलेयत्वस्य भव्यत्वादेर्वाऽसाधारणधर्मत्वमस्ति। यतो हि तेषां गवादिभ्यो भिन्नेष्ववृत्तित्वात्। तदितरावृत्तित्वं ह्यसाधारणत्वमिति। ततः शावलेयत्वादावव्याप्ताभिधाने लक्षणाभासे असाधारणधर्मस्यातिव्याप्तिरिति बोध्यम्।

अपि च लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्। तथा हि—सामानाधिकरण्यं द्विविधम्—शाब्दमार्थं च। ययोर्द्वयोरेकत्र वृत्तिस्तयोरार्थं सामानाधिकरण्यम्, यथा रूप-रसयोः। ययोर्द्वयोः शब्दयोश्चैकः प्रतिपाद्योऽर्थस्तयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्, यथा घटकलशशब्दयोः। सर्वत्र हि लक्ष्य-लक्षणभावस्थले लक्ष्यवचन-लक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं भवति, ताभ्यां प्रतिपाद्यस्यार्थस्यैकत्वात्। यथा उष्णोऽग्निः ज्ञानी जीवः सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् इत्यादौ उष्णः ज्ञानी सम्यग्ज्ञानम् एतानि लक्षणवचनानि। अग्निः, जीवः, प्रमाणम्, एतानि च लक्ष्यवचनानि। अत्र लक्षणवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नोऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यः। एवं लक्ष्यवचन-प्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्षणवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नः, यतो हि उष्ण इत्युक्ते अग्निरित्युक्त भवति, अग्निरित्युक्ते उष्ण इत्युक्तं भवति, इत्यादि बोध्यम्। ततश्चेदं सिद्धं

यत्र कुत्राऽपि लक्ष्यलक्षणभावः क्रियेत तत्र सर्वत्रापि लक्षणवचन-लक्ष्यवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्। इत्थं च प्रकृते असाधारणधर्मस्य लक्षणत्वस्वीकारे लक्षणवचनं धर्मवचनं च धर्मिवचनं स्यात्। न च लक्षणवचनरूपधर्मवचन - लक्ष्यवचनरूपधर्मि - वचनयोः शाब्द-सामानाधिकरण्यमस्ति, ताभ्यां प्रतिपाद्यार्थस्य भिन्नत्वात्। धर्मवचनप्रतिपाद्यो हि धर्मः, धर्मिवचनप्रतिपाद्यश्च धर्मी, तौ च परस्परं सर्वथा भिन्नौ। तथा चासाधारणधर्मस्य लक्षणत्वे न कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचन-लक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं सम्भवति, ततश्च शाब्द-सामानाधिकरण्याभावप्रयुक्तासम्भवदोषः समापतत्येव। तस्मान्न साधारणासाधारणधर्ममुखेन लक्षणकरणं यौक्तिकम्, अपि तु परस्परव्यतिकरे येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणमित्यकलङ्कम्।

८. न्यायदीपिकायाः तुलनात्मकटिप्पणानि

पृ० ७ पंक्ति ६ 'उद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षाद्वारेण'। तुलना—'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रास्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा'—न्यायभा. १-१-२।

''नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वपरजातीय-व्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा''—कन्दली. पृ० ३६।

''त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृतिः—उद्देशो लक्षण परीक्षेति। नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देशः, उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्, लक्षितस्य तल्लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा।''—न्यायमंजरी पृ० ११।

''त्रिधा हि शास्त्राणां प्रवृत्तिः- उद्देशः लक्षणम् परीक्षा चेति ।तत्र नाममात्रेणार्थानामभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वरूपव्यवस्थापको धर्मो लक्षिणम्। उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च 'यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा' इति प्रमाणोऽर्थावधारणं परीक्षा''—न्यायकुमुद, पृ० २१

''त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा च। तत्र

नामधेयमात्रकीर्त्तनमुद्देश....। उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनं लक्षणम्।.......... लक्षितस्य इदमित्थं भवति नेत्थं इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा''- प्रमाणमी. पृष्ठ २

''तदेतद्व्युत्पाद्यद्वयं प्रति प्रमाणस्योद्देशलक्षणपरीक्षा प्रतिपाद्यन्ते, शास्त्रप्रवृत्तेस्त्रिविधत्वात्। तत्रार्थस्य नाममात्रकथनमुद्देशः उद्दिष्ट-स्यासाधारणस्वरूपनिरूपणं लक्षणम्। प्रमाणबलात्तल्लक्षणविप्रतिपत्ति-पक्षनिरासः परीक्षा''- लघीय. तात्पर्य. पृष्ठ ६

'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्त्तनमुद्देशः। यथा 'द्रव्यम्' 'गुणाः' इति। असाधारणधर्मो लक्षणम्। यथा गन्धत्वं पृथिव्याः। लक्षितस्य लक्षणं सम्भवति न वेति विचारः परीक्षा।' - तर्कसंग्रहपदकृत्य पृष्ठ ५

पृष्ठ ८ पंक्ति ५ 'परस्परव्यतिकरे'। तुलना- 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्। हेम-श्यामिकयोर्वर्णादिविशेषवत्।'-तत्त्वार्थश्लोक, पृष्ठ ३१८

पृष्ठ ९ पंक्ति १ 'द्विविधं'। तुलना- 'तद्द्विविधम्, आत्मभूत-मनात्मभूतविकल्पात् । तत्रात्मभूतं लक्षणमग्नेरुष्णगुणवत्। अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डवत्।'- तत्त्वार्थश्लोक, पृष्ठ ३१८

पृष्ठ १४ पंक्ति ५ 'सम्यग्ज्ञानं'। तुलना-'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः' - प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ १, प्रमाणनि. पृष्ठ १

पृष्ठ १५ पंक्ति १ 'संशयः'। तुलना- 'संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्य-मात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च किंस्विदिति उभयावलम्बी विमर्शः संशयः।' - प्रशस्तपादभा. पृष्ठ ८५, ८६

'नानार्थावमर्शः संशयः'—न्यायमं. पृ० ७। 'अनुभयत्रोभय-कोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः। अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शनशीलं ज्ञानं सर्वात्मना शेत इवात्मा यस्मिन् सति स संशयः, यथा अन्धकारे दूरादूर्ध्वाकारवस्तूपलम्भात् साधक-बाधकप्रमाणाभावे सति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति प्रत्ययः।' प्रमाणमी. पृ० ५।

पृ० १५ पंक्ति २ 'स्थाणुपुरुष'। तुलना—स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वता-मात्रसादृश्यदर्शनात् वक्रादिविशेषानुपलब्धितः स्थाणुत्वादि-सामान्य-विशेषानभिव्यक्तावुभयविशेषानुस्मरणादुभयत्राकृष्यमाणस्यात्मनः प्रत्ययो

दोलायते ''किं नु खल्वयं स्थाणुः स्यात्पुरुषो वा इति।''—प्रशस्तपा. भा. पृ० ८६, ८७।

पृ० १५ पंक्ति ४ 'विपरीतैक'। तुलना—'अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः, यथा गव्येवाश्वः। —प्रशस्तपा. भा. पृ० ८८। 'अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः। यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यासरूपत्वाद्विपर्ययः, यथा धातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादि-प्रत्ययः, तिमिरादिदेषात् एकस्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः। नौयानात् अगच्छत्स्वपि गच्छत्प्रत्ययः, आशुभ्रमणादलातादावचक्रेऽपि चक्रप्रत्यय इति'—प्रमाणमी. पृ० ५

पृ० १५ पंक्ति ६ 'किमित्या'। तुलना—'किमित्यालोचनमात्र-मनध्यवसायः, प्रशस्तपा. भा. पृ० ९०, 'विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः। दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मावमर्शरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मकत्वाद-नध्यवसायः, यथा 'किमेतत्' इति—प्रमाणमी. पृ० ५

पृ० १८ पंक्ति ५ 'नन्वेव'। तुलना-''ननु च तत्क्रियाया-मस्त्येवाचेतनस्यापीन्द्रियलिङ्गादेः करणत्वम्, चक्षुषा प्रमीयते, धूमादिना प्रमीयते इति। तत्रापि प्रमितिक्रियाकरणत्वस्य प्रसिद्धेरिति''—प्रमाणानि. पृ०१ 'लोकस्तावद्दीपेन मया दृष्टं चक्षुषाऽवगतं धूमेन प्रतिपन्नं शब्दा-न्निश्चितमिति व्यवहरति।'—न्यायवि. वि. १-२, पृ० ५७।

पृ० २० पंक्ति ५ 'पुनरुपचारः'। तुलना—अचेतनस्यत्विन्द्रिय-लिङ्गादेस्तत्र करणत्वं गवाक्षादेरिवोपचारादेव। उपचारश्च तद्व्यवच्छित्तौ सम्यग्ज्ञानस्येन्द्रियादिसहायतया प्रवृत्तेः।'—प्रमाण नि. पृ० २।

पृ० २५ पंक्ति ७ 'अभ्यस्ते'। तुलना—'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च'—परीक्षामु. १-१३। ''स्वयमभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्यसिद्धेः, सकलविप्रतिपत्तीनामपि प्रतिपत्तुरभावात्, अन्यथा तस्य प्रमेये निस्संशयं प्रवृत्त्ययोगात्। तथाऽनभ्यस्तविषये परतः प्रमाणस्य प्रामाण्यनिश्चयात्। तन्निश्चयनिमित्तस्य च प्रमाणान्तरस्याभ्यस्तविषये स्वतः प्रमाणत्वसिद्धेरनवस्थापरस्पराश्रयणयोरनवकाशात्।'' प्रमाणप. पृ० ६३।

पृ० ३० पंक्ति ३ 'प्रमाणत्वेनाभिमतेषु'। तुलना—''व्याप्रियमाणे हि

पूर्वविज्ञानकारणकलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता।''— प्रकरणप. पृ० ४३, बृहती पृ० १०३।

पृ० ३० पंक्ति ४ 'उत्तरोत्तरक्षण'। तुलना—''न च तत्तत्काल-कलाविशिष्टतया तत्राप्यनधिगतार्थत्वमुपपादनीयम्, क्षणोपाधीनामनाकलनात्। न चाज्ञातेष्वपि विशेषणेषु तज्जनितविशिष्टता प्रकाशते इति कल्पनीयम्, स्वरूपेण तज्जननेऽनागतादिविशिष्टतानुभवविरोधात्।''— न्यायकुसु. ४-१, पृ० २।''न च कालभेदेनानधिगतगोचरत्वं धारावाहिक-ज्ञानानामिति युक्तम्। परमसूक्ष्माणां कालकालादिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात्।''—न्यायवार्तिकतात्पर्य. पृ० २१।''धारावाहिकेष्वपि उत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्। सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृश्यत इति''—शास्त्रदी. पृ० १२४। (अत्र पूर्वपक्षेणोल्लेखः)। ''धारावाहिकज्ञानानामुत्तरेषां पुरस्तात्तनप्रतीतार्थ-विषयतया प्रामाण्यापाकरणात्। न च कालभेदावसायितया प्रामाण्योप-पत्तिः। सतोऽपि कालभेदस्यातिसौक्ष्म्यादनवग्रहणात्।''—प्रकरणप. पृ० ४०।

पृ० ३२ पंक्ति २ 'न तु करणं'। तुलना-''न तत् (ईश्वरज्ञानं) प्रमाकरणमिति त्विष्यत एव, प्रमया सम्बन्धाभावात्। तदाश्रयस्य तु प्रमातृत्वमेतदेव यत् तत्समवायः।''—न्यायकुसु. ४-५, पृ० २५।

पृ० ३६ पंक्ति ४ 'विशदप्रतिभासं'। तुलना—'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं...'—लघीय. का. ३, प्रमाणसं. का. २, परीक्षामु. २-१, तत्त्वार्थश्लो. पृ० १८१।''विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम्, यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकम्।''—प्रमाणप. पृ० ६७, प्रमेयक. २-३। ''तत्र यत्स्पष्टावभासं तत्प्रत्यक्षम्।''—न्यायवि. वि. लि. पृ० ५३। प्रमाणानि. पृ० १४।'विशदः प्रत्यक्षम्'—प्रमाणमी. पृ० ९।

पृ० ३७ पंक्ति ५ 'वैशद्यं'। तुलना—''प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।''— परीक्षामु. २-४। ''अनुमाना-धिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्''—प्रमाणनयत. २-३। जैनतर्कभा. पृ०

२। प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।—प्रमाणमी. पृ० १०।

पृ० ४० पंक्ति २ 'अन्वयव्यतिरेक'। तुलना—''तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्चकेशोण्डुकज्ञान-वन्नक्तञ्चर-ज्ञानवच्च''—परीक्षामु. २-७।

पृ० ४१ पंक्ति ४ 'घटाद्यजन्यस्यापि'। तुलना—''अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्''—परीक्षामु. २-८। ''न खलु प्रकाश्यो घटादिः स्वप्रकाशकं प्रदीपं जनयति, स्वकारणकलापादेवास्योत्पत्तेः''—प्रमेयक. २-९

पृ० ४४ पंक्ति ७ 'चक्षुषो विषयप्राप्तिं'। तुलना—''स्पर्शनेन्द्रियादिवच्चक्षुषोऽपि विषयप्राप्यकारित्वं प्रमाणात्प्रसाध्यते। तथा हि—प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः बाह्येन्द्रियत्वात्स्पर्शनेन्द्रियादिवत्।'—प्रमेयक. २-४। ''अस्त्येव चक्षुषस्तद्विषयेण सन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्य तत्रासत्त्वेऽपि अनुमानतस्तदवगमात्। तच्चेदमनुमानम्, चक्षुः सन्निकृष्टमर्थं प्रकाशयति बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगादिवत्''—प्रमाणनि. पृ० १८, न्यायकुसु. पृ० ७५।

पृ० ४५ पंक्ति ४। 'चक्षुरित्यत्र'। तुलना—''चक्षुश्चात्र धर्मित्वेनोपात्तं गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा; अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशे एवास्योपलम्भात्, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्योपलम्भः स्यात्। अथ रश्मिरूपं चक्षुः, तर्हि धर्मिणोऽसिद्धिः। न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, अर्थवत्तत्र तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्।''—प्रमेयक. २-४। ''अत्र न तावद्गोलकमेव चक्षुस्तद्विषयसन्निकर्षप्रतिज्ञानस्य प्रत्यक्षेण बाधनात्तेन तत्र तदभावस्यैव प्रतिपत्तेर्हेतोश्च तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्ततया कालात्ययापदिष्टतोपनिपातात्।...रश्मिपरिकरितमिति चेन्न, तस्याद्याप्यसिद्धत्वेन रूपादीनामित्यादि-हेतोराश्रयासिद्धदोषात्।''—प्रमाणनि. पृ० १८

पृ० ४७ पंक्ति ४ 'तत्प्रत्यक्षं द्विविधं।' तुलना—''प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः''—लघीय. का. २। ''तच्चोक्तप्रकारं प्रत्यक्षं मुख्यसांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारेण द्विप्रकारम्''—प्रमेयक. पृ. २२९। ''तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं सांव्यवहारिकं मुख्यं चेति''—प्रमाणनि. पृ. २३।

पृ० ४८ पंक्ति ४ 'अवग्रहः'। तुलना—'विषयविषयि-

सन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः'—लघीय. स्वो. का. ५। "तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः"—तत्त्वार्थाधि. भा. १-१५। "विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। विषय-विषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः।"—सर्वार्थसिद्धि १-१५। तत्त्वार्थवा. १-१५। धवला पु. १ पृ० ३५४। प्रमाणप. पृ० ६८। प्रमाणमी. पृ० १-१-२६।

पृ० ४८ पंक्ति ४ 'ईहा'। तुलना—विशेषाकांक्षा ईहा—लघीय. का. ५।"अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा।"—तत्त्वार्थाधि. भा. १-१५। "अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषा-काङ्क्षणमीहा"—सर्वार्थसि. १-१५। तत्त्वार्थवा. १-१५। तत्त्वार्थश्लो. पृ० २२०। प्रमाणप. पृ० ६८ प्रमाणमी. १-१ २७। जैनतर्कभा. पृ० ५।

पृ० ४९ पंक्ति ३ 'अवायः'। तुलना—'अवायो विनिश्चयः'—लघीय. का. ५।'विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।'—सर्वार्थसि. १-१५। तत्त्वार्थवा. १-१५। तत्त्वार्थश्लो. पृ० २२०। प्रमाणप. पृ० ६८। प्रमाणमी. १-१-२८। जैनतर्कभा. पृ० ५।

पृ० ४९ पंक्ति ४ 'धारणा'। 'धारणा स्मृतिहेतुः'—लघीय. का. ६।"धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणाप्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्।"—तत्त्वार्थाधिगम भा. १-१५। "अथैतस्य कालान्तरे विस्मरणकारणं धारणा"—सर्वार्थसि. १-१५। तत्त्वार्थवा. १-१५ प्रमाणप. पृ० ६८। प्रमाणमीमांसा १-१-२९। जैनतर्कभा. पृ० ५। "महोदये च कालान्तर-विस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम्...। अनन्तवीर्योऽपि तथानिर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति"—स्या. रत्ना. पृ० ३४९।

पृ० ५६ पंक्ति ७ 'कथं पुनरेतेषां'। तुलना—"कथं पुनरनक्षा-श्रितस्य ज्ञानस्यायं प्रत्यक्षव्यपदेश इति चेन्न, अक्षाश्रितत्वं प्रत्यक्षाभिधानस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गतिक्रियेव गोशब्दस्य। प्रवृत्तिनिमित्तं त्वेकार्थसमवायि-नाऽक्षाश्रितत्वेनोपलक्षितमर्थसाक्षात्कारित्वं गतिक्रियोपलक्षितगोत्ववत् गोशब्दस्य अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं अन्यद्वाच्यम्। अन्यथा गच्छन्त्येव गौगौरित्युच्येत नान्या व्युत्पत्तिनिमित्ताभावात्।... तथेहकेवलज्ञाने

व्युत्पत्तिनिमित्तस्याक्षाश्रितत्वस्याभावेऽपि.......प्रवृत्तिनिमित्तस्यार्थ-साक्षात्कारित्वस्य भावात् प्रत्यक्षाभिधानप्रवृत्तिरविरुद्धा।''— लघुसर्वज्ञ. पृ० ११९, न्यायकु. पृ० २६।

पृ० ५७ पंक्ति २ 'अक्ष्णोति।' तुलना—''अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।''—सर्वार्थसि. १-१२। तत्त्वार्थवा. १-१२। तत्त्वार्थश्लो. १-१२। प्रमाणप. पृ० ६८। न्यायकु. पृ० २६।''न क्षीयते इत्यक्षो जीवस्तं प्रति वर्त्तते इति प्रत्यक्षम्''—प्रमाल. पृ० ४।

पृ० ५८ पंक्ति २ 'विस्मरणशीलत्वं'। तुलना—''विस्मरणशीलो देवानांप्रियः प्रकरणं न लक्षयति''—वादन्याय. पृ० ७६।

पृ० ५८ पंक्ति ४ 'अक्षेभ्यः परावृत्तं'। तुलना—'व्यतीन्द्रिय-विषयव्यापारं परोक्षम्'—सर्वार्थसि. १-१२।

पृ० ७१ पंक्ति ४ 'परोक्षम्'। तुलना—'जं परदो विण्णाणं तंतु परोक्ख त्ति भणिदमत्थेसु'—प्रवचनसा. गा. ५९।''पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मनः उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षमित्याख्यायते।''—सर्वार्थसि. १-११। 'उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्'—तत्त्वार्थवा. पृ० ३८।'इतरस्य परोक्षता'—लघी. स्वो. का. ३।''उपात्तानुपात्तप्राधान्यादवगमः परोक्षम्। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि, तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्। यथागति शक्त्युपेतस्यापि स्वयं गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यवलम्बन-प्राधान्यं गमनं तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात् परोक्षम्।''—धवला पु. ९, पृ० १४३-४४।'पराणीन्द्रियाणि आलोकादि-श्च, परेषामायत्तं ज्ञानं परोक्षम्'—धवला पु. १३, पृ० २१२। ''अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैरिन्द्रियादिभिरूक्ष्यते सिञ्च्यते अभि-वर्द्धर्यते इति परोक्षम्।''—तत्त्वार्थश्लो. पृ० १८२, 'परोक्षमविशद-ज्ञानात्मकम्'—प्रमाणप. पृ० ६९। 'परोक्षमितरत्'—परीक्षामु. ३-१। 'पैररिन्द्रियलिङ्गशब्दैरूक्षा सम्बन्धोऽस्येति परोक्षम्।'—प्रमालक्ष. पृ० ५।'भवति परोक्षं सहायसापेक्षम्।' पञ्चाध्यायी श्लो. ६९६।'अविशदः परोक्षम्।'—

प्रमाणमी. पृ० ३३।

पृ० ८९ पंक्ति १ 'प्रत्यक्षपृष्ठभावी'। तुलना—''यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते भवतु तस्यायं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृ०भाविनाऽपि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात्। सामान्यं प्रतीयते।''—हेतुबि. टी. लि. प. २५ बी। ''देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निरिति। प्रत्यक्षपृ०श्च विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यपारानुकारी त्वसौ इष्यते।''—मनोरथन. पृ० ७, ''प्रत्यक्षपृ०भाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायत्वात् सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावः।'' प्रमेयक. ३-१३, ''अथ प्रत्यक्षपृ०भाविविकल्पात् साकल्येन साध्यसाधनभावप्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तरं तदर्थं मृग्यमित्यपरः।''—प्रमेयर. पृ० ३७। ''ननु यदि निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमविचारकं तर्हि तत्पृ०भावी विकल्पो व्याप्तिं गृहीष्यतीति चेत्, नैतत्, निर्विकल्पेन व्याप्तेरग्रहणे विकल्पेन गृहीतुमशक्यत्वात् निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य।''—प्रमाणमी. पृ० ३७, 'प्रत्यक्षपृ०भाविविकल्परूपत्वान्नायं प्रमाणमिति बौद्धाः।'—जैनतर्कभा. पृ० ११।

पृ० ८९ पंक्ति २ 'स हि विकल्पः।' तुलना—''तद्विकल्पज्ञानं प्रमाणमन्यथा वेति ? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तव्यम्, प्रमाणद्वयेऽनन्तर्भावात्। उत्तरपक्षे तु न ततोऽनुमानव्यवस्था। न हि व्याप्तिज्ञानस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वकमनुमानं प्रमाणमास्कन्दति। सन्दिग्धादिलिङ्गादप्युत्पद्यमानस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्।''—प्रमेयर. पृ० ३८, ''स तर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा ? प्रमाणत्वे प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणान्तरं तितिक्षितव्यम्। अप्रामाण्ये तु ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा षण्ढात्तनयदोहृदः।''—प्रमाणमी. पृ० ३७।

पृ० १७५ पंक्ति ६ 'स्वतन्त्रतया'। तुलना—''ते एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः।... निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति।''—सर्वार्थसिद्धि १-३३। तत्त्वार्थवार्तिक १-३३।

''मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसि क्रियायाम्॥''

—युक्त्यनुशा. का. ५१।

पृ० १७६ पंक्ति ७ 'मिथ्यात्वस्यापि'। तुलना—एवमेते शब्द-समभिरूढैवंभूतनयाः सापेक्षाः सम्यक् परस्परमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपादयति—

''इतोऽन्योन्यमपेक्षायां सन्तः शब्दादयो नयाः।
निरपेक्षाः पुनस्ते स्युस्तदाभासाविरोधतः॥''

—तत्त्वार्थश्लो. पृ० २७४।

९. संकेत-सूची[1]

अकलंक.	अकलंकग्रन्थत्रय	(सिंधी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
अकलंकग्र.	अकलंकग्रन्थत्रय	(सिंधी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
अध्यात्मक.	अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड	(वीरसेवामन्दिर, सरसावा)
अमरको.	अमरकोष	(निर्णयसागर, मुम्बई)
अष्टश.	अष्टशती	(निर्णयसागर, मुम्बई)
अष्टस.	अष्टसहस्री	(निर्णयसागर, मुम्बई)
आ. प.	आरा प्रति पत्र	(जैनसिद्धान्त भवन, आरा)
आप्तप.	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त, कलकत्ता)
आप्तपरी.	आप्तपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त, कलकत्ता)
आप्तमी.	आप्तमीमांसा	(जैनसिद्धान्त, कलकत्ता)
आप्तमी. वृ.	आप्तमीमांसावृत्ति	(जैनसिद्धान्त, कलकत्ता)
काव्यमी.	काव्यमीमांसा	(जैनसिद्धान्त, कलकत्ता)
चरकसं.	चरकसंहिता	(निर्णयसागर, मुम्बई)
जैनतर्कभा.	जैनतर्कभाषा	(सिंधी ग्रन्थमाला, कलकत्ता)
जैनशिलालेखसं.	जैनशिलालेखसंग्रह	(मा. ग्रन्थमाला, मुम्बई)
जैमिनि.	जैमिनिसूत्र	(निर्णयसागर, मुम्बई)
जैनेन्द्रव्या.	जैनेन्द्रव्याकरण	
तर्कदी.	तर्कदीपिका	(छन्नूलाल ज्ञानचन्द, बनारस)
तर्कसं.	तर्कसंग्रह	(छन्नूलाल ज्ञानचन्द, बनारस)
तर्कसंग्रहपदकृ.	तर्कसंग्रहपदकृत्य	(छन्नूलाल ज्ञानचन्द, बनारस)
तत्त्ववैशा.	तत्त्ववैशारदी	(चौखम्बा, काशी)
तत्त्वसं.	तत्त्वसंग्रह	(गायकवाड़, बड़ौदा)
तत्त्वार्थवा.	तत्त्वार्थवार्तिक	(जैनसिद्धान्त, कलकत्ता)
तत्त्वार्थवृ. श्रु.	तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरी	(लिखित, वीरसेवामन्दिर)

१. जिन ग्रन्थों या पत्रादिकों के प्रस्तावनादि में पूरे नाम दे दिये गये हैं उनको यहाँ संकेत-सूची में छोड़ दिया है। -सम्पादक

त. श्लो	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(निर्णयसागर, मुम्बई)
तत्त्वार्थश्लो.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(निर्णयसागर, मुम्बई)
तत्त्वार्थश्लो.भा.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य	(निर्णयसागर, मुम्बई)
त. सू./	तत्त्वार्थसूत्र	(प्रथमगुच्छक, काशी)
तत्त्वाथधि. भा.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	(अर्हतप्रभाकर, पूना)
तात्पर्यपरिशु.	तात्पर्यपरिशुद्धि	
तिलो. प.	तिलोयपण्णत्ति	(जीवराजग्रन्थ, शोलापुर)
दिनकरी	सिद्धान्तमुक्तावलीटीका	(निर्णयसागर, मुम्बई)
द्रव्यसं.	द्रव्यसंग्रह	
न्यायकलि.	न्यायकलिका	(गङ्गानाथ झा)
न्यायकु.	न्यायकुमुदचन्द्र	(माणिकचन्द्रग्रन्थ०, मुम्बई)
न्यायकुमु.	न्यायकुमुदचन्द्र	(माणिकचन्द्रग्रन्थ०, मुम्बई)
न्यायकुसु.	न्यायकुसुमाञ्जलि	(चौखम्बा, काशी)
न्या कु.	न्यायकुसुमाञ्जलि	(चौखम्बा, काशी)
न्यायदी.	न्यायदीपिका	(प्रस्तुत संस्करण)
न्यायप्र.	न्यायप्रवेश	(गायकवाड़, बड़ौदा)
न्याबि.	न्यायबिन्दु	(चौखम्बा, काशी)
न्याबि. टी.	न्यायबिन्दु टीका	(चौखम्बा, काशी)
न्यायमं.	न्यायमंजरी	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवा.	न्यायवार्तिक	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवा. तात्प.	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवा. तात्प. टी.	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवा. ता.	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(चौखम्बा, काशी)
न्यायवि.	न्यायविनिश्चय	(अकलंकग्रन्थत्रय)
न्यायवि. लि.	न्यायविनिश्चयविवरण लिखित	(वीरसेवामन्दिर, सरसावा)
न्यायसू.	न्यायसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
न्यायाव. टी.टि.	न्यायवतारटीकाटिप्पणी	(श्वेताम्बरकान्फ्रेंस, मुम्बई)

पत्रपरी.	पत्रपरीक्षा	(जैनसिद्धान्त., कलकत्ता)
परीक्षामु.	परीक्षामु.	(पं. घनश्यामदासजी का)
पात. महाभा.	पातञ्जलिमहाभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
प्रमाणनय.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	(यशोविजयग्र. काशी)
प्रमाणानि.	प्रमाणनिर्णय	(मा. ग्रन्थमाला, मुम्बई)
प्रमाणमी.	प्रमाणमीमांसा	(सिंधीग्रन्थमाला, कलकत्ता)
प्रमाणमी. भा.	प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पण	(सिंधीग्रन्थमाला, कलकत्ता)
प्रमाणसं.	प्रमाणसंग्रह	(अलकङ्कग्रन्थत्रय)
प्रमाणसं. स्वो.	प्रमाणसंग्रह स्वोपज्ञवृत्ति	(अलकङ्कग्रन्थत्रय)
प्रमाल.	प्रमालक्षण	
प्रमेयक.	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	(पं. महेन्द्रकुमारजी, काशी)
प्रमेयर.	प्रमेयरत्नमाला	(पं. फूलचन्दजी, काशी)
प्रवचनसा.	प्रवचनसार	(रायचन्द्रशास्त्रमाला, मुम्बई)
प्रशस्तपादभा.	प्रशस्तपादभाष्य	(चौखम्बा, काशी)
प्रकरणपं	प्रकरणपञ्जिका	(चौखम्बा, काशी)
प्रकरणपञ्जि.	प्रकरणपञ्जिका	(चौखम्बा, काशी)
प्रमाणप.	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्र., कलकत्ता)
प्र. प. /	प्रमाणपरीक्षा	(जैनसिद्धान्तप्र., कलकत्ता)
प्रमाणमं.	प्रमाणमंजरी	
प्रमाणवा.	प्रमाणवार्त्तिक	(राहुलजी सम्पादित)
प्रमाणसं.	प्रमाणसमुच्चय	(मैसूर यूनिवर्सिटी)
मनोरथन.	मनोरथनन्दिनी	(प्रमाणमीमांसा में उपयुक्त)
मी. श्लो.	मीमांसाश्लोकवार्त्तिक	(चौखम्बा, काशी)
युक्त्यनुशा. टी.	युक्त्यनुशासनटीका	(मा. ग्रन्थमाला, मुम्बई)
योगसू.	योगसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
राजवा.	राजवार्त्तिक	(जैनसिद्धान्त., कलकत्ता)
लघी.	लघीयस्त्रय	(अलकङ्कग्रन्थत्रय)

लघीय. तात्पर्य.	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	(मा. ग्रन्थमाला, मुम्बई)
लघी. स्वो. वि.	लघीयस्त्रय स्वोज्ञविवृति	(अलकङ्कग्रन्थत्रय)
लघुसर्वज्ञ.	लघुसर्वज्ञसिद्धि	(मा. ग्रन्थमाला, मुम्बई)
वाक्यप.	वाक्यपदीय	(चौखम्बा, काशी)
वैशेषिक. सूत्रोप.	वैशेषिक सूत्रोपस्कार	(चौखम्बा, काशी)
वैशेषि. उप.	वैशेषिक सूत्रोपस्कार	(चौखम्बा, काशी)
वैशे. सूत्रोप.	वैशेषिक सूत्रोपस्कार	(चौखम्बा, काशी)
वैशेषिकसू.	वैशेषिकसूत्र	(चौखम्बा, काशी)
शब्दश.	शब्दशक्तिप्रकाशिका	
शाबरभा.	शाबरभाष्य	(आनन्दाश्रम, पूना)
शास्त्रदी.	शास्त्रदीपिका	(विद्याविलास प्रेस, काशी)
षड्दर्श.	षड्दर्शनसमुच्चय	(चौखम्बा, काशी)
सर्वदर्श.	सर्वदर्शनसंग्रह	(भाण्डारकर., पूना)
सर्वार्थ.	सर्वार्थसिद्धि	(सोलापुर)
साहि. द.	साहित्यदर्पण	
सांख्य. माठरवृ.	सांख्यकारिका माठरवृत्ति	(चौखम्बा, काशी)
सिद्धिविनि. टी.	सिद्धिविनिश्चयटीका	(सरसावा)
सिद्धान्तमु.	सिद्धान्तमुक्तावली	(निर्णयसागर, मुम्बई)
सि. मु.	सिद्धान्तमुक्तावली	(निर्णयसागर, मुम्बई)
स्याद्वादर.	स्याद्वादरत्नाकर	(आर्हतप्रभाकर., पूना)
स्या. रत्ना.	स्याद्वादरत्नाकर	(आर्हतप्रभाकर., पूना)
स्वयम्भू.	स्वम्भूस्तोत्र	(प्रथमगुच्छक, काशी)
हेतुबि.	हेतुबिन्दु	(बड़ौदा संस्करण)
आ.	आरा	
का.	कारिका	
गा.	गाथा	
दे.	देहली	